स्फोट-मीमांसा

आचार्य चन्द्रभानु त्रिपाठी

शक्ति प्रकाशन
३४, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद

लेखक : डा० चन्द्रभानु त्रिपाठी

प्रथम संस्करण
प्रकाशन वर्ष : १९९७ ई०

(उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पाँच हजार रुपयों का
प्रकाशन अनुदान प्राप्त)

मूल्य :
सामान्य संस्करण : २०० (दो सौ) रुपये
ग्रन्थालय संस्करण : २२५ (दो सौ पच्चीस) रुपये

मुद्रक :
शाकुन्तल मुद्रणालय
बलरामपुर हाउस
इलाहाबाद-२११००२

॥ श्रीः ॥

प्राक्कथन

मुकुलित-कञ्जकुड्मलैरभिव्यक्तः कोणेनाङ्गुलिभिरिव ।
मूर्त इव साममन्त्रो वाणी-वीणारवो जयति ॥

गुरु-परम्परानुसार शब्द-शास्त्र के अध्ययन-काल में महाभाष्य, व्याकरण-भूषण-सार तथा वैयाकरण-सिद्धान्त-लघु-मंजूषा ग्रन्थों को पढ़ते समय, क्रम प्राप्त 'स्फोट' का प्रकरण भी अध्ययन का विषय बना था। उसे कितना व किस रूप में समझा था, आज स्मरण नहीं है, परन्तु ऐसी धारणा अवश्य बन गई थी कि 'स्फोट' पदार्थ एकान्ततः विचारणीय विषय है।

वैयाकरण सिद्धान्तों का स्वाध्याय करते हुये शब्द, अर्थ तथा उनके सम्बन्ध की नित्यता स्पष्ट होती गई साथ ही सूक्ष्म वाक्तत्त्व की जिज्ञासा बढ़ती गई। स्फोटविषयक आकर ग्रन्थ, वादग्रन्थ तथा तद्विरोधी दार्शनिकों के ग्रन्थों का अध्ययन एवं मनन करने से 'स्फोट' सिद्धान्त का जो रहस्य बुद्धिसंवेद्य हो सका, उसे भाषा का रूप देकर बीस वर्षों की कालावधि में प्रस्तुत ग्रन्थ की आकृति रची व सँवारी गई है।

जगत् प्रवाहवत् नित्य शब्द-अर्थ की प्रतिपत्ति ही इसकी सच्ची आराधना है। अतः इस प्रबन्ध में अशुद्धि, आवृत्ति तथा अस्पष्ट भावाभिव्यक्ति मेरी ही मन्दता, अल्पग्राहिता तथा अप्रतिपत्ति के कारण दृष्टिगोचर होगी। ग्रन्थ का स्वरूप परिमित हो, अतः विवेच्य वस्तु के सन्दर्भ में आये हुये अन्य विचारों का विशद विवेचन नहीं किया गया, ऐसा करने पर वर्ण्य विषय का वैशिष्ट्य कम हो जाता।

शब्दकल्पद्रुम में स्फोट के वाचक नित्यशब्द, विदारण क्रिया तथा फोड़ा—ये तीन अर्थ लिखे हैं। वैयाकरण सम्प्रदाय में प्रथम, युद्ध में द्वितीय तथा वैद्यक में तृतीय अर्थ गृहीत होता है। वैयाकरण सिद्धान्त का सर्वस्वभूत यह 'स्फोट' प्रतिपक्षी दार्शनिकों के तथा वैयाकरणों के मध्य वाग्युद्ध का विषय एवम् विरोधियों के मस्तिष्क का फोड़ा बनकर ही प्रकट हुआ है। मेरा दृढ विश्वास है कि विशद रूप से अध्ययन होने पर शब्दतत्त्व के सभी रहस्य सुस्पष्ट होंगे

आचार्य डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र (भूत पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष एवं कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) ने इस ग्रंथ की रचना में मार्गदर्शन करने की कृपा की है। उनको सादर प्रणाम करता हूँ। पण्डितराज कालीप्रसाद मिश्र (भूतपूर्व प्राचार्य, प्राच्य भाषा विभाग हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी) ने अनेक गम्भीर स्थलों पर मूल पङ्क्तियों के अर्थ को हृदयङ्गम कराया तथा डॉ० सूर्यकान्त (भूतपूर्व संस्कृतविभागाध्यक्ष हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी) ने संवीक्षा कर इसे गौरव प्रदान किया, तदर्थ इन दोनों महामनीषियों का प्रणति पूर्वक स्मरण करना मेरा कर्त्तव्य है।

डॉ० सिद्धनाथ शुक्ल (भूतपूर्व शोधार्थी संस्कृत-प्रगति केन्द्र पूना विश्वविद्यालय तथा प्रवक्ता इलाहाबाद विश्वविद्यालय) ने शब्द शास्त्र विषयक अनेक प्राचीन तथा आधुनिक ग्रंथ उपलब्ध कराये। वाराणसेय सरस्वती भवन पुस्तकालय, गोयनका संस्कृत महाविद्यालय के विश्वनाथ पुस्तकालय तथा प्रयागस्थ गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ पुस्तकालय के अधिकारियों ने मूल ग्रन्थों को प्रदान कर अध्ययन में योगदान किया। सुहृदवर डॉ० रामलखन शर्मा तथा रामहित त्रिपाठी ने ग्रन्थ का आकार सँवारने में सहयोग किया। प्रो० यस० पी० दीक्षित (हिन्दी विभागाध्यक्ष लखनऊ विश्वविद्यालय) ने इस ग्रन्थ की समीक्षा कर मुझे सम्मानित किया। तदर्थ ये सभी महानुभाव धन्यवाद तथा साधुवाद के पात्र हैं।

श्रीयुत श्यामलाल केसरवानी आई. ए. एस., श्रीयुत जगन्नाथ सिंह आई. ए. एस. ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में राजकीय सहयोग प्रदान किया एवं श्रीयुत कन्हैयालाल त्रिपाठी पी. सी. यस. इसके शीघ्र प्रकाशन के प्रेरक बने। एतदर्थ इन महानुभावों का आभार मानता हूँ। शाकुन्तल मुद्रणालय के व्यवस्थापक श्री उपेन्द्रनाथ त्रिपाठी ने बड़े परिश्रम व लगन से ग्रन्थ को विशुद्ध रूप से मुद्रित किया। इसे उनका विशेष अनुग्रह समझकर उन्हे आशीर्वाद देता हूँ। सावधानी बरतने पर भी जहाँ कहीं त्रुटियों के दृष्टिगोचर होने पर सुधी पाठक उन पर ध्यान न दें तथा इसमें प्रतिपादित विषय वस्तु का अध्ययन कर मुझे अनुगृहीत करें।

रक्षाबन्धन श्रावणी पूर्णिमा
१५ अगस्त १९८७

चन्द्रभानु त्रिपाठी

॥ श्रीः ॥

समर्पण

यया विना नैव करोति किञ्चित्
न वेत्ति नापीच्छति संविदीशः।
तस्यै परस्यै जगतां जनन्यै
नमः शिवायै शिववल्लभायै ॥

भगवती वागीश्वरी दुर्गा देवी के चरण-कमलों में
नित्य शब्द-पुष्पमयी माला
स्फोट मीमांसा
का
सादर समर्पण

ब्रह्मश्रीर्वर्णमात्रा तदनु पदमयी वाक्यभावम् प्रपन्ना,
पश्यन्ती निर्विकल्पाऽनवकलितभिदा मध्यमामूर्तिमाप्ता,
वागर्थौ व्याप्नुवन्ती गुरुबुधकविभिर्वैखरी गीयमाना,
ज्योतिः स्फोट स्वरूपा स्फुरतु मनसि मे शारदा सा पराख्या।

—चन्द्रभानु त्रिपाठी

संकेत सूची

संकेत	पूर्ण नाम
अष्टा॰	अष्टाध्यायी
उ॰ रा॰ च॰	उत्तररामचरितम्
ऐत॰	ऐतरेयोपनिषद्
कठ उ॰	कठोपनिषद्
केन उ॰	केनोपनिषद्
गोपथ॰	गोपथ ब्राह्मण
च॰ सं॰	चरक संहिता
छा॰ उ॰	छान्दोग्योपनिषद्
त॰ बि॰	तत्त्वबिन्दु
त॰ वा॰	तन्त्रवार्तिक
तै॰ उप॰	तैत्तिरीयोपनिषद्
दु॰ स॰	दुर्गा सप्तशती
न्या॰ मं॰	न्याय मंजरी
न्याय॰ सि॰ मु॰	न्याय सिद्धान्त मुक्तावली
न्या॰ सू॰ भा॰	न्याय सूत्र भाष्य
पा॰ यो॰ द॰ तत्त्व॰	पतंजल योग दर्शन (तत्त्व वैशारदी)
प्र॰ हृ॰	प्रत्यभिज्ञा हृदय
प्र॰ सा॰	प्रपंच सार
पा शि॰	पाणिनीय शिक्षा
बा रा॰	बाल्मीकीय रामायण
बृ॰ उ॰	बृहदारण्यकोपनिषद्
म॰ भारत	महाभारत
म॰ भा॰	महाभाष्य
माण्डूक्य॰	माण्डूक्योपनिषद्
मा॰ धा॰ वृ॰ भू॰	माधवीयधातुवृत्ति-भूमिका
मी॰ सू॰ भा॰	मीमांसा सूत्र भाष्य
मुण्डक॰	मुण्डकोपनिषद्
मैत्रा॰	मैत्रायणी उपनिषद्
वाक्य॰	वाक्यपदीयम्

यो० हृ०	—	योगिनीहृदय
रघु०	—	रघुवंश
ल० श० शे०	—	लघुशब्देन्दुशेखर
वे० सू० भा०	—	वेदान्त सूत्र भाष्य
वै० भू० सा०	—	वैयाकरण भूषण सार
वै० सि० कौ०	—	वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
मंजूषा०	—	वैयाकरण सिद्धान्त लघु मंजुषा
वै० सू० भा०	—	वैशेषिक सूत्र भाष्य
प्र० पा० भा०	—	प्रशस्तपाद भाष्य
शु० य० प्रा०	—	शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य
श्लो० वा०	—	श्लोक वार्तिक
सा० पं०	—	साम्ब पंचाशिका
स० द० सं०	—	सर्व दर्शन संग्रह
स्फो० चं०	—	स्फोट चन्द्रिका
स्फो० त० नि०	—	स्फोट तत्त्व निरूपण
स्फो० त० वि०	—	स्फोटतत्त्व न्याय-विचार
स्फो० वा०	—	स्फोटवाद
स्फो० सि०	—	स्फोट सिद्धि (मंडन मिश्र तथा भरत मिश्र)
सां० सू० भा०	—	सांख्य सूत्र भाष्य

विषयानुक्रम

प्रथम परिच्छेद

●

शब्द का स्वरूप

ब्रह्म विचार

विद्या की अधिष्ठात्री सरस्वती देवी की वन्दना में भगवान् शंकराचार्य ने उनका विशेषण लिखा है **'ब्रह्म विचार सार परमा'** इससे यह ध्वनित होता है कि सम्पूर्ण विद्याओं का एकमात्र विचार-विषय ब्रह्म ही है। उसकी मान्यता तथा सम्प्राप्ति ही समस्त आस्तिक दर्शनों का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय है। तत्त्वान्वेषी ऋषि-मुनि-जन ने इस दृश्य जगत् का मूल कारण जानने का यथाशक्ति प्रयत्न किया तथा अपने बुद्धि-बल एवं साधना-संबल से इतनी गहराई तक पहुँचे कि आजकल के साधक केवल उनके अनुभवों को पढ लिखकर ही दार्शनिक का पद प्राप्त कर लेते हैं उस मूल तत्त्व को विभिन्न दार्शनिकों ने ब्रह्म, पुरुष शिव शक्ति विष्णु

आदि नामों से सम्बोधित किया है।[1] सभी आस्तिक विचारकों ने नाम-रूपात्मक जगत् का मूल नाम-रूपातीत, अवाङ्मनसगोचर बुद्धिमात्रगम्य एक परमतत्त्व स्वीकार किया है, उसी को ब्रह्म कहते हैं।

ब्रह्म के दो स्वरूप हैं—पर एवम् अपर। उसकी प्राप्ति की विद्यायें भी दो मानी गई हैं—परा, अपरा। सम्पूर्ण वेद-वेदांग को अपरा विद्या कहा गया है। मुण्डकोपनिषद् में इस प्रकार उल्लेख है—'ब्रह्मवादियों के कथनानुसार दो विद्यायें जाननी चाहिये—परा, अपरा। अपरा के अन्तर्गत वेद, वेदांग आते हैं तथा परा विद्या वह है जिसके द्वारा उस अक्षर (पर) ब्रह्म की प्राप्ति होती है[2]। छान्दोग्योपनिषद् में भी इसी प्रकार का उल्लेख हुआ है।

शब्दब्रह्म विचार

आत्म-ब्रह्मैक्य प्रतिपादन के प्रसंग में पूर्वपक्ष में केनोपनिषद् में उपास्य तथा उपासक का अन्तर निरूपण करते हुए कहा गया है कि आत्मा (जीव) कर्म, उपासना आदि साधनों के द्वारा ब्रह्म (परमात्मा) की प्राप्ति करना चाहता है। अतः उपासक के अतिरिक्त दूसरा उपास्य (ब्रह्म, विष्णु इन्द्र आदि) होना चाहिए[3]।

तार्किक भी जीवात्मा के ज्ञान के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति मानते हैं। मीमांसक **'अमुं यज, अमुं यज'** (इस इस देवता के निमित्त याग करो) कहते हुए आराधक (याजक) से भिन्न आराध्य स्वीकार करते हैं। अतः जो उपास्य है वह ब्रह्म, उससे भिन्न उपासक है। तब दोनों का ऐक्य कैसे होगा, इस सन्देह में सिद्धान्त बताया गया है—

यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥[4]

इसका अर्थ है—जो चैतन्यमात्र स्वरूप, क्रमरहित शब्दतत्त्व है तथा वर्ण-पद-

---

१. वेदान्ती, सांख्य, शैव, शाक्त, वैष्णव, मन्त्रद्रष्टा महर्षि, नैयायिक, जैन, बौद्ध (यं शैवा: ...., यं ब्रह्म .... श्लोकों में)।

२. मुण्डक १।१।४

३. केन उ० १।३

४. ,, १।५

वाक्य रूप क्रमवती वाणी (वैखरी) द्वारा नहीं कहा जा सकता है, वह ब्रह्म है।

कठोपनिषद् में ब्रह्म जिज्ञासु नचिकेता को उस (ब्रह्म) का उपदेश करते हुए यमराज ने कहा —

सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।[1]

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म[2], **तदेतदक्षरं ब्रह्म**[3], **ओमित्येकाक्षरमिदं सर्वं तस्योपाख्यानम्**[4] इत्यादि श्रुतियों में अक्षर (शब्द) को ब्रह्म माना गया है।

अन्यत्र शब्दब्रह्म ज्ञान को परब्रह्म ज्ञान का साधन भी माना गया है —

द्वे विद्ये वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्,
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति[5]।

महावैयाकरण भर्तृहरि ने शब्दतत्त्व को ब्रह्म मानकर उसे भी आदि-अन्त रहित, अक्षर कहा है तथा समस्त प्रपंच को उसका विवर्त (अविद्या के कारण अन्यथा घट-पटादिरूपेण आभास) बताया है।[6] आगे उन्होंने ही स्वोपज्ञ टीका में लिखा है—

ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्ति निबन्धनम्।
विवृत्तं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते॥[7]

यह जगत् शब्द रूप है, शब्द की शक्ति ही इसकी परिचायिका है। (इससे समस्त विश्वमय अर्थ की प्रवृत्ति-निवृत्ति के विभाग शब्द से ही किये जाते है, यह स्पष्ट होता है, क्योंकि अर्थ की स्थिति प्रवृत्ति, निवृत्ति में ही होती है यदि यह ब्रह्म शब्दात्मक न होता तो शब्द द्वारा इसका बोध न होता) तथा यह जगत् शब्दरूप ब्रह्म की मात्राओं (सूक्ष्म शक्तियों) में अभिव्यक्त हुआ है और प्रलय के अवसर में स्वोपादान कारणीभूत उन्हीं सूक्ष्म शक्तियों में विलीन हो जाता है।

---

१ कठ० उ० १।२।१५
२. ब्रह्मविद्योपनिषद्
३ मु० उ० २।२।२
४ माण्डूक्य १
५. ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
६. वाक्य० १।१
७ वाक्य, १।१ स्वोपज्ञ टी० पृ० १०

'**वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे, वागेवेदं बुभुजे**' इस श्रुति से यह प्रकट होता है कि विश्व का उत्पादन, पालन तथा संहार करने वाली शक्ति वाक् (वाणी) है। इसी प्रकार '**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति**' श्रुति ब्रह्म का जगत्कर्तृत्व, पालकत्व तथा संहारकत्व प्रतिपादन करती है। इन दोनों श्रुतियों को मिलाकर समझने से वाक्, ब्रह्म का ऐक्य स्वयं सिद्ध होता है। इसलिए कहा गया है '**वाग् वै ब्रह्म**' सर्व दर्शन संग्रह में स्वामी शंकरचैतन्य भारती ने इसका समर्थन किया है। मन्त्र-नित्यत्वपरक सभी प्रमाण शब्दब्रह्म के समर्थक हैं। मार्कण्डेय-पुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशती में देवी को भी '**शब्दात्मिका**' कहा गया है।[1]

महाभाष्यकार द्वारा शब्दब्रह्म का समर्थन

शब्दानुशासन का प्रयोजन बताते हुए महाभाष्यकार पतंजलि ने ऋग्वेद का एक मन्त्र उद्धृत किया है—

चत्वारि शृंगाः त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥[2]

इसका यह अर्थ है, शब्द शास्त्र प्रतिपाद्य वृषभाकार शब्द स्वरूप महान् देव (ब्रह्म) मरणशील मनुष्यों के अन्तःकरण में प्रविष्ट है, इसके नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात रूपी चार सींगें हैं, भूत भविष्यत्, वर्तमान ये तीन काल ही तीन पैर हैं, दो (नित्य=अन्तर, कार्य=बाह्य) सिर हैं तथा प्रथमा द्वितीया आदि सात विभक्तियाँ ही सात हाथ हैं, उर, कण्ठ तथा सिर में बँधा हुआ यह शब्द रूपी महादेव निरन्तर शब्द करता रहता है। ऐसे महान् देव (परब्रह्म) से सायुज्य प्राप्त करने के लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

कैयट ने '**महता देवेन**' भाष्य का '**परेण ब्रह्मणा**' अर्थ किया है।[3]

सूत संहिता में कहा गया है कि ब्रह्म के दो रूप हैं—पर तथा शब्द। दोनों ही प्रणव स्वरूप है। परब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप स्वभावतः प्रकृष्ट

---

१ दुर्गा सप्तशती ४।१०
२. म० भा० पृ० ३० में उद्धृत ऋग्वेद का मन्त्र
३. ,, प्रदीप, पृ० ११

वीन है। शब्द ब्रह्म सुनिर्मल प्रणव रूप है, क्योंकि प्रकृष्ट नव (प्रणव) के ज्ञान का हेतु है। यही अपर ब्रह्म कहा जाता है।

> परः परतरं ब्रह्म ज्ञानानन्दादि लक्षणम्।
> प्रकर्षेण नवं यस्मात् परं ब्रह्म स्वभावतः॥
> अपरः प्रणवः साक्षात् शब्दरूपः सुनिर्मलः।
> प्रकर्षेण नवत्वस्य हेतुत्वात् प्रणवः स्मृतः॥[1]

शब्दब्रह्म की शक्तियाँ

दर्शन शास्त्रों में शब्द ब्रह्म की इन पाँच शक्तियों का उल्लेख किया गया है—आरम्भ, संघात, परिणाम, विवर्त तथा आभास।[2] वस्तुतः एक अभिन्न शब्द ब्रह्म इन्हीं शक्तियों के भेद का आरोप होने से घट, पट या ऋक्, यजुः, साम रूप से विभक्त जैसा लगता है। यह भेद शक्तियों के कारण है, स्वतः ब्रह्म अभिन्न है।[3] इन शक्तियों के अतिरिक्त ब्रह्म की एक काल नामक स्वतन्त्र शक्ति है। वह भी अभिन्न है, परन्तु उसमें भी निमेष से लेकर युग-पर्यन्त छोटे-बड़े कई भेद माने गये हैं। उसी काल शक्ति के प्रभाव से निष्क्रिय होता हुआ भी ब्रह्म नानाविध कार्यकारी माना जाता है। उसी का प्रभाव समस्त कार्यों पर पड़ता है। प्राणियों के उत्पत्ति, स्थिति, परिणति, वृद्धि, ह्रास एवं विनाश ये छः विकार काल शक्ति के आश्रय से होते हैं।[4] समस्त कारण शक्तियाँ काल-शक्ति के आदेश से कार्य करती हैं। स्वयं काल-शक्ति एक होती हुई भी काल्पनिक भेदों के कारण अनेक और क्रमवती है। इसलिए कार्य भी क्रम से होता है। एक काल मे सभी कार्य नहीं होते, परन्तु अन्त में उनमें एकता का ही बोध होता है। जैसे एक पाकक्रिया में आग जलाना, बटलोई को चूल्हे में रखना, उसमे जल, चावल को क्रमशः डालना, चम्मच से चलाना, पकने पर उतार लेना आदि कई क्रमवती अवान्तर क्रियायें हैं, परन्तु पाक क्रिया एक ही है। शब्द भी एक है, उसके घट, पट, गौः इत्यादि भिन्न प्रतीत होने वाले विकार

---

१. व्याकरण दर्शन भूमिका में शब्द ब्रह्मैक्य प्रतिपादन के प्रसंग में उद्धृत
२. द फिलासफी आफ वर्ड एण्ड मीनिंग, पृ० ४६ में उद्धृत
३ „ १२
४ „ ११

ध्वनि-भेद के कारण है। इन ध्वनिगत भेदों से शब्द की एकता में कोई बाधा नहीं है। उसकी अभिव्यंजक ध्वनियाँ यद्यपि भिन्न हैं पर वे लोक-व्यवहार में एक ही शब्द तत्त्व को प्रकट करती है वे परस्पर भिन्न हैं, क्रमवती हैं तथा कालशक्ति के वश में हैं। वसन्तकाल में कोकिल की ध्वनि पञ्चम होती है। वृषस्यन्ती (मैथुन की इच्छा करने वाली) गाय की बोली दूसरी होती है तथा चारा माँगने वाली गाय की उससे भिन्न। इस प्रकार वेदों में एक, अद्वितीय कहा गया शब्द तत्त्व भिन्न शक्तियों के आश्रय से व्यवहार में भिन्न प्रतीत होता है।

जैसे काल शक्ति की सहकारिता से घट, पट आदि विकार कार्य-भेद के कारण होते हैं तथैव शब्द के अनेक घट, पटादि भेद वस्तुतः विकार है और विभिन्न भाव-भेदों के कारण हैं। यथा अनेक रूपों में भासमान ब्रह्म एक है तथैव ध्वनिकृत भेदों में भासित होता हुआ शब्द भी एक है।

शब्द-निरुक्ति

शब्द धातु चुरादि गण में पठित है, उपसर्ग पूर्वक तथा उपसर्ग रहित इस धातु के आविष्कार, भाषण (बोलना, पुकारना, चिल्लाना आदि) दो अर्थ हैं, इसकी दो व्युत्पत्तियाँ है :—

(१) **शब्द्यते—'आविष्क्रियते अर्थः अनेन'** करणार्थक ल्युट् प्रत्यय को बाध कर घञ् प्रत्यय करने से इसका अर्थ होगा 'अर्थ का प्रकाशक'।

(२) **'शब्द्यते—ध्वनिना अभिव्यज्यते'** इस विग्रह से कर्म अर्थ में घञ् प्रत्यय मानने से इसका अर्थ 'ध्वनियों के द्वारा अभिव्यक्त अर्थ रूप वाक्तत्त्व होगा।

दार्शनिकों ने एक तीसरा भी अर्थ निकाला है **'शब्द्यते—अभिव्यज्यते ब्रह्म येन सः'** परब्रह्मप्रतिपादक प्रणव (ओम्)।

महाभाष्यकार ने शब्द की परिभाषा दो प्रकार से की है—

(१) **प्रश्न—अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ?**

उत्तर—येनोच्चारितेन सास्ना····सम्प्रत्ययः भवति स शब्दः।[1]

१ म० भा० पृ० ८

(गौः इस पद में शब्द-वाच्य कौन सा पदार्थ है ? इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि बोले गये जिस पद से विश्व भर के उन सभी प्राणियों का बोध हो जिनके सास्ना (गले में लटकता हुआ चमड़ा), पूँछ, ककुद (डिल्ल) खुर तथा सींग हों वही शब्द है।) इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस एक पद से जाति, आकृति, क्रिया, द्रव्य विशिष्ट समस्त प्राणियों का बोध हो वह नित्य कूटस्थ होगा तथा उससे और उन प्राणियों से अनादि सम्बन्ध भी होगा।

(२) **अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद् यथा शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते तस्माद्ध्वनिः शब्दः।**[1] (अथवा व्यवहार में जिस ध्वनि से बोध होता है, उसे भी शब्द कहा जाता है जैसे शब्द करो, मत बोलो, यह ब्रह्मचारी बहुत चिल्लाता है, ऐसा बोलने या न बोलने के लिए कहा जाता है।)

आगे **'चत्वारि शृंगाः**[2]**'** ऋचा की व्याख्या में **द्वे शीर्षे** का अर्थ भाष्यकार ने किया है—**नित्यः, कार्यश्च** अर्थात् शब्द-स्वरूप बैल के दो सिर है—नित्य, कार्य। इनका तात्पर्य क्रमशः आध्यात्मिक, व्यावहारिक शब्द से है। शब्द को नित्य मानने वाले दार्शनिक समस्त वैखरी जाल (व्यावहारिक शब्द) को आध्यात्मिक शब्द (शब्द ब्रह्म) का अन्यथाभास मानते है। उनके मत में जैसे ब्रह्म एक, नित्य, अनादि, अव्यय है, वह स्वयं माया (इच्छाशक्ति) से संवलित होकर अनेक रूपों में अपनी अभिव्यक्ति करता है, अनादि वासनावश प्राणी उन सब को घट, पट, पशु-पक्षी इत्यादि रूपों में जानते हैं तथैव शब्द भी नित्य, एक, कूटस्थ तथा स्वयंप्रकाशरूप है, वह अर्थबोध रूप इच्छा से संयुक्त होकर घट, पट इत्यादि ध्वनि रूप मे अभिव्यक्त होता है तथा अपना, अपने अर्थ का बोध कराता है। अनादि व्यवहार के कारण मनुष्य क्रमान्वित घ, ट तथा प, ट वर्णों के समूह से घड़ा कपड़ा अर्थों का बोध करते हैं।

महर्षि पाणिनि ने भी नित्य, कार्य दो अर्थों में शब्द का प्रयोग किया है। नित्यार्थक शब्द का प्रयोग **स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा**[3] सूत्र में किया

---

१. मा० भा० पृ० १४

२ मा० भा० पृ० ३०

३ पी १ १ ६८

गया है, इसी से अर्थ-प्रतीति होती है। नियमतः शब्द के उच्चारण में अर्थ-बोध होने से दोनों का सम्बन्ध भी नित्य होता है। अतएव अग्नि शब्द से जो व्याकरण कार्य तद्धित प्रत्यय ढक् (**अग्नेर्ढक्** सूत्र[1] द्वारा) होता है वह तदर्थक अंगार आदि से न हो इसलिए इस सूत्र का विधान आवश्यक है।

ध्वनि के अर्थ में शब्द का प्रयोग **'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्द-कर्म[2]' 'शब्दवैर[3]','-शब्द-दर्दुरं करोति[4]'**, इत्यादि सूत्रों में हुआ है; हरिम् वेदम् अपाठयत्, शब्दायते, शाब्दिकः, ये क्रमशः उदाहरण है, इनमें 'शब्द करना' या 'शब्द-साधन करने वाला' यह अर्थ निकलता हैं। इन्हीं नित्य, कार्य शब्दों का नाम क्रमशः स्फोट, ध्वनि है, इसका विवेचन आगे किया जायगा।

शब्द ही व्यवहार का मुख्य हेतु

शब्द ही संसार के समस्त प्राणियों के व्यवहार का मुख्य हेतु है। इसी के द्वारा समाज में विधान, निषेध के नियमों का प्रचार होता है। उन्हें समझकर सभी जन क्या ग्राह्य है और क्या त्याज्य है, इसका विवेक करके उचित को ग्रहण करते तथा अनुचित को त्याग देते हैं। शब्द-प्रकाश के अभाव में धर्म-अधर्म की व्यवस्था, गुरु-शिष्य की उपदेश-परम्परा, स्वार्थबोध तथा परार्थ-प्रतिपादन-प्रवृत्ति यह सब कुछ न हो सकता। समस्त विश्व जन्मान्ध जैसा व्यवहारशून्य बैठा रह जाता। जैसा कि कहा गया है—

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥[5]

व्याकरण को शब्द-विद्या कहा जाता है। इसमें प्रयोगार्ह पदों का अन्वाख्यान कर उन्हें संस्कृत करने के नियम निर्दिष्ट रहते हैं। व्याकरण शब्द-निर्माण नहीं करता, शब्द तो वक्ता के ध्वनि-यन्त्रों के माध्यम से श्रोता

---

१. अष्टाध्यायी ४।२।३३
२. ,, १।४।५२
३. ,, ३।१।१७
४. ,, ४।४।३४
५. काव्यादर्श १-४

को अर्थ का बोध कराने के लिए उच्चरित होते हैं। व्यवहार का विषय होने से एक, अभिन्न शब्द में समाज, देश तथा काल के अनुसार बाह्य परिवर्तन भी होते रहते हैं। जैसा कि भर्तृहरि ने माना है—

परम्परा से जब वक्ता के बोलने की शक्ति का ह्रास होने लगता है तो संस्कृत शब्दों का अपभ्रष्ट रूप होना प्रारम्भ हो जाता है, जैसे घट से घड़ा गृह से घर, पिता से पापा, बप्पा आदि अपभ्रंश बन गये शब्द देखे जाते हैं। परन्तु अर्थ-बोध में कोई अन्तर नहीं आता। जो अर्थ (जल लाने के या अन्न भरने के कार्य का निर्वाहक पदार्थ) घट का है वही घड़ा का।[1] इससे भी सिद्ध होता है कि व्यावहारिक दशा में शब्द की केवल बाह्याकृति में परिवर्तन या परिवर्धन होता है, आन्तर नित्य अर्थ से अभिन्न शब्द तो एक ही है।

शब्दनित्यतावादी दार्शनिक

(१) मीमांसक तथा वेदान्ती शब्द को नित्य तथा विभु मानते है, साथ ही ये पद, वाक्य को अनित्य कहते हैं। अर्थबोध के लिए मीमांसक पूर्वपूर्ववर्ण-संस्कार सहित अन्तिम वर्ण को अर्थ का बोधक मानते हैं तथा वेदान्ती क्रम-विशिष्ट, एकबुद्ध्यारूढ़ वर्णों को ही वाचक कहते है। मीमांसाचार्य जैमिनि ने '**औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः**'[2] सूत्र द्वारा शब्द-अर्थ-सम्बन्ध औत्पत्तिक (नित्य) माना है शब्द के साथ अर्थ नियमतः जुड़ा रहता है। श्लोक वार्तिककार ने भी शब्द-नित्यत्व की स्थापना करते हुए कहा है—**तावत्कालं स्थिरं चैनं कः पश्चान्नाशयिष्यति।**[3]

अद्वैत वेदान्त के संस्थापक आदि शंकराचार्य ने '**शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्**'[4] सूत्र के भाष्य में कहा है **वर्ण नित्य हैं वे उच्चरित-प्रध्वंसी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि सोऽयं गकारः यह प्रतीति होती है।** यह प्रतीति जातिविषयक नहीं कही जा सकती, क्योंकि गौः उच्चारण से गौ व्यक्ति की ही प्रतीति होती है, जाति की नहीं। मीमांसक भी वर्ण व्यक्ति को ही मानते हैं, जाति को नहीं।

---

१. वाक्य १-१५३
२. मीमांसा सूत्र १।१५
३ श्लोक वा० ३६६
४ वेदान्त सूत्र २८

(२) **वैयाकरण**—इनका शब्द-विज्ञान अधिक व्यवस्थित तथा समुन्नत है। इन्होंने शब्द-अर्थ तथा दोनों का सम्बन्ध, सबको नित्य माना है।

शब्द तथा अर्थ के नित्य-सम्बन्ध के प्रमाण—

आचार्य भर्तृहरि ने मुनित्रय के विचार का उल्लेख इस प्रकार किया है—

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाताः महर्षिभिः,
सूत्राणां सानुतंत्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः।

सूत्रकार पाणिनि, अनुतन्त्र (वार्तिक) कार कात्यायन तथा भाष्यकार पतंजलि ने व्याकरण शास्त्र में शब्द, अर्थ तथा उनके सम्बन्ध को नित्य माना है।[1] महर्षि पाणिनि ने नाम निर्देशपूर्वक शब्दों को नित्य नहीं कहा परन्तु उनके कतिपय सूत्र ऐसे है, जिनसे शब्दों का नित्यत्व ध्वनित होता है, यथा —

(१) **पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्**[2] इस सूत्र के द्वारा उन्होंने पूर्वाचार्यों द्वारा उपदिष्ट तथा सम्मत पृषोदर, सिंह, हंस, गूढोत्मा आदि पदों को साधु माना है। यद्यपि उनके नियमों से ये प्रयोग सिद्ध नहीं होते, क्योंकि पृषत्+उदरम् में त् लोप, हंस में (हन्+अच्) सक् का आगम, सिंह में (हिंस+अच्) ह तथा स वर्णों के पूर्वापर स्थान-परिवर्तन का विधान किसी सूत्र द्वारा नहीं किया गया। इसी प्रकार **'पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्** (६।१।१५७)' इत्यादि निपातन के अनेक सूत्र हैं।

(२) **तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्**[3] सूत्र द्वारा **'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने'** (१।२।५१) सूत्र का स्वयं महर्षि ने प्रत्याख्यान करते हुए लिंग, वचन के नियम-ज्ञान में लोक-व्यवहार को ही प्रमाण माना है।

इससे सिद्ध होता है कि व्याकरण की रचना के पूर्व भी साधुत्व की व्यवस्था थी। वह व्यवस्था शब्दों को नित्य मानने पर ही उपपन्न हो सकती है। उन्हें अनित्य मान लेने पर स्वकल्पित शब्दों के द्वारा भी व्यवहार की सिद्धि हो जाने से सूत्रकार की साधुत्व व्यवस्था अप्रामाणिक हो जायगी।

---

१. वाक्य० १।२३
२. अष्टाध्यायी ६।३।१०९
३. " १।२।५३

इसीलिए महर्षि ने 'उणादयो बहुलम्'[1] कह कर ७५९ उणादि सूत्रों तथा इनके द्वारा साधुत्व-प्राप्त प्रयोगों को मान्यता दी, अनेक आचार्यों के मतों को उद्धृत किया, फिट् सूत्रों को प्रमाण माना। विद्वानों ने शब्दसाधुत्वविषयक इन नियमों को गौण मानकर व्याकरण का मुख्य प्रयोजन स्वर-निर्धारण माना है, क्योंकि स्वयं सूत्रकार ने ही 'तृजकाभ्यां कर्तरि'[2] सूत्र से 'कर्ता अर्थ के तृच् तथा अक प्रत्ययान्त शब्दों के साथ षष्ठी समास नहीं होता है,' ऐसा निषेध करते हुए भी स्वयं 'जनिकर्तुः प्रकृतिः[3]' तथा 'तत्प्रयोजको हेतुश्च'[4] दो सूत्रो में क्रमशः तृच्, अक प्रत्ययान्त कर्ता, प्रयोजक के साथ षष्ठी-समास किया है। अतः महोपाध्याय वर्धमान ने कहा है—

> लौकिक-व्यवहारेषु यथेष्टं चेष्टतां जनः,
> वैदिकेषु तु मार्गेषु विशेषोक्तिः प्रवर्तताम्।
> इति पाणिनिसूत्राणामर्थवत्त्वमसौ यतः,
> जनिकर्तुरिति ब्रूते तत्प्रयोजक इत्यपि[5]।

व्याकरण में शिष्टों की मान्यता

पृषोदरादि सूत्र में कैयट ने साध्वसाधुत्व-व्यवस्था की स्थापना में शिष्टों को ही प्रमाण माना है, उनका कथन है—

> आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम्
> अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते।
> अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा
> ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥

(अविद्या के विनाश, योगाभ्यास के द्वारा जिनके हृदय में सम्पूर्ण विषयों के ज्ञान का प्रत्यक्ष आविर्भाव हो गया है, जिनका अन्तःकरण सदाचार के अनुष्ठान से शुद्ध हो चुका है, ऐसे महर्षियों का ज्ञान साधारण मनुष्यों के विद्यमान-वस्तु विषयक प्रत्यक्षज्ञान से अलग नहीं है। जो अपने दिव्य चक्षुओं से साधारण जन द्वारा बाह्य इन्द्रियों से अग्राह्य, मन से भी

---

१. अष्टाध्यायी ३।३।१
२. ,, २।२।१५
३. ,, १।४।३०
४ , १।४।५५
५ ग०र०म० पृ० ५७९

अननुभाव्य पदार्थों का प्रत्यक्ष करते हैं, उनके ज्ञान (शब्द प्रयोग) को अनुमान द्वारा बाधित नहीं किया जा सकता ।[1])

वार्तिककार ने **सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमो यथा लौकिकवैदिकेषु**[2] तथा 'सिद्धन्तु नित्यशब्दत्वात्' वार्तिकों द्वारा स्पष्ट ही शब्द, अर्थ की नित्यता मानी है। यह नित्यता लोक-व्यवहार से ही सिद्ध है। अनित्य वस्तुओं के निर्माण के लिए प्रयत्न किया जाता है, जैसे कोई व्यक्ति कुम्हार के पास जाकर कहे—'मेरे लिए एक घड़ा बना दो, मैं इसमें पानी भरूँगा' वैसे ही कोई वैयाकरण के पास जाकर शब्द-निर्माण के लिए नहीं कहता। व्याकरण शास्त्र के द्वारा तो शब्द साधुत्व की व्यवस्था की जाती है। यज्ञ में ऐसे साधु शब्दों के प्रयोग से अधिक धर्म होता है, जैसे लोक, वेद में कर्तव्याकर्तव्य के लिए नियम हैं तथैव शास्त्र में भी संस्कृत, असंस्कृत शब्दों के नियमों का उल्लेख है। 'अर्थबोध जैसे घट से होगा वैसे ही घड़े से। शास्त्र नियम करता है कि शुद्ध शब्दों से अर्थबोध करने में धर्म होता है, अशुद्ध से अधर्म। इस वार्तिक के भाष्य में शब्द प्रयोग का विशाल क्षेत्र तथा शब्दार्थ सम्बन्ध में नियत देशविशेष का प्रभाव बड़े ही रोचक ढंग से बताया गया है तथा अन्त में भाष्यकार ने कहा है कि जैसे वेद से यज्ञ आदि का विधान जानकर अनुष्ठान करने से अधिक अभ्युदय होता है तथैव प्रकृति-प्रत्ययविभाग पूर्वक शब्दज्ञान के साथ ही उनका प्रयोग करने से अधिक धर्म होता है।[3]

शब्द का नित्यत्व भाष्यकार ने सिद्धान्त रूप से माना है। कार्य शब्द का उल्लेख ध्वनि तात्पर्यक है। उन्होंने अपने कथन में यह भी बताया है कि इसके पहले परम वैयाकरण व्याडि ने शब्द के नित्यत्व, अनित्यत्व की समीक्षा की है तथा नित्यत्व का समर्थन किया है। **संग्रहे तावत् कार्यप्रति-द्वन्द्विभावान् मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति**।[4]

भाष्यकार ने '**आद्यन्तौ टकितौ** (१-१-४६), '**स्थानिवदादेशोऽनल्-विधौ**' (१-१-५६) में शब्द-नित्यत्व का सिद्धान्त स्वीकार कर ही आगम,

---

१. म० भा० (प्रदीप) ६।३।१०९ मा० भा० द्वि० खं०, पृ० ८८४
२. ,, १।१।१ (पृ० ४७-५१)
३. मा० भा० पृ० १।१।१ पृ० ४७-५१
४. ,, ,, पृ० ९८

स्थान्यादेश भाव जैसे नियमों की चरितार्थता की है। **आद्यन्तौ टकितौ में** भाष्यकार ने कहा है—क्या यह उचित है कि शब्दों को नित्य मानते हुए भी उनका आगम किया जाय, क्योंकि नित्य शब्दों के अन्तर्गत वर्णों को एक रूप, अचल एवं नाश, वृद्धि तथा विकार से रहित होना चाहिए, आगम तो नये शब्द की वृद्धि है। उस भाष्य का यह भावार्थ है—

शंका—क्या यह युक्त है कि शब्दों को नित्य मानते हुए आदेश किये जायँ ?

उत्तर—आदेश विधान तो इस तरह उचित है कि जो अर्थ एक शब्द से प्रतीत होता है, उसी को दूसरे से मानकर पूर्व शब्द के प्रयोग में परिवर्तन कर दिया जाय।

सिद्धान्त—तो आगम भी आदेश मान लिए जायेंगे, आगम रहित का प्रयोग न कर आगत सहित का प्रयोग किया जायगा।

अथवा आचार्य पाणिनि ने आनुपूर्वीविशिष्ट का ही उपदेश किया है। धातु, प्रत्यय-विशिष्ट धातु, पुनः आगमसहित प्रत्यय-विशिष्ट-धातु, ये कल्पित होने पर भी, रेखांकित नील गाय जैसे जंगली नील गाय का परिचय कराती है, तथैव ये भी बोधक प्रयोग के परिचायक होते हैं। इससे शब्द-नित्यता अक्षत रहती है।

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (१-१-५६) में भाष्यकार ने शब्द-नित्यत्व मानकर शंका की है—**'अनुपपन्नं स्थान्यादेशत्वम्', नित्यत्वात्। स्थानीयः, आदेशः इति नित्येषु शब्देषु नोपपद्यते। किं कारणम् ? नित्यत्वात् स्थानी हि नाम भूत्वा यो न भवति। आदेशो हि नाम यो भूत्वा भवति। तच्च नित्येषु नोपपद्यते यत्सतो नाम विनाशः स्यात् असतो वा प्रादुर्भावः।**

फिर स्वयं इन्होंने ही इसका उत्तर दो प्रकार से दिया है—

(१) स्थानीय शब्द अभूतपूर्व अर्थ में भी होता है। यह लोक तथा वेद दोनों में व्यवहार से सिद्ध है। जैसे लोक व्यवहार में उपाध्याय के स्थान पर शिष्य यजमान के घर में यज्ञानुष्ठान कराता है, वहाँ उपाध्याय रहकर नहीं हटता इसी प्रकार वेद में सोमलता के न मिलने पर पुतीक तृणों को निचोड़ कर सोमरस बनाने का विधान कहा गया है। वहाँ सोमलता लाकर नहीं हटाई जाती। यह कहने का एक ढंग है।

(२) भूतपूर्व अर्थ मे स्थान शब्द का प्रयोग मानने पर भी भाष्यकार यह समाधान किया है—**कार्यविपरिणामाद्वा सिद्धम्**।

भूतपूर्व अर्थ में स्थान शब्द का प्रयोग बुद्धि से होता है। जैसे किसी किसी से कहा कि गाँव से पूर्व आम के वृक्ष हैं। वह सब को आम समझने गता है, फिर वह कहता है जो दूध वाले, झुकी शाखाओं वाले तथा चौडे त्तों वाले हैं वे वटवृक्ष हैं तब वह आम के ज्ञान को हटाकर वट का ज्ञान रता है और बुद्धि से आम्रवृक्षों को हटते हुए तथा वटों को सन्निहित होते ए देखता है। यद्यपि आम तथा वट वृक्ष अपने-अपने स्थानों पर स्थित हैं। वल बुद्धि से ही आने-जाने का भाव होता है, वैसे ही जब वक्ता 'अस्' तु का उपदेश करता है तब श्रोता अस् धातु का विचार करने लगता है। दनन्तर '**अस्तेर्भूः**' कथन से वही श्रोता अस् का विचार त्याग कर भू का ध करने लग जाता है। वह देखता है कि मेरी बुद्धि से 'अस्' धातु हट ही है तथा 'भू' का अनुभव हो रहा है। 'अस्' तथा 'भू' अपने स्थान मे थत हैं, केवल बुद्धि का परिवर्तन ही स्थान्यादेशभाव का निर्वाहक है।[1]

दान्ती, मीमांसक द्वारा शब्द नित्यत्व का समर्थन

शब्द के नित्यत्व का समर्थन वेदान्ती, मीमांसक भी करते हैं। वेदान्त त्र '**शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्**'[2] में शंकराचार्य ने हा है—वर्ण नित्य है, ये उच्चरित प्रध्वंसी नहीं कहे जा सकते क्योंकि सोऽयं गकारः' यह प्रतीति होती है। यह प्रत्यभिज्ञा आकृति (जाति) निमित्तक नहीं कही जा सकती, क्योंकि गौः उच्चारण में भी व्यक्ति की ही प्रतीति ती है। मीमांसाचार्य जैमिनि भी 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबंधः'[3] सूत्र रा शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता सिद्ध करते हैं। शब्द की अनित्यता में ह सम्बन्ध कैसे नित्य हो सकता है। कुमारिल भट्ट ने शब्द-नित्यता ी स्थापना करते हुए कहा है 'तावत्कालं स्थिरं चैनं कः पश्चान्नाशयिष्यति' (श्लोक २६६) ये भी वेदान्तियों की तरह वर्ण व्यक्ति को मानते हैं, ाति को नहीं। मीमांसक वर्णों की नित्यता के साथ ही उन्हें व्यापक भी ानते हैं।

---

1. म० भा० १।१।५६
2. वे० सू० २८
3. मीमांसा सू० १।१।५

पातंजलयोगमत

पातंजलयोगमत के '**तस्य वाचकः प्रणवः**'[1] सूत्र के पातंजल-योग-दर्शन-भाष्य में भी कहा है—**सम्प्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थ सम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते**। ईश्वर वाच्य है तथा 'ओम्' उसका वाचक है। इसकी सिद्धि के लिए उक्त सूत्र के भाष्य में निम्नलिखित प्रश्नोत्तर किया गया है। प्रश्न—क्या यह वाच्यवाचक भाव संकेत द्वारा होता है अथवा प्रदीप के प्रकाश की तरह निश्चित हैं।

> उत्तर— वाच्य का वाचक के साथ सम्बन्ध निश्चित है। ईश्वर का संकेत इसी निश्चित अर्थ का बोध कराता है, जैसे पिता, पुत्र का सम्बन्ध संकेत द्वारा द्योतित होता है, ये इसके पिता हैं तथा यह इनका पुत्र है।

प्रलयकाल के बाद दूसरे सर्गों में भी वाच्य-वाचक-शक्ति के आधार पर उसी तरह संकेत कर दिया जाता है। ज्ञान के नित्य होने से शब्दार्थ-सम्बन्ध भी नित्य होता है, ऐसा आगमवेत्ता मानते हैं।

वाचस्पति मिश्र ने **तत्ववैशारदी** में कहा है—'सभी शब्द सभी अर्थों के बोध कराने में समर्थ हैं, अतः इन शब्दों का सर्वविध अर्थों से स्वाभाविक सम्बन्ध पूर्वनिश्चित है। ईश्वर संकेत तो उस अर्थ का प्रकाशक एवं नियामक है।'

आलंकारिक वैयाकरणों के परम अनुयायी हैं। वे इन्हें **प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः**' कहकर अपने को उनके मत (शब्द नित्यता, अभि-व्यक्तिवाद तथा स्फोटवाद) का अनुयायी मानते हैं।

शैवागम तथा अन्य तन्त्रों का मत

शैवागम तथा अन्य तन्त्रों में शब्द नित्यत्व का व्यापक समर्थन किया गया है। ये आगमकार परा शक्ति-रूपा चिति को ही विश्व सृष्टि का उपादान कारण मानते हैं '**चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः**'[2] तथा '**स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मूलयति**'[3] सूत्रों में तथा इनकी व्याख्या मे **प्रत्यभिज्ञा दर्शन** का उक्त मत इस रूप में कहा गया है—

---

१. यो० सू० १।२७
२. प्र० हृ० सू० १
३ " " २

(१) विश्व का विकास चिति (परावाक्) का विवर्त है।

(२) वही (परावाक्) ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के निमित्त वर्णों में स्फुटित होती है। ये तांत्रिक इस चिति को ब्रह्माधीन नहीं मानते।

अपि च आत्मनः स्फुरणं पश्येद् यदा सा परमा कला
अम्बिकारूपमापन्ना परा वाक् समुदीरिता।[1]

योगिनी हृदय की दीपिका में इस प्रकार का उल्लेख है कि जैसे वृक्ष में बीज है, वैसे ही यह विश्व परावाणी में आस्थित है उसी को जब वह स्फुटित प्रकाशित) करना चाहती है तो इच्छाशक्ति के सामरस्य से त्रिकोण की वामरेखा (पश्यन्ती) होती है। वही ज्ञानशक्ति के सामरस्य के त्रिकोण की ऋजु रेखा मध्यम वाणी) बनती है। पश्चात् वही क्रिया शक्ति के सामरस्य से त्रिकोण की दक्षिण रेखा (विश्वविग्रहा वैखरी वाग्) होकर पुनः ऊर्ध्व भाग में लीन हो जाती है। इसे इस प्रकार रेखाचित्र में प्रकट किया जा सकता है।
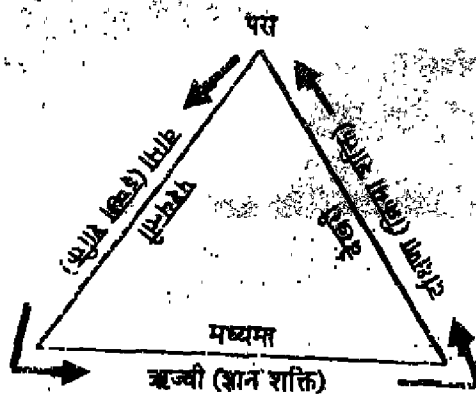
पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी को उत्पत्ति, स्थिति, प्रत्यावृत्ति या वामा, ज्येष्टा तथा रौद्री शक्तियों द्वारा व्यक्त किया गया है। आगे इसी तन्त्र में उक्त त्रिकोण की रचना को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

बीजभावस्थितं विश्वं स्फुटीकर्तुं यदोन्मुखी।
वामा विश्वस्य वमनादंकुशाकारतां गता।

---

1. यो० हृ० ३६

इच्छाशक्तिस्तदा सेयं पश्यन्ती वपुषा स्थिता,
ज्ञानशक्तिस्तथा ज्येष्ठा मध्यमा वागुदीरिता।
ऋजुरेखामयी विश्वस्थिती प्रथितविग्रहा,
तत्संहृतिदशायान्तु वैन्दवं रूपमास्थिता।
प्रत्यावृत्तिक्रमेणैव शृंगाटवपुरुज्ज्वला,
क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा।[1]

शब्दानित्यतावादी दार्शनिक

नैयायिक, सांख्यमतानुयायी, चार्वाक, वैशेषिक, बौद्ध तथा जैन शब्द को अनित्य मानते हैं। नैयायिक मत में वर्ण-समुदाय को पद तथा पद-समुदाय को **वाक्य कहा गया है।** 'किं तर्हि प्रातिपदिकं ? क्रमवद **वर्णसंहतिरिति क्रमः। वर्ण-समूहः पदम्, पद-समूहो वाक्यमिति**।[2] संस्कार के द्वारा क्रम से उत्पन्न वर्ण अर्थबोधक होते हैं।[3] इसी प्रकार सांख्यसूत्रकार ने '**न शब्द-नित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः**'[4] सूत्र के द्वारा शब्दानित्यत्व को स्वीकार किया है। इसी सूत्र के भाष्य में कहा गया है —'स एवायं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञा के बल से वर्ण को नित्य मानना युक्त नहीं है। 'उत्पन्नो गकारः, नष्टो गकारः' इस प्रतीति से उसकी अनित्यता भी सिद्ध की जा सकती है। 'स एवायम्…' यह प्रतीति तो गत्व जाति विषयक है।

प्रशस्तपाद भाष्य में कहा गया है—'**शब्दोऽम्बरगुणः, श्रोत्रग्राह्यः, क्षणिकः, कार्यकारणोभयविरोधी, संयोगविभागजः प्रदेशवृत्तिः**।[5] (शब्द आकाश का गुण है, वह श्रोता के कर्णेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होता है तथा क्षणिक है। वह अपने कार्य, कारण दोनों प्रकार के शब्दों से नष्ट हो जाता है। (पूर्व वर्ण अपने कार्य उत्तर वर्ण से तथा अन्तिम वर्ण अपने कारण पूर्व वर्ण से नष्ट होता है।) संयोग से (ताली बजने में या मुख से उच्चारण करने में) या विभाग (बाँस का फटना) से उत्पन्न शब्द केवल वहीं तक सुनायी पडता है जहाँ तक उसके बोलने वाले के मुख की वायु उसे पहुँचाती है।

१. यो० हृ० (३७-४० श्लोक)
२. न्या० सू० भा० ३।२।६६
३. न्या० म०, पृ० ३४४
४ सा० सू०, सूत्र ५८
५. प्र० पा० भा० पृ० ३५०-३५७

चार्वाक तो प्रत्यक्ष इस लोक के अतिरिक्त कुछ मानते ही नहीं, वे भला कैसे इस सूक्ष्म विचार में अपने मन को लगाते ?

शब्दाभिव्यक्तिवाद

शब्दनित्यतावादी दार्शनिक शब्द की अभिव्यक्ति मानते हैं। यह अभिव्यक्तिवाद भाष्य, वाक्यपदीय, प्रदीप, उद्योत में समर्थित किया गया है। जहाँ पर भाष्य में शब्द-अर्थ-नित्यत्व का उल्लेख हुआ है, वहाँ उसकी अभिव्यक्ति ही मानी गई है। उत्पत्तिवाद में नित्यता हो ही नहीं सकती। अतएव भाष्यकार ने शब्द का लक्षण बताया है, 'श्रोत्र से उपलब्ध, बुद्धि से निगृहीत, ध्वनियों से अभिव्यक्त, आकाश देश वाला शब्द होता है। कैयट ने इसकी व्याख्या में शब्द को ध्वनियों से उत्पादित, अभिव्यक्ति-जनित-संस्कार-परम्परायुक्त अन्तिमध्वन्यभिव्यक्त कहा है। अभिव्यक्ति-पक्ष में वर्णों के ह्रस्व, दीर्घ तथा स्वर, व्यंजन एवं इनके अवान्तर भेदों की प्रतीति व्यंजक-ध्वनि-वशात् होती है। तपरस्तत्कालस्य (१।१।७०) सूत्र की भाष्य-कारिका— '**ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते**
अल्पो महांश्च केषांचिदुभयं तत् स्वभावतः ।'[1]

की व्याख्या में कैयट ने ध्वनि को व्यंजक तथा स्फोट को व्यंग्य कहा है तथा व्यंग्य शब्दों की व्यंजक जो ध्वनि है, वही अल्प या महान् प्रतीत होती है। व्यंग्य तो एक समान रहता है। उद्योतकार ने इसकी व्याख्या में लिखा है— एक अद्वितीय स्फोट वर्णों से अभिव्यक्त होता है। वर्ण ही प्राकृत ध्वनि है। उन्हीं का प्रभेद स्फोट में उपरंजित है। यह अभिव्यक्तिवाद व्यक्ति से जाति में भी लागू होता है। 'अनेकव्यक्त्यभिव्यंग्या जातिः स्फोट इति स्मृता
कैश्चिद् व्यक्तय एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिताः ।'[2]

इसी अभिव्यक्ति को प्रकाश भी कहते हैं। शब्द स्वयं प्रकाशित होकर अर्थ को भी प्रकाश करता है यथा दीपक स्वयं प्रकाशित होता है तथा स्वप्रभा-गोचर निखिल वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। अतएव भाष्यकार ने शब्द को '**प्रयोगेणाभिज्वलितः**' कहा है। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने प्रकाश को 'शिव' तथा विमर्श को उनकी 'स्वातन्त्र्यशक्ति' (पार्वती) कहा है। ये दोनों पृथक् नहीं है। केवल कहने में पृथक् लगते हैं। महाकवि कालिदास ने

---

१. म० भा० (अइउण् सूत्र)
२. वाक्य० ५।९३

'रघुवंश' में इसी भाव को मानकर कहा है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये,
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥[1]

मीमांसक भी शब्द की अभिव्यक्ति मानते हैं। वे कहते हैं, जैसे अँधेरे में घट है परन्तु दिखाई नहीं पड़ता, दीपक का प्रकाश होने से उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है। इसी प्रकार ध्वनि के द्वारा पूर्व विद्यमान शब्द की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। वाक्यपदीयकार ने भी स्फोट, नाद का व्यंग्य-व्यंजक-सम्बन्ध कहा है। जहाँ पर उत्पत्त्यर्थक धातुओं का प्रयोग हुआ है, उसे अभिव्यक्ति-तात्पर्यक या परमतानुसारी मानना चाहिए, जैसे—**वर्णान् जनयते** (पाणि० शि०) या **यः संयोग विभागाभ्यां करणैरुपजन्यते।** (वा० प० १।१०२) इसे टीकाकारों ने वैशेषिकमतानुसारी कहा है वह ठीक भी है यह **'अन्यैः'** कथन से ध्वनित होता है।

शब्दोत्पत्तिवाद

नैयायिक, वैशेषिक तथा सांख्य शब्द की उत्पत्ति मानते हैं। नैयायिक शब्द को आकाश का गुण मानकर उसकी उत्पत्ति 'वीची तरंग न्याय' या 'कदम्ब गोलक न्याय' से मानते हैं। अर्थात् जैसे एक वीचि से दूसरी उत्पन्न होती है या जैसे कदम्ब के गोले से जो परिमल निकलता है, उससे पुनः परिमल उत्पन्न होता है, वही आगे बढ़ते-बढ़ते अपने प्रापक वायु के वेग के क्षीण होने पर समाप्त हो जाता है। वैसे ही वक्ता तथा श्रोता के मध्य शब्दों का क्रम है। 'क' उत्पन्न हुआ, 'क' नष्ट हुआ, इस प्रतीति से उसे अनित्य माना जाता है, 'यह वही क है' ऐसी प्रतीति तो 'यह वही औषधि है' अथवा 'यह वही दीपशिखा है', इस तरह की होने से सजातीयपरक है।

वैशेषिक तीन तरह से शब्दोपत्ति मानते हैं—संयोग से (वायु मुखान्तर्वर्ती इन्द्रियांगों के संयोग से) तथा विभाग (बांस आदि के टूटने) से या शब्द से उपर्युक्त वीचीतरंगन्यायेन। सांख्यों का विचार भी इसी के साथ कहा जा चुका है।

जैनों और बौद्धों के मत में भी शब्द को अनित्य माना जाता है। नैयायिक प्रभृति दार्शनिक मुख से निकली हुई वाणी को ही अर्थबोधक मानते हैं।

---

१. रघु० १।१

शब्द ब्रह्म ही परा वाणी है।

वैयाकरण जिसे परब्रह्म कहते हैं, शाक्त सम्प्रदाय में वही परा वाणी नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु शाक्त शब्दब्रह्म को वेदान्तियों या वैयाकरणों की तरह नित्य न मानकर व्यवहार नित्य मानते हैं। उनका कथन है—

क्रियाशक्तिप्रधानाया: शब्द-शब्दार्थकारणम्
प्रकृतेर्बिन्दुरूपिण्या: शब्दब्रह्माभवत् परा।[1]

(शब्द, शब्दार्थ का कारण परा रूप शब्द ब्रह्म बिन्दु स्वरूप त्रिगुणात्मिका प्रकृति से उत्पन्न हुआ।) इसका स्पष्ट भाव यह है—ब्रह्म के दो रूप हैं—माया से रहित निर्गुण, माया विशिष्ट सगुण। सगुण ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है, इस मत में बिन्दु का अर्थ ब्रह्म है। तब यह अर्थ होगा ब्रह्म की माया नामक प्रकृति से…… इत्यादि। सांख्य शास्त्रानुसार ब्रह्म निष्क्रिय हैं, एवं उसकी प्रकृति ही जगत् का उपादान है। इस मत में यह अर्थ होगा—विभिन्न रूपों में परिणत होने वाली बिन्दु पद वाच्य प्रकृति से परावाक् नामक शब्द ब्रह्म हुआ। उसी परात्मक शब्द ब्रह्म से क्रमश: नामरूपात्मक स्थूल जगत् उत्पन्न हुआ।[2]

कूर्म पुराण में भगवती दुर्गा का हिमवान् के प्रति कथन है कि 'पराशक्ति मेरी (दुर्गा की) ही आज्ञाशक्ति है, उसी का दूसरा नाम वेद है, वह परम प्राचीन है तथा सृष्टि के आदि में ऋक्, यजु: तथा सामवेद के रूप में प्रवृत्त होती है' यथा—**ममैवाज्ञा पराशक्तिर्वेदसंज्ञा पुरातनी,**
ऋग्यजु:सामरूपेण सर्गादौ सम्प्रवर्तते।[3]

प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सिद्धान्त है कि 'विश्व का विकास चिति (परावाक् या पराशक्ति) का विवर्त है तथा परावाक् अपने ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के लिए वर्णों में स्फुटित हो जाती है।'[4] आगे इसी में लिखा है—'वैयाकरण पश्यन्ती रूप शब्द ब्रह्म को आत्म तत्त्व मानते हैं, वे सदाशिव पद तक ही पहुँच पाते हैं।'

शब्द तथा ब्रह्म का आध्यासिक तादात्म्य

पदार्थों का संसर्ग ही वाक्यार्थ है, वही वैयाकरण के मत में नित्यस्फोट रूप माना गया है। परन्तु उपर्युक्त शब्द तथा ब्रह्म की स्वरूपता इससे

१. शारदा तिलक
२. वै० सि० ल० म० रत्न प्रभा, पृ० ४२
३ योगिनी हृदय (गो० क० द्वारा सम्पादित द्वितीय संस्करण, भूमिका)
४ प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (अडियार लाइब्रेरी) सूत्र १ की व्याख्या

बाधित हो रही है, क्योंकि वाक्य में पदार्थ होने से वह सखण्ड हो जाता है तथा ब्रह्म अखण्ड है। अतः वैयाकरणों ने दोनों का आध्यासिक तादात्म्य माना है। अध्यास की परिभाषा इस प्रकार की गई है—**अतद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानम् वा अयम्, अयम्।**

(जो वह नहीं है उसमें उसका ज्ञान अथवा यह, यह है, ऐसा ज्ञान अध्यास है।) जैसे **'तत्त्वमसि'**[1] में तत् का अर्थ परोक्ष आत्मा तथा त्वम् का अर्थ प्रत्यक्ष आत्मा है, इन दोनों में सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता, परन्तु परोक्ष, प्रत्यक्ष इन विशेषणांशों का त्याग कर विशेष्य मात्र के बोध से अखण्डार्थता सम्पन्न होती है, उसी तरह तात्पर्य विषयीभूत अर्थ का बोधक वाक्य है. ऐसा अखण्ड अर्थ मान कर **'तत्त्वमसि'** वाक्य का अखण्ड ब्रह्म से तादात्म्य हो जायगा। अर्थात् 'तत्त्वमसि' वाक्य अखण्ड उपस्थिति का जनक है, पदार्थों का संसर्ग नहीं है। अतः इसका अर्थ अखण्ड होगा। अथवा जैसे **'सोऽयं देवदत्तः'** इस ज्ञान में तत्पद से दूसरे देश में स्थित (देवदत्त नामक पुरुष) की प्रतीति होती है, वह इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। परन्तु 'सोऽयम्' इस वाक्य के सहयोग से नेत्र यहाँ पर प्रत्यक्ष ज्ञान का जनक मान लिया जायगा। उसी प्रकार **'नेह नानास्ति किंचन'**[2] इस वाक्य के सहयोग से 'तत्त्वमसि' यह सखण्ड अर्थ बोधक वाक्य अखण्ड अर्थ का बोधक हो जायगा।अथवा शब्द से विशेषण सहित बोध होता है, अखण्डार्थ का बोध तो मन से कर लिया जाता है। या यह मान लिया जाय कि परोक्ष, प्रत्यक्ष विशेषण नहीं, बल्कि उपलक्षण हैं, जो बोध में भासित नहीं होता, जैसे 'देवदत्त का घर वह है जिसमें कौवे बैठे हैं, जब कौवे उड़ जायँगे तब भी वे उस घर के विशेषण बने रहेंगे, परन्तु बोध में भासित न होंगे, वैसे ही परोक्ष आदि भी शाब्द बोध में भासित नहीं होते।[3]

विवर्त, परिणामवाद

महावैयाकरण भर्तृहरि ने स्फोटात्मक शब्दब्रह्म की प्रतिष्ठापना करते हुए वाक्यपदीय में कहा है—

> **अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।**
> **विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥**[4]

---

१ छान्दोग्य० (६ ८ ७

२ कठ० (४।११

३ वै० सि० प० म०, पृ० ४५

४ वा० प० १।१

इसका संक्षिप्त अर्थ इस प्रकार है--जो अनादि-निधन = उत्पत्ति, विनाश से रहित (सभी विकल्पों से अतीत) शब्द तत्त्व (अर्थ शब्द द्वारा ही गृहीत होते हैं अतः जैसे घट आदि पदार्थों में मूल प्रकृति के रूप में मिट्टी ही तत्त्व है तथैव सभी अर्थों में शब्द का भान होने से वही तत्त्व है।) अर्थात् शब्द स्वरूप, अक्षर है जो वर्णों का निमित्त, (अविद्या रूप अनादि वासना के कारण) घट-पट-गौः इत्यादि पदार्थों के रूप में स्वरूप से बिना पृथक् हुए प्रतीत होता है। जिस शब्द-तत्त्व से जगत् की (सभी आगमों की) प्रथम उत्पत्ति होती है। वह (शब्द तत्त्व ही) ब्रह्म है। यहाँ शब्द तत्त्व के पूर्व तत् का अध्याहार कर लेना चाहिए। (अनादि निधन का पूर्वापरीभाव रूप क्रम रहित भी अर्थ है।) इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं।

(१) जो ब्रह्म सर्वविकल्पातीत है अर्थात् जगत् रूप में विवर्त के पूर्व भूत, भविष्य, वर्त्तमान, त्रिविध काल, उत्पत्ति प्रभृति षड् विकार, पूर्वापरीभाव रूप क्रम, जाति व्यक्ति इस सभी विकल्पों से शून्य है तथा विवर्त्त की अवस्था में भी अविद्या शक्ति के कारण उसका विवर्त जगत् असत्य होते हुए भी सत्य की तरह प्रतीत होता है वह शब्द तत्त्व है। अर्थात् शब्द रूप है क्योंकि सभी विकारों का स्वमूल प्रकृति से संसर्ग रहता है जैसे घट आदि विकार मिट्टी से, कुण्डल आदि विकार सुवर्ण से अनुगत ही रहते है। अतः इनकी प्रकृति शब्द तत्त्व ही ब्रह्म है। विकार तो केवल वाणी का नामान्तर है, सत्य तो मिट्टी ही है। शब्द से ही अर्थ (वस्तु) परिच्छिन्न (युक्त) रहता है। यदि अर्थ शब्दात्मक न होता तो शब्द से होने वाले ज्ञान में उसकी प्रतीति न होती। सभी व्यवहार, उनके विषयीभूत पदार्थों का मूल शब्द ही तो है, अतः शब्द तत्त्व का ही अर्थ के रूप में विवर्त मानना उचित है। महाभाष्य में 'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः' इसी विवर्तवाद का और संकेत करता है। गौः कहने से सास्ना इत्यादि के सहित एक रूप की उपस्थिति हो जाती है।

(२) वह शब्द तत्त्व अक्षर है अर्थात् वर्ण का निमित्त है। कार्य-कारण में अभेद मानकर दोनों को समानाधिकरण (एक विभक्ति) में रखा गया है। वह शब्दब्रह्म अक्षरों का निमित्त इस प्रकार है—ज्ञानरूप अन्तःकरण में अनादि-अविद्यावश स्थित पद-वाक्य-रूप वर्ण दूसरों को अर्थ बोध कराने के लिए प्रयत्न पूर्वक अभिव्यक्त किये जाते हैं। यह वर्ण-व्यक्ति वर्ण-समूह रूप है, शब्दब्रह्म की अभिव्यक्ति ही है जो वक्ता के इच्छानुवर्ती

प्रयत्न से स्फुटित होती है।[1] इसी विचार को भर्तृहरि ने आगे कहा है—**शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः**।[2] इससे स्पष्ट है कि भर्तृहरि विवर्त व परिणाम का साम्प्रदायिक भेद नहीं मानते। शिक्षाकार (पाणिनीय सम्प्रदाय के विद्वान्) शब्द को ज्ञान का विवर्त मानते है, जैसा कि भर्तृहरि का कथन है—**अथायमान्तरो ज्ञाता .... व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते**।[3] विवर्त, परिणाम का साम्प्रदायिक भेद यह है—

विवर्त—अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः (अवास्तविक अन्यथाभाव विवर्त है, जैसे रस्सी में सर्प या शुक्ति में रजत बुद्धि। रस्सी सर्प नहीं है, पर सर्पभासित होती है। शुक्ति रजत न होकर भी तद्रूप भासित होती है। वैसे ही शब्द ही घट रूप में भासित होता है उससे अतिरिक्त घट अलग सत्य नहीं है।)

परिणाम

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीर्यते। (वास्तविक अन्यथा भाव परिणाम है जैसे दूध का विकार = परिणाम दही है, यह मिथ्या नहीं, वरन् वास्तविक है।)[4] भर्तृहरि की तरह भवभूति ने भी विवर्त व परिणाम मे भेद नहीं माना है। उन्होंने कहा है—'**आवर्तबुद्‌बुदतरंगमयान् विकारान्**'[5] इसमें बुद्‌बुद आदि पानी का विवर्त है शेष भंवर, तरंग विकार = परिणाम है परन्तु उन्होंने सबको परिणाम ही लिखा है।

स्फोट सिद्धि (मण्डनमिश्रकृत) के **गोपालिका** टीकाकार ने जगत् को शब्द का विवर्त व परिणाम दोनों माना है जो सांख्य मत से परिणाम तथा अद्वैत वेदान्त के मत से विवर्त है। उन्होंने ये श्लोक उद्धृत किये हैं—

द्वैतमाहुरिदं त्वन्ये ब्रह्मद्वयनिबन्धनम्।
शब्दब्रह्म परब्रह्म रूपेण ब्रह्मवादिनः॥
शब्दब्रह्मैव तेषां हि परिणामि प्रधानवत्।
वैखरी-मध्यमा-सूक्ष्मा भागावस्था-विभागतः॥

---

१. वा० प० अम्बाकर्त्री, पृ० ४
२ „ का० १।१२१
३ „ „ १।११२
४. वा० प० १।१ भावप्रदीप पृ० ५
५ उ० रा० च०

इससे स्पष्ट है कि शब्द ब्रह्म जगत् रूप में परिणत होता है। विवर्तवाद में उन्होंने यह क्रम लिखा है कि ईश्वर संसारावस्था में स्थूल पृथिव्यादि रूपमें विवृत होता है। परमार्थावस्था में अणुरूप (सूक्ष्मतम) रहता है।

मायामात्रमिदं चैवमित्याह हि पराश्रुतिः।
दृश्यत्वाद् विमतं मिथ्या शुक्तिका-रजतादिवत्॥[१]

वैयाकरणविरोधी न्यायमंजरीकार जयन्त भट्ट ने शब्द-विवर्त व शब्द-परिणाम दोनों वादों का खण्डन किया है। अतः दोनों ही वैयाकरण-सम्मत हैं, यह प्रतीत होता है। अथवा भर्तृहरि का विवर्तवाद पारिभाषिक न होकर साधारण ही है। इसका अर्थ है **'विशेषण-विलक्षण तया वर्तः—वर्तनम् विवर्तः** अर्थात् जगत् शब्द ब्रह्म का विलक्षण (अनेकरूप) रूपाभास है। यह शब्दविवर्त दो प्रकार का है सिद्ध एवं साध्य।

(१) सिद्ध विवर्त प्रातिपदिकार्थ है, वह नियत है। काशिका में उसे सत्ता कहा गया है। **'प्रातिपादिकार्थः सत्ता'**।[२] सिद्धान्तकौमुदी में भट्टोजि दीक्षित ने कहा है—

'नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः।[३]

(२) साध्यविवर्त धात्वर्थ है। भर्तृहरि ने दोनों को माना है।

तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः।[४]

स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत्, (परमात्मा ने भूमि शब्द का उच्चारण कर भूमि की सृष्टि की) श्रुति से जगत् का शब्द-विवर्त होना सिद्ध होता है।

---

१. स्फोट सिद्धि (मण्डनमिश्रकृत) गोपालिका पृ० ५, ६
२. काशिका प्रातिपादिकार्थ सूत्र।
३ सि० कौ० कारक प्रकरण प्रातिपदिकार्थ सूत्र।
४ वाक्य०

द्वितीय परिच्छेद

शब्दविषयक वैयाकरण-सिद्धान्त

दर्शन शब्द का अर्थ
शास्त्र शब्द का अर्थ
दर्शनकारों के श्रौत व तार्किक दो भेद
वैयाकरण श्रौत दार्शनिक हैं।
शब्दब्रह्मवादी वैयाकरण
पृथक् व्याकरण-दर्शन की मान्यता
विश्व स्फोटात्मक शब्द का विवर्त है
समस्त विश्व नाम-रूप उभयात्मक है
संसार का उपादान कारण स्फोट रूप निरवयव नित्य शब्दब्रह्म
शब्द-अर्थ तथा दोनों के सम्बन्ध की नित्यता
शास्त्रज्ञान पूर्वक शब्द-प्रयोग से अभ्युदय
व्याकरणाध्ययन शब्द-ज्ञान का सरलतम उपाय
वाणी का अव्याकृत रूप ही स्वाभाविक है।
आधुनिक समय में शब्द-साधुत्व-विधान में पाणिनीय अष्टाध्यायी की मान्यता
पद तथा वाक्य का व्याकरणसम्मत व लोकसम्मत अर्थ
शब्द को नित्य मानते हुए व्याकरण-प्रक्रिया का निर्वाह

'दर्शन' शब्द का अर्थ

'दर्शन' शब्द दृश् धातु से भाव या करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय कर से सिद्ध होता है। (१) **दृश्यते इति दर्शनम्**—इस दृश्यमान जगत् में मूल कारण को समझना। (२) **दृश्यते (आत्मतत्त्वम्) येन तद् दर्शनम्**—आत्मतत्त्व का उपपादक शास्त्र विशेष। दर्शन ज्ञान का प्रथम, सरल सोपान है, इसलिये इसको प्रथम स्थान दिया गया है। आत्मा वाऽरे **द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च**।[1] आगम शब्द दर्शन का उपजीव्य कहा जा सकता है।

---

१ उपनिषद् अध्याय ४ याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद।

'शास्त्र शब्द का अर्थ

शिष्यते-प्रतिपाद्यते (आत्मतत्त्वम्) येन इस अर्थ में शास् धातु से करण अर्थ में ष्ट्रन् प्रत्यय करने से शास्त्र शब्द की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार शास्त्र की यह परिभाषा की जा सकती है—**'आत्मतत्त्व-निर्णायकोपायविशेषप्रतिपादको वाक्यराशिः शास्त्रम्'**। (शास्त्र उस वाक्य-समूह का नाम है, जिसमें आत्मतत्त्व के निर्णायक विशेष उपायों का प्रतिपादन किया गया हो।) दर्शन शास्त्र की अपेक्षा व्याप्य है, शास्त्र व्यापक। अतएव मीमांसा व वेदान्त इत्यादि दर्शनों को शास्त्र भी कहा जाता है। भाष्यकार ने व्याकरण को भी शास्त्र कहा है, यथा—

शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।[1] सर्ववेदपारिषद हीदं शास्त्रम्।[2] पाणिनीयम् महाशास्त्रम्[3]

भर्तृहरि ने इसे आगम भी कहा है।[4] व्याकरण भी पारमार्थिक रूप से सृष्टि के उपादान कारण शब्द ब्रह्म का निरूपण करता है। अतः यह एक स्वतन्त्र दर्शन है। आगे इस पर अधिक विस्तार से विचार किया जायगा।

दर्शनकारों के दो भेद—श्रौत, तार्किक

सर्वदर्शन संग्रह में श्रौत, तार्किक नामों से दर्शनकारों के दो भेद किये गये हैं—मूलतत्त्व के अन्वेषण में श्रुति को ही मूल साधन मानने वाले श्रौत है। इन्हीं को वेदवादी भी कहा जाता है। ये संसार के कारण इत्यादि अत्यन्त गूढ़ विषयों का निर्णय वेद के अनुसार ही करते हैं। यदि अनुमान के द्वारा श्रुति-विरुद्ध तत्त्व सिद्ध होता हो तो उसे ये दार्शनिक प्रमाणाभास ही मानते हैं। मीमांसक, वेदान्ती तथा वैयाकरण श्रौत दार्शनिक हैं। (सर्वदर्शन संग्रह में व्याकरण को भी दर्शन माना गया है।[5]

वैयाकरण श्रौत दार्शनिक हैं

वैयाकरणों का श्रौतत्व भर्तृहरि के वाक्यपदीय में स्पष्ट उल्लिखित है— **न चागमाद् ऋते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते,**

---

१. म० भा० १।१।१
२. ,, २।१।५७
३. माधवीय धातुवृत्तिभूमिका
४. वाक्य २।४८२-८६
५. सर्व द० स० उपोद्घात, पृ० ४२-४४

ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम् ।
धर्मस्य चाव्यवच्छिन्नाः पन्थानो ये व्यवस्थिताः,
न तांल्लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित्तर्केण बाधते ।[1]

(यज्ञ करने से स्वर्गप्राप्ति रूप धर्म, वेद-प्रामाण्य के बिना केवल तर्क से नहीं सिद्ध हो सकता। महर्षियों को अतीन्द्रिय विषयों (आत्मतत्त्वादि) का ज्ञान वेद से ही हुआ है। धर्म के प्रतिपादक वेद, स्मृति आदि व्यवस्थित है और शिष्टपरम्परा से अनुगत हो रहे हैं। लोक प्रसिद्ध होने से तर्क द्वारा कोई शुष्क तार्किक उन्हें अप्रामाणिक नहीं बना सकता।) महाभारत में अतीन्द्रिय एवं अचिन्त्य विषयों में तर्क-प्रयोग को मना किया गया है। **अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्** ।[2] सभी श्रौत दार्शनिक वेद को स्वतः प्रमाण एवं अपौरुषेय मानते हैं। उनके मत में वेद की परम्परा गुरु, शिष्य द्वारा अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है।

शब्दब्रह्मवादी वैयाकरण

ये तीनों—मीमांसक, वेदान्ती तथा वैयाकरण शब्द को नित्य मानते है। इनमें वैयाकरण शब्द को ब्रह्म मानते हैं। उपनिषद् में भी शब्द का ब्रह्मत्व-प्रतिपादन किया गया है, वही वैयाकरणों का अभिमत है।

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्,
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।[3]

यह व्याकरण-दर्शन वेदान्त, सांख्य व योग का समन्वित रूप जैसा प्रतीत होता है, जहाँ वैयाकरण अद्वैत ब्रह्म के साथ ही शब्दब्रह्म को मानते हैं।

द्वैतमाहुरिदं त्वन्ये ब्रह्मद्वयनिबन्धनात् ।
शब्द ब्रह्म परब्रह्म रूपेण ब्रह्मवादिनः ।।
शब्द ब्रह्मैव तेषां हि परिणामि प्रधानवत् ।
वैखरी मध्यमा सूक्ष्माभावावस्थाविभागतः ।।[4]

---

१. वाक्य १।३०-३१
२. म० भारत, भीष्म ५।१२
३ मैत्रा० उ० ६ २२
४ स्फो० सि० (मण्डन) गोपालिका पृ० ५

अतएव महावैयाकरण भर्तृहरि ने जगत् को शब्दतत्त्व स्वरूप ब्रह्म का विवर्त, परिणाम दोनों ही कहा है।[1]

महाभाष्यकार ने अक्षर-समाम्नाय को ब्रह्मराशि कहा है तथा भर्तृहरि ने उसकी व्याख्या में उसे अपौरुषेय कहकर वेद रूप बताया है। कैयट ने प्रदीप में कहा है कि ब्रह्मतत्त्व ही शब्द स्वरूप होकर प्रतिभा का विषय बनता है। ये आचार्य ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्ती की तरह शब्द-ब्रह्माद्वैतवादी हैं।[2] नागेश भट्ट ने शैवागमानुसार ब्रह्म की शक्ति माया से जनित बिन्दु के भेद से उत्पन्न नाद को शब्दब्रह्म कहा है।[3] यथा स्थान आगे अध्यायों में इसकी विशद व्याख्या की जायगी।

पृथक् व्याकरणदर्शन की मान्यता

माधवाचार्य ने शब्दब्रह्म को मानने के कारण अपने षड्दर्शन संग्रह में वेदान्त-दर्शन से अलग एक व्याकरण दर्शन भी माना है। इसकी संक्षिप्त रूप में निम्नलिखित मान्यतायें हैं[4] :—

(१) यह विश्व स्फोटात्मक ओम् का विवर्त है।

(२) यह समस्त विश्वप्रपंच नाम-रूप उभयात्मक है।

(३) संसार का उपादान कारण स्फोट नामक निरवयव नित्य शब्द-ब्रह्म है।

(४) शब्द-अर्थ तथा उनके सम्बन्ध नित्य हैं।

(५) व्यवहारार्थ प्रकृति-प्रत्यय-विभाग द्वारा शब्द साधुत्व-ज्ञान पुण्यदायी होता है।

(६) प्रतिपद ज्ञान तथा उसका धारण करना कठिन है, अतः उत्सर्गापवाद विधि के द्वारा शब्दों की आनुपूर्वी को सुरक्षित रखकर निश्चित अर्थ-ज्ञान कराने के लिए व्याकरण का अध्ययन उपयोगी होता है।

(७) सर्वप्रथम वाणी अव्याकृत थी (वाक्य में पद; पदों में प्रकृति-प्रत्यय के विभाग नहीं थे।) इन्द्र ने उसे व्याकृत किया। क्रमशः

---

१. वाक्य० १।१ तथा १।१२०

२. म० भा० (प्रदीपोद्योत सहित) १।२, पृ० १८२

३. मंजूषा, पृ० ४१

४. सर्व द० सं०, पृ० ५७१-६१६

इन्द्र की अध्ययन-परम्परा की समाप्ति पर लौकिक व वैदिक शब्द-साधुत्व-ज्ञानार्थ महर्षि पाणिनि ने व्याकरण-रचना की, जो शब्द-साधुत्व तथा स्वर की व्यवस्था में प्रमाणभूत है। क्रमशः इनका विवेचन इस प्रकार है :--

(१) यह विश्व स्फोटात्मक शब्द (ओम्) का विवर्त है।

कठोपनिषद्[1] श्रीमद्भागवत[2] तथा शैवागम ग्रन्थों[3] में शब्द-सृष्टि का विशद वर्णन किया गया है। वैयाकरणों ने इस शब्द-सृष्टि को अपना मुख्य सिद्धान्त माना है। ओम् परमात्मा के हृदयाकाशवर्ती नाद का त्रैमात्रिक रूप है। यह स्वयं प्रकाशस्वरूप एवं निखिल पदार्थों का भी प्रकाशक है। यह समस्त विश्वप्रपञ्च का आदि कारण है। सम्पूर्ण सृष्टि पहिले शब्दरूप ही होती है। तदनन्तर वह स्थूल रूप में विकसित होती है। इसी क्रम से उसका लय भी होता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सिद्धान्त है 'विश्व का नामरूपात्मक विकास, चिति (परावाक्-पराशक्ति) का विवर्त है।[4] इनमें नाम (शब्द) पहिले है, रूप बाद में। माण्डूक्योपनिषद् में इस विचार को अधिक स्पष्टरूप में बताया गया है—

ओम् इत्येतदक्षरम्, इदं सर्वं तस्योपाख्यानम्। भूतम्, भवत्, भविष्यत् इति सर्वम् ओंकार एव, यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदपि ओंकार एव।[5]

(२) समस्त विश्व नामरूप उभयात्मक है।

श्रुतियों में ब्रह्म के प्रत्यक्ष होने वाले दो रूप बताये गये हैं। दोनों का समन्वित रूप यह जगत् है 'द्वे एवं ब्रह्मणो रूपे नाम रूपं च, नामरूपात्मकमिदं जगत्।' 'अथ गौरित्यत्र कः शब्द'[6] महाभाष्य से शब्द और अर्थ दोनों का बोध होता है, जहाँ गौः यह सास्नादिमान् वस्तु है, वहाँ उसका

---

१. कठ० १।२।१५
२. भागवत १२।६७-४०
३. प्रपंचसार प्रथम पटल,
४. प्रथम सूत्र 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः' तथा उसकी व्याख्या।
५. माण्डूक्योप० १।१
६. म० भा० १।१।१

वाचक कोई शब्द है। इसी प्रकार 'स्वं रूपम्....' सूत्र के महाभाष्य में लिखा है '**न ह्यन्यत् स्वं शब्दस्यास्ति अन्यदतो रूपात्.... शब्देनोच्चारितेनार्थो गम्यते गामानय, दध्यशान इति अर्थ आनीयते, अर्थश्च भुज्यते**'।[1] (रूप से अतिरिक्त शब्द का आत्मीय कोई नहीं है। यह शंका कर भाष्यकार ने ही समाधान किया है—लोक में उच्चारित किये गये शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है 'गाय लाओ, दही खाओ', शब्दों के कहने पर गाय नामक पदार्थ लाया जाता है, दही नामक पदार्थ खाया जाता है।

(३) संसार का उपादान कारण स्फोट नामक निरवयव नित्य शब्द ब्रह्म

वैयाकरणों की यह मान्यता वेदान्त दर्शन के प्रभाव के कारण है। वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण माना गया है। कार्य जिसमें समवेत हो, वह उपादान कारण है[2] (अर्थात् कार्य का जिसके साथ समवाय सम्बन्ध हो वह उपादान है। जगत् कार्य है, उसका नित्य सम्बन्ध[3] किसी नित्य वस्तु के ही साथ होगा, वह ब्रह्म है। ऊपर अनेक श्रौत, शाक्त आगम के प्रमाणों से यह निश्चित हो गया है कि वेदान्ती जिसे ब्रह्म कहते हैं, वह शब्द रूप है। उसे वैयाकरण स्फोट कहते हैं, वही संसार का उपादान कारण है। तैत्तिरीय आरण्यक में ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण तथा उसे माया का स्वामी (महेश्वर) कहा गया है, यथा—**योऽयमाकाशो मायाविशिष्टब्रह्मणः उपादानकारणादुत्पन्नः। मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्**।[4]

(४) शब्द, अर्थ तथा दोनों का सम्बन्ध नित्य है।

इसको एक समस्त पद के रूप में शब्दार्थ-सम्बन्ध-नित्यतावाद कहा जा सकता है। यदि इन तीनों को नित्य न माना जाय तो भाषा का प्रयोग करने वाले पुरुष मनमाने ढंग से शब्द, अर्थ के सम्बन्ध कर लेंगे। तब एक शास्त्र की बनाई हुई व्यवस्था नहीं रह जायगी। इनकी नित्यता में चाहे जितने आचार्य विभिन्न स्थानी, आदेश की कल्पना कर शब्द-सिद्धि करें परन्तु व्यवस्था बनी रहेगी।

---

१. ,, १।१।६८
२. न्याय० सि० मु०, पृ० ११७
३. ,, ,, पृ० ८५
४. तै० आ०, पृष्ठ ५६५, ५६६

शब्दनित्यता में निम्नलिखित पक्ष हो सकते हैं—

(क) आकृति निर्देश

जाति नित्य होती है, अतः शब्द को जाति मान लेने से उसकी नित्यता अक्षुण्ण रहेगी। इसी तरह अर्थ को भी जाति रूप मान लिया जाय तो उनकी भी नित्यता सिद्ध हो जाती है। जैसा कि महाभाष्य का वार्तिक है—'**आकृतिनित्यत्वान्नित्यः शब्दः**'[1] जैसे—व्यक्ति अनन्त हैं अतः गौः का अर्थ गोत्व जाति माना जाता है, उसी तरह गोत्व को ही शक्त (वाचक) मानना उचित है, इससे अवच्छेदक (धर्म) में लाघव है। जो जाति को नहीं मानते हैं, वे भी अनेक ध्वनियों से अभिव्यंग्य एक शब्द व्यक्ति को ही मानते हैं।

(ख) कल्पान्तस्थायिनी नित्यता

सखण्ड स्फोटवादी नित्य शब्द में वर्ण भेद मानते हैं, उनका यह कथन है कि सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न वर्णरूप अवयवों से शब्द की रचना होती है। वह कल्प के आदि में उत्पन्न होकर कल्पान्त पर्यन्त स्थायी होता है। चिरस्थायी होने के कारण ही उसमें नित्यत्व व्यवहार होता है।

अखण्ड स्फोटवादी यह कहते हैं कि वर्ण, पद, वाक्य में शब्द एक ही है, अभिव्यंजक ध्वनि के क्रम से उसमें अवयवों का आभास होता है। ध्वनिगत विशेषताओं से विशिष्ट ही वह (शब्द रूप स्फोट) प्रकाशित होता है।

(ग) व्यवहार-नित्यता

इसके समर्थक शब्द को न नित्य मानते हैं न अखण्ड। क्योंकि प्रत्येक उच्चारण में इनकी उत्पत्ति तथा विनाश का अनुभव होता है। इस अनादि संसार में शब्द-व्यवहार की परम्परा अविच्छिन्न है। इस प्रवाहनित्यता के कारण शब्द को भी नित्य माना जाता है। अर्थ की नित्यता के सम्बन्ध में चार पक्ष हैं—(१) आकृति नित्यता, (२) अद्वैत नित्यता, (३) अवयव-संयोगधर्म नित्यता एवं (४) प्रवाह नित्यता। इनके क्रमशः विवरण इस भाँति हैं :—

---

१ महाभाष्य १।१।२१

१—आकृति नित्यता

अनन्त व्यक्तियों में शक्ति मानने की अपेक्षा जाति में शक्ति मानना उचित है। घटादि पदार्थों में घटत्वादि रूप जाति नित्य है। भाष्यकार ने 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'[1] वार्तिक के व्याख्यान में अर्थ-नित्यत्व को आकृति-नित्यत्व के रूप में माना है—'अथ कथं पुनः पदार्थं मत्वा एष विग्रहः क्रियते आकृतिमित्याह।[2]

२—अद्वैत नित्यता

ब्रह्माद्वैतवादियों (वेदान्तियों) का सिद्धान्त है-घट शब्द का अर्थ घटत्व रूप असत्य उपाधियों से अविच्छिन्न ब्रह्म है। उसके नित्य होने से अर्थ भी नित्य है।

३—अवयव-संयोग-धर्म नित्यता

भाष्य में कहा गया है, वह भी नित्य है, जिसके नष्ट होने पर उसमे रहने वाला धर्म नष्ट न हो— तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते।[3]

घट के नष्ट होने पर उसके अवयवों का संयोग नष्ट होता है, परन्तु उसमें स्थित संयोगत्व रूप धर्म तो दूसरे घट में रहेगा ही, क्योंकि सब घट तो नष्ट नहीं हुए। अतः संयोगत्व के आश्रय संयोग के प्रवाह का विच्छेद नहीं हुआ।

४—प्रवाह नित्यता

बौद्ध पदार्थ ही शाब्द-बोध का विषय होता है (शब्द से अर्थ ज्ञान होने की स्थिति में बाहरी वस्तु का रहना अनिवार्य नहीं है। हम अपने मन में गौः इस शब्द का उच्चारण करते हैं तथा मन में ही गौ पदार्थ की कल्पना कर लेते हैं। इतने से ही ज्ञान हो जाता है, चाहे गाय वहाँ हो अथवा न हो।) जब-जब गौ शब्द का उच्चारण होता है, तब-तब गौ के आकार का बोध होने लगता है। इस धारा के अविच्छेद से अर्थ नित्य माना जाता है।

सम्बन्धनित्यता में भी तीन पक्ष हैं—(१) अनादि सम्बन्ध, (२) प्रकाश्य-प्रकाशक भाव रूप सम्बन्ध एवं (३) कार्यकारणभाव रूप सम्बन्ध। इनका क्रमशः विवरण इस भाँति है—

---

१. म० भा० वार्तिक, पृ० ४७
२. ,, ,, पृ० ४८
३. ,, ,, पृ० ५०

१—अनादि सम्बन्ध

(शब्द, अर्थ का सम्बन्ध अनादि है। दोनों एक-दूसरे से सदा अविच्छिन्न रहते हैं।) जैसा कि भगवान् उपवर्ष का यह वाक्य मीमांसा शास्त्र में प्रमाणभूत माना जाता है—औत्पत्तिकस्तु **शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः इति भगवान् उपवर्षः**[1]। (औत्पत्तिकः—उत्पत्तिकाले भवः सत्तार्थकः, अजन्यः स्वाभाविकः इत्यर्थः।) शब्द व अर्थ का सम्बन्ध 'सोऽयम्' की तरह अभिन्न है। 'इस अर्थ का वाचक यह शब्द है, इस शब्द का वाच्य यह अर्थ है।' यह ज्ञान जिस शब्द, अर्थ में होता है वहीं पर सोऽयम् यह सम्बन्ध भी होता है, परन्तु शब्द प्रकाश स्वरूप है, उसी में अर्थ की रूपसंक्रान्ति होती है, जैसे दर्पण में। शब्दों में प्रत्यर्थ नियत सारूप्य स्वतः सिद्ध हैं। **समर्थः पदविधिः**[2] सूत्र के व्याख्यान में महाभाष्यकार ने कहा है—**'अर्थानादेशनात्''' ''''''तच्च लघ्वर्थम्'''''' '' को हि समर्थो धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामर्थान् आदेष्टुम्'**। इस भाष्य का यह तात्पर्य है—शब्द, अर्थ का यदि स्वाभाविक सम्बन्ध न मानोगे तो व्याकरण अर्थ-निर्देश नहीं कर सकता है, क्योंकि व्याकरण का प्रयोजन सरलतापूर्वक शब्दार्थ-सम्बन्ध का ज्ञान ही है। धातु आदि का अर्थ कौन बता सकता है, क्योंकि उनके अनन्त अर्थ हैं। शब्द-व्यवहार अनादि है, कोई कह नहीं सकता कि अमुक ने इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ के लिए किया है।

२—प्रकाश्य-प्रकाशक-भाव-रूप-सम्बन्ध

इसे दूसरे शब्द में संकेतोपाधि कह सकते हैं। इस अर्थ का अभिव्यंजक यह शब्द है तथा इस शब्द से अभिव्यंग्य यह अर्थ है। इसे ही नैयायिक संकेत कहते हैं, चाहे वह ईश्वरकृत हो चाहे मनुष्यकृत। वैशेषिक भी शब्द से अर्थबोध को सामयिक मानते हैं। **'सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः'**[3] इस शब्द का यह अर्थ है, इस अर्थ का वाचक यह शब्द है, ऐसे आप्त कथन को समय कहते हैं। यह संकेत सम्बन्ध रूप है तथा अनादि है। जैसा कि

---

१. मीमांसा सू० भा० १
२. म० भा० २।१।१
३. वै० सू० ७।२।२०

भर्तृहरि ने कहा है—'इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा । अनादिरर्थैःशब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा' ॥[१] जैसे नेत्र आदि इन्द्रियों में अपने रूप आदि विषयों को ग्रहण करने की अनादि शक्ति है तथैव शब्दों की अपने-अपने अर्थों को ग्रहण करने की योग्यता अनादि है । प्राचीन वैयाकरण योग्यता का अर्थ शक्ति मानते हैं पर नवीन वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध ।

२—कार्यकारण-भावरूप सम्बन्ध

इसका यह तात्पर्य है—शब्द, अर्थाकार प्रतीति के प्रति कारण होता है । भाष्य में कहा गया है—जिसके उच्चारण से मन में एक विशेष पदार्थ की प्रतीति होती है वह शब्द है[२], अतः उससे तादात्म्य होने के कारण बाह्यार्थ के प्रति भी कारण होगा । अतः फलित हुआ कि बौद्धार्थ ही शब्द का वाच्य (कार्य) है । उसके तादात्म्य के बाह्यार्थ से भी शब्द का कार्य-कारण भावरूप सम्बन्ध मान लिया जाता है ।

बिना शब्द व अर्थ को नित्य माने हुए न तो शब्द को अर्थवान् कह सकते हैं, न प्रातिपदिकार्थ ही । महर्षि पाणिनि ने उसे दोनों ही माना है ।[३] अर्थवत् सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा होती है तथा प्रातिपदिकार्थ मानकर प्रथमा विभक्ति का प्रयोग । वार्तिककार ने 'सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे'[४] वार्तिक कहकर शब्द, अर्थ तथा उनके सम्बन्ध को नित्य माना है । महाभाष्यकार ने 'आद्यन्तौ टकितौ'[५] में शब्द-नित्यत्व को मानकर आगम-विधान किया है । शब्द व अर्थ की नित्यता समान होने पर भी शब्द की नित्यता स्वरूपतः तथा अर्थ की प्रवाह रूप से है ।[६]

शास्त्रज्ञानपूर्वक शब्द-प्रयोग से अभ्युदय

लोक-व्यवहार में संस्कृत, असंस्कृत दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है । अतः विद्वान् को दोनों का ज्ञान आवश्यक है । प्रयोग का नियामक, निर्णायक व्यवहार है । स्वयं सूत्रकार ने कहा है—'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्'[७] इसका अर्थ है कि जनपद वाची प्रत्यय का लोप होने पर

---

१. वा० प० ३।३।२९
२. म० भा० १।१।१
३. अष्टाध्यायी १।२।४५, २।३।४६
४. म० भा० १।१।१, पृ० ४७
५. म० भा० १।१।४६
६. (अम्बाकर्त्री) वा० प० कारिका २३
७. अष्टाध्यायी १।२।५३

लिंग, वचन प्रकृतिवत् हों (जिसके जो लिंग, वचन पहिले से चले आ रहे है वे ही हों) अतः **'पंचालानां निवासः पंचालाः'** में बहुवचन ही होगा। इस तात्पर्य से पूर्व वैयाकरणों द्वारा विहित नियम की कोई आवश्यकता नहीं। ('लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' सूत्र न करना चाहिए) क्योंकि पंचालाः, अंगाः, वंगाः ये जनपदवाची शब्द बहुवचनान्त ही रहते हैं, जैसे आपः, दाराः सदा बहुवचनान्त ही होते हैं। व्यवहार में व्याकरणसम्मत प्रयोग भी होते हैं, असम्मत (असाधु) भी, परन्तु शास्त्र-ज्ञान से प्रकृति-प्रत्यय-विभाग पूर्वक जो विद्वान् शब्द-प्रयोग करता है उसका महान् अभ्युदय होता है। जैसे जो यज्ञ करता है या जो उसे शास्त्र-विधि से जानकर अनुष्ठान करता है उनमें जानकर अनुष्ठान करने वाले को अधिक फल होता है।

व्याकरण का अध्ययन शब्द-ज्ञान का सरलतम उपाय

व्याकरण पढ़ने के लौकिक, पारमार्थिक १८ प्रयोजन भाष्य में गिनाये गये हैं, उनमें बालोपयोगी यह प्रयोजन है कि अनन्त शब्दों का ज्ञान सरलतम उपाय से किया जाय। यदि पदों का ज्ञान उन्हें कराया जाय तो वह दुष्कर है। उत्सर्ग, अपवाद नियम बनाकर प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना कर अनादि शब्दों और उनके निश्चित अर्थों का ज्ञान कराने के लिए व्याकरण उपयोगी होता है। जैसा कि महाभाष्य में कहा गया है— **'लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्'**[1]।

वाणी का अव्याकृत रूप ही स्वाभाविक है

तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है—**वाग्वै पराच्यव्याकृताऽवदत्, ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति। सोऽब्रवीत्, वरं वृणे, मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्यातामिति तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्, तस्मादियं व्याकृता वागुच्यते इति।**[2] **तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृति-प्रत्यय-विभागं सर्वत्राकरोत्।**[3] (यह बात उपनिषदों में प्रसिद्ध है कि वाणी पहिले एक रूप, अखण्ड थी। इन्द्र ने उसे मध्य में विभक्त कर प्रकृति-प्रत्यय-विभागवती किया। अतः इन्द्र ही प्रथम वैयाकरण कहे जाते हैं।) यह व्याकरण वेद के समान ही गुरु-परम्परा से

---

१. म० भा०, पृ० १६

२. तै० स० ६।४।७

३. ऋ० भा० उपो०, भाग १, पृ० २१ (पूना संस्करण)

श्रुत होता था, जैसा कि महर्षि वाल्मीकि ने कहा है—जब राम और हनुमान् की प्रथम भेंट, बातचीत हुई थी तब राम ने कहा '**नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्। बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपभाषितम्।**'[1] (निश्चय ही इन्होंने सम्पूर्ण व्याकरण का गुरुमुख से श्रवण किया है, क्योंकि इतनी देर तक बहुत बात करते हुए भी इन्होंने एक पद भी अशुद्ध नहीं कहा।)

महाभाष्यकार ने व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन बताते हुए कहा है—**पुराकल्प एतदासीत् संस्कारोत्तरं ब्राह्मणाः व्याकरणं स्माधीयते, तेभ्यः स्थानकरणनादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दाः उपदिश्यन्ते, अद्यत्वे न तथा** (प्राचीन काल में उपनयन संस्कार के बाद ब्राह्मण व्याकरण का अध्ययन करते थे, जब उन्हें स्थान (कण्ठ तात्वादि) करण (जिह्वाग्र, उपाग्र), नाद (अभिव्यक्ति प्रकार) तथा अनुप्रदान (बाह्य प्रयत्न) का ज्ञान हो जाता था तब उनको वैदिक शब्द का उपदेश किया जाता था, आज वैसी परम्परा नहीं है। आगे महाभाष्य में इसी प्रसंग में कहा गया है आज (महाभाष्यकार काल में) ब्रह्मचारी वेदाध्ययन कर तुरन्त कहने लगते हैं—हमने तो वेद से वैदिक शब्द तथा लोक व्यवहार से लौकिक शब्दों का ज्ञान कर लिया, हमें व्याकरण के अध्ययन की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके लिए आचार्य पाणिनि ने सुहृद होकर व्याकरण का अन्वाख्यान (पूर्व सिद्ध शब्दों का कथन) किया है। इससे यह ध्वनित होता है कि आचार्य पाणिनि ने नवीन शब्दों की रचना नहीं की, वरन् उन्होंने शब्द-साधुत्व का प्रतिपादन किया है। साथ ही आगे व्यवहार में नवीन पद-रचना में नियमों की मर्यादा निश्चित कर दी है।

आधुनिक समय में शब्द-साधुत्व में पाणिनीय सूत्राष्टाध्यायी की मान्यता

यद्यपि माहेश (महेश रचित) व्याकरण अर्णव माना गया है तथा पाणिनीय व्याकरण उसकी तुलना में गोष्पद मात्र,

> **यान्युज्जहार माहेशात् (माहेन्द्रात्) व्यासो व्याकरणार्णवात्,**
> **पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे।**[2]

तथापि आज अगाध व्याकरण शास्त्र के अध्येता कम मिलते हैं।

---

१. वा० रा० कि० का०

२. हेमचन्द्र नाम माला (व्याकरणशास्त्र का इतिहास प्र० भ० में उद्धृत।

अतः पाणिनीय व्याकरण ही सुलभ एवं साधुत्व व्यवस्थापक माना गया है। जैसा कि पराशर ने कहा है –

पाणिनीयं महाशास्त्रं पद साधुत्व लक्षणम्
सर्वोपकारकं ग्राह्यं कृत्स्नं त्याज्यं न किंचित्।[1]

शताच्च ठन्यतावशते (५-१-२१) सूत्र के भाष्य में 'शतप्रतिषेधेऽन्यशतत्वेऽप्रतिषेधः' इस भाष्य वार्तिक की स्वोपज्ञ व्याख्या में कहा गया है– **'एवं सति शतम् परिमाणमस्य शतको गोसंघः इत्यत्रापि प्रतिषेधो भवति। आपिशलकाशकृत्स्नयोस्तु अग्रन्थे इति वचनात् अन्यप्रतिषेधाभावः। नियतकालाश्च स्मृतयो भवन्ति व्यवस्थाहेतवः इति मुनित्रयमतेनाद्यत्वे साधुत्वासाधुत्वविभागः इति।** (स्मृतियाँ नियत काल में व्यवस्था की हेतु बनती हैं। इस समय मुनित्रय मत से ही साधुत्व, असाधुत्व का विभाग करना चाहिए)। महर्षि पाणिनि की व्याकरणाष्टाध्यायी की रचना के मुख्य प्रयोजन ये हैं—

(१) **शब्द साधुत्व व्यवस्था**—जिससे उच्चरित पद (शब्द समूह) का निःसन्दिग्ध अर्थबोध हो, क्योंकि असाधु शब्द तो अनेक हैं, उनका प्रयोग भी बहुत संक्षिप्त भू भाग में होता है, जैसा कि भाष्य में कहा गया है, जैसे कम्बोडिया (कम्बोज) में शवति (तिङन्त) का प्रयोग है। आर्य केवल इसके कृदन्त रूप 'शव' का प्रयोग मृतक अर्थ में करते हैं। गमन अर्थ में 'हम्मति' का सुराष्ट्र में, 'रंहति' का प्राच्य व मध्य देश में तथा 'गच्छति' का आर्य देश में प्रयोग होता है। शब्द साधुत्व के सम्बन्ध में भाष्यकार ने आर्यावर्त के ब्राह्मणों के निर्णीत अर्थबोध को ही प्रधान माना है। अनुशासन की निरुक्ति में इसी भाव को शब्द कौस्तुभ में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

अनुशिष्यन्ते—विविच्य=असाधुभ्यो विभज्य बोध्यन्ते येन इति करणे ल्युट्[2]

(२) **शिष्ट भाषा की स्थापना**—यद्यपि प्रत्यक्षतः अष्टाध्यायी के द्वारा पदसिद्धि की प्रक्रिया बताई गई है, जो शब्द की नित्यता के विपरीत

---

१. पराशरोपपुराण (सर्वदर्शनसंग्रह में उद्धृत)।

२. शब्दकौस्तुभ, पृ० ३

है; परन्तु ऐसे प्रमाण मिल जाते हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि पाणिनि शब्द-नित्यतावाद के अनुगामी थे। इसे 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्'[1] के भाष्य में स्पष्ट किया गया है।

महाभाष्य में इस प्रकार अनेक शंका-समाधान किये गये हैं—

प्रश्न—पृषोदर आदि कौन हैं?

उत्तर—जिन पदों में लोप-आगम-वर्ण-विकार होता है, पर अष्टाध्यायी में जिनका विधान नहीं किया गया, परन्तु ये जिस प्रकार पूर्वकालिक शिष्ट विद्वानों द्वारा उच्चरित होते हैं, वैसे ही साधु मान लिये जाते हैं। ऐसे ही शिष्ट-सम्मत पद पृषोदरादि में गिने जाते हैं। वैयाकरण शास्त्रज्ञ व शिष्ट होते हैं। कुरुक्षेत्र के पूर्व, प्रयाग के पश्चिम, हिमालय के दक्षिण, पारियात्र (विन्ध्य) के उत्तर की भूमि आर्यावर्त में जो लोभ रहित, बिना लाभ या मान के भी सदाचारी, गुरु के उपदेश या अभ्यास के बिना ही किसी विद्या के पारंगत होते हैं, वे शिष्ट हैं। कैयट ने इसे और स्पष्ट किया है—अज्ञान के विनाश से जिनको सभी विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया है, वेद विहित कर्मों के अनुष्ठान से जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, ऐसे शिष्ट पुरुषों का अतीत, अनागत ज्ञान साधारण जनों के प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं होता। जो योगाभ्यास से युक्त योगी अपने दिव्य नेत्रों से बाह्य इन्द्रियों से अग्राह्य, साधारणजनों के द्वारा मन से भी अगम्य पदार्थों को देखते हैं, उनके वचनों को अनुमान द्वारा बाधित नहीं किया जा सकता।[2]

भवभूति ने भी कहा है—'**ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति**'[3]

ऐसी स्थिति में अष्टाध्यायी का प्रयोजन बताते हुये भाष्यकार ने कहा है—**यद्यपि शब्द-साधुत्व में शिष्ट ही प्रमाणभूत हैं, तथापि अष्टाध्यायी शिष्टों के परिज्ञान के लिये है।**[1]

अष्टाध्यायी का अध्ययन कर तदनुसार शब्द प्रयोग करता हुआ विद्यार्थी उसका अध्ययन बिना किये ही उसके द्वारा निर्णीत शब्दों के प्रयोग करते हुए दूसरे विद्वान् को देखकर समझता है, निश्चित ही इनके ऊपर देवानुग्रह है, अथवा इनका स्वभाव ही है, क्योंकि इन्होंने अष्टाध्यायी

---

१. म० भा० ६।३।१०९

२. म० भा० ६।३।१०९ (प्रदीप)

३. उत्तर रामचरित प्रथम अंक श्लोक १०

का अध्ययन नहीं किया, परन्तु जो शब्द इसके द्वारा निर्णीत हैं, उनका प्रयोग करते है। महाभाष्य में कहा गया है—'**उद्देशश्च प्रातिपादिकानां नोपदेशः**'।[1]

पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों ने व्यवहार में आने वाले जिन प्रयोगों के प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना की है, इन्हीं का नाम उपदेश है। कैयट ने कहा है---जिनका स्वरूपज्ञानार्थ अपूर्व उच्चारण होता है, उन्हीं में उपदेश-व्यवहार किया जाता है। व्याकरण में ये धातु पाठ, सूत्र पाठ, गण-पाठ, उणादि वाक्य, लिंगानुशासन, आगम, प्रत्यय, आदेश नाम से प्रसिद्ध है। (**उप-आद्यम्, देशः-उच्चारणम्**।)

शिक्षा संग्रह में संस्कृत वाङ्मय को प्रकृति-प्रत्ययादि विभागों से संस्कार सम्पन्न कहा गया है—**संस्कृते—प्रकृतिप्रत्ययादिविभागैः संस्कार-मापादिते।**

गोपथ ब्राह्मण में व्याकरण की मर्यादा इस प्रकार बताई गई है—**ओंकारम् पृच्छामः, को धातुः, किम् प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यातम्, किं लिंगम्, किं वचनम्, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वरः, क उपसर्गः, को निपातः, किं वै व्याकरणम्, को विकारः, को विकारी, कतिमात्रः, कतिवर्णः, कत्यक्षरः, कतिपदः, कः संयोगः, किं स्थाननादानुप्रदानकरणम्**।[2] तथा अन्त में इसे एक 'अद्वितीय शब्द' माना गया है, जिसका खण्ड नहीं हो सकता।

(३) अप्रयुक्त के विषय में नियम

महर्षि पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती शिष्टों (आचार्यों) के प्रयोगों को जैसी मान्यता दी है, तथैव आगे मनमाना प्रयोगों को रोका भी है, इसके लिए भाष्यकार ने '**यथालक्षणमप्रयुक्ते**' (अप्रयुक्त शब्दों में लक्षणों का अनुगमन करना चाहिए।) कहा है। अतः विद्वानों की यह सम्मति है कि समय-समय पर जैसे-जैसे नूतन शब्द व्यवहार में आने लगे, उनको प्रकृति-प्रत्ययादि विभाग से साधु बना लिया गया और सूत्र, वार्तिक तथा भाष्य की रचना-काल में पर्याप्त अन्तर होने से उत्तरोत्तर व्यवहृत शब्द-प्रयोगों के लिए वार्तिक बनते गये।

---

१. म० भा० १।१।४५

२. गोपथ० पृ० १, २४

(४) वेद की मन्त्रानुपूर्वी की रक्षा तथा लौकिक शब्दों का दिग्दर्शन

स्वयं महर्षि ने ही 'तृजकाभ्यां कर्तरि' द्वारा षष्ठी समास का निषेध किया है और 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (१-४-२०) 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' (१-४-५५) सूत्रों में षष्ठी समास कर दिया है। अतः अष्टाध्यायी की रचना का मुख्य लक्ष्य भाषा-शब्दों में वैदिक शब्दों की तरह स्वर संचार है। लौकिक प्रयोगों में इच्छानुसार प्रयोग की स्वतन्त्रता दे दी गयी है। स्पष्टतः पाणिनि जी ने वैदिक प्रयोगों को लोक में देखकर उनमें स्वर-प्रक्रिया की प्रवृत्ति के हेतु उन्हें संस्कृत करने के लिए सूत्र-रचना की। जैसे कन्यावाची **कनीना** शब्द वेद में प्राप्त है। **कनीनकेव विद्रधे** (ऋक् ४, ३२, २३) **कनीनके—कन्यके** (निरुक्त ४–१५)। महर्षि पाणिनि ने कनीनक व्यास के साधुत्वार्थ '**कन्यायाः कनीन च**' (४।१।११६) सूत्र निर्मित कर लोक में उसे साधुत्व प्रदान किया। यही नहीं, '**आख्यातोपयोगे**' जैसे सूत्रों का प्रत्याख्यान भाष्यकार ने उन्हें अनर्थक समझकर कर ही दिया है।

प्राचीनकाल में प्रयोगों की बहुलता थी। '**अर्थः पदम्**' ऐन्द्र सूत्र के अनुसार अर्थबोधक ही पद कहा जाता था। महर्षि पाणिनि ने '**सुप्-तिङ्न्तम् पदम्**' (१।४।१४) कहा। कातन्त्र व्याकरण में देवैः, देवेभिः दोनों रूप सिद्ध होते हैं, परन्तु पाणिनि व्याकरण में लोक में केवल देवैः, वेद में दोनों मान्य हैं।

इत्संज्ञाकरण तथा वैदिकी स्वर-प्रक्रिया-विधायक सूत्रों की रचना से स्वरज्ञान का हेतु सिद्ध हो जाता है—**शाकल्यः पाणिनिर्यास्कः इत्यृगर्थ-परास्त्रयः** (ऋग्भाष्यमन्त्रार्थानुक्रमणी)। इसीलिए जहाँ भाषा, छन्द में अन्तर होता है, वहाँ अष्टाध्यायी में 'भाषायाम्' 'छन्दसि' कहकर स्पष्ट विधान किया गया है। इससे तीन बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) अष्टाध्यायी की मुख्य रचना का हेतु वैदिक मन्त्रों की रक्षा तथा भाषा को साधुत्व निर्देश पूर्वक स्थैर्य प्रदान करना।

(२) साधुत्व के अन्वाख्यान में हठवादिता का परित्याग। यदि पाणिनि ने प्राचीन वैयाकरणों के उन नियमों को भी माना, जो उनके समय में नहीं माने जाते थे, तो यह निश्चय है कि पाणिनि के अनन्तर भी भाषा का प्रवाह बना रहेगा तथा पाणिनीय व्याकरण के नियम भी ढीले होंगे। जैसा कि कहा गया है—'**इतिहासपुराणेष्वपशब्दाः अपि सम्भवन्ति**'।[1]

---

1. न्याय मंजरी १।३।१८

(२) अर्थबोधक शब्द-विवेचन में 'शब्दार्थ-सम्बन्ध-नित्यत्व' की मान्यता।

पद, वाक्य का व्याकरण-सम्मत, लोक-सम्मत अर्थ

व्याकरण पद्धति में पद, वाक्य के ये लक्षण किये गये हैं—

पद—**सुप्तिङ्न्तम् पदम्**।[1] सुबन्त–रामः रामौ इत्यादि तथा तिङन्त–गच्छति गच्छतः इत्यादि की पद संज्ञा है।

वाक्य—(१) **आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्**[2]
(२) **सक्रियाविशेषणं च**[3] (३) **एक तिङ्**[4] (वाक्यम्)।

इनके अर्थ तथा उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) अव्यय, कारक, कारक विशेषणों के सहित आख्यात को **वाक्य** कहते हैं, जैसे—उच्चैः पठति, ओदनम् पचति, मृदु विशदम् ओदनं पचति।

(२) क्रियाविशेषण के सहित आख्यात को वाक्य कहते हैं, जैसे—सुष्ठु पचति।

(३) जिसमें समान तिङ् (क्रियावाची प्रत्यय) हों, वह भी वाक्य है। जैसे—कथय, कथय।

वाक्य के ये लक्षण केवल व्याकरण शास्त्र में ही मान्य हैं। इसलिए **'ओदनं पच, तव भविष्यति'**, में 'तव' का 'ते' आदेश नहीं हुआ, क्योंकि समान वाक्य में ही युष्मद्, अस्मद् के आदेश होते हैं।

लोक सम्मत पद का अर्थ है—अर्थवान् प्रकृति-प्रत्यय या उभय रूप वर्ण-समूह।

पद्यते = गम्यते अर्थः येन तत् पदम्।

जैसा कि सर्वे सर्वपदादेशा...[5] भाष्य के व्याख्यान में कैयट ने कहा है—पद

---

१. अष्टाध्यायी १.४।१४

२. म० भा० वार्तिक 'समर्थः पद विधि' सूत्र २।१।१

३. ,, ,, ,, ,, ,, ,,

४. ,, ,, ,, ,, ,, ,,

५. म० भा० दाधाघ्वदाप् १।१।२० तथा युष्मदस्मद्भ्यांङ्सोऽश् ७, १, २७ (प्रदीप)

शब्द से यहाँ सुप्तिङन्त रूप पद नहीं लिया जाता बल्कि आदेश रूप कार्य जिनका होता है, ऐसे प्रकृति-प्रत्यय आदि ही पद हैं, क्योंकि अन्वय, व्यतिरेक से वे ही अर्थवान् हैं।

व्याकरणाचार्य इन्द्र ने अर्थ को पद माना है, जैसा कि ऐन्द्र व्याकरण का सूत्र है **'अर्थः पदम्'**।[1] इसी प्रकार **'वचोऽशब्दसंज्ञायाम्'**[2] सूत्र के द्वारा जहाँ वाक्य की शब्द संज्ञा है वहाँ कुत्व (चवर्ग के स्थान में कवर्ग) का निषेध नहीं होता। इससे यह ध्वनित होता है कि वाक्य का मुख्य अर्थ शब्द (निराकांक्ष बोध जनक वर्ण-पद समूह) है। जैसा कि महर्षि जैमिनि ने कहा है—**'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्'**[3] इसलिए उद्देश्य या बिधेय के अनेक होने पर भी मीमांसक के मत में वाक्य-भेद नहीं होता। **'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा'**[4] में शब्द का तात्पर्य वाक्य ही है। निराकांक्ष अर्थ का बोध ही व्यवहार की भाषा का प्रयोजन है तथा वैसा अर्थ बोधक वाक्य ही होता है। **'एकतिङ् वाक्यम्'** भाष्यवार्तिक की व्याख्या में नागेश भट्ट ने लघुशब्देन्दुशेखर में लिखा है—**इदं स्वशास्त्रकार्योपयोगि एकवाक्यस्वलक्षणम्। तेन 'पश्य मृगो धावति' इत्यादौ लौकिकैकवाक्यत्वस्यापि नाव्याप्तिः**।[5] इससे स्पष्ट है कि वाक्य की उपर्युक्त लौकिक परिभाषा ही मुख्य है, वही स्फोट है।

शब्द को नित्य मानते हुए व्याकरण-प्रक्रिया का निर्वाह

यह एक विचित्र दार्शनिक पहेली है कि व्याकरण में प्रकृति-प्रत्यय-विभाग द्वारा पद-रचना की जाती है, जो कि शब्द को नित्य मानने पर संगत नहीं होती, परन्तु व्याकरण का मुख्य प्रतिपाद्य शब्द-नित्यत्व ही है। वाणी को अव्याकृत कहना, जगत् प्रपंच को शब्द ब्रह्म का विवर्त मानना, स्फोट सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना करना आदि विचारों की आधारशिला शब्द-नित्यता ही है। विना इसे स्वीकार किये अर्थवान् शब्द न होगा, तब

---

१. व्याकरण दर्शन का इतिहास (सुषेण विद्याभूषण कृत) पृ ४०
२. अष्टा० ७।३।६७
३. मीमांसा सूत्र (वाक्य० द्वितीयकांड में उद्धृत)
४. अष्टाध्यायी १।१।६८

सारा व्याकरण-वितान ही बिगड़ जायेगा। रह गई प्रक्रिया निर्वाह की बात, उसके लिए समस्त पदों का समस्त आदेश, बिना आगम के आगम सहित हो जाना, बौद्धार्थ निरूपण आदि सिद्धान्त शब्द-नित्यता के ही कारण माने गये हैं। इन पर यथावसर आगे विचार किया जायगा। वर्ण-नित्यता तो वेदान्ती व मीमांसक भी मानते है। वैयाकरणों ने उनसे आगे बढ़कर पद-नित्यता व वाक्य-नित्यता के सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित किया है। इसीलिए भाष्यकार ने कहा है—**'आचार्यः इदं शास्त्रमन्वाचष्टे'**।[1] (आचार्य पाणिनि इस व्याकरणशास्त्र का अन्वाख्यान कर रहे हैं—अनु—पश्चात् आचष्टे—कह रहे है।) अर्थात् शब्द व उनके अर्थ पहले से निश्चित हैं। व्याकरणकार ने उन्हें प्रकृति-प्रत्यय के नियमों द्वारा अर्थज्ञान के लिए और पुष्ट कर दिया है। शास्त्रज्ञानपूर्वक शब्द-प्रयोग से धर्म होता है।

अतएव पारमार्थिक रूप में प्रकृति-प्रत्ययादि कल्पना को अवास्तविक कहा गया है—**'शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते**। व्याकरणशास्त्री की रचना शब्द के असंदिग्ध ज्ञानार्थ की गई है। महाभाष्यकार ने कहा है, पाणिनीय व्याकरण में लौकिक व वैदिक दोनों शब्दों का अन्वाख्यान किया गया है। लोक-व्यवहार में शुद्ध, अशुद्ध दोनो प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है। उनकी आनुपूर्वी नियत नहीं होती, परन्तु वैदिक शब्दों की पदानुपूर्वी निश्चित है। अतः लौकिक शब्दों का साधुत्वविवेचन तथा वैदिक शब्दों का स्वरविवेचन ही इस शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है। बिना शास्त्र-प्रक्रिया ज्ञान के भी भाषा का ज्ञान होता है। स्वयम् भाष्यकार ने कहा है—**'वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः, सिद्धाः लोकाच्च लौकिकाः, अनर्थकं व्याकरणम्**।'[2]

'अजेर्व्यघञपोः'[3] सूत्र के भाष्य में वैयाकरण तथा सूत का मनोरंजक संवाद है, जिसमें वैयाकरण नियम जानते हुए भी प्रयोग-काल में चूक जाता है तथा सूत उसका उपहास करता है। उपर्युक्त सूत्र से 'अज्' धातु का 'वी' आदेश विधान किया गया है। महाभाष्यकार ने **प्राजिता** की सिद्धि के लिए वहाँ इस प्रकार संशोधन किया है कि 'अज्' का 'वी' आदेश

---

१. म० भा० प० पृ० ४०

२. म० भा० प० १।१।१ पृ० ४०

३ ,, ,, २।४।५६

विकल्प से होता है और वह विकल्प मनमाना नहीं प्रत्युत व्यवस्थित है, उससे प्रवेता, प्रवातो रथः इत्यादि में 'वी' आदेश होता है, प्राजिता मे नहीं। लोक व्यवहार में प्राजिता ही होता है। अतः वहाँ 'वी' आदेश नहीं होता। इसी प्रकरण में यह संवाद है—

किसी वैयाकरण ने सूत से कहा—इस रथ का प्रवेता कौन है ?

सूत—आयुष्मान्। इस रथ का प्राजिता मैं हूँ।

वैयाकरण—प्राजिता शब्द अशुद्ध है।

सूत—आप केवल सूत्रों की प्रवृत्ति के जानकार हैं, व्यावहारिक भाषा के नहीं, अतएव मूर्ख हैं।

वैयाकरण—(क्रोध से) इस दुरुत (दुष्ट सूत) से हमें बड़ा कष्ट पहुँचा।

सूत—महाशय ! आपने मेरे लिए दुरुत का प्रयोग किया है परन्तु सूत शब्द सु उपसर्ग पूर्वक 'वे' धातु से नहीं निष्पन्न होता बल्कि 'सू प्रेरणे' धातु से कर्ता में क्त प्रत्यय के द्वारा इस रूप की सिद्धि हुई है। यदि आपको मेरी निन्दा ही करनी है तो 'दुःसूत' ऐसा कहिये।

(वैयाकरण अपनी भूल तथा व्यावहारिक भाषा के अज्ञान से लज्जित होकर शान्त हो गया।)

प्राचीन, अर्वाचीन सभी ग्रन्थ-लेखक व्याकरण के नियमों की उपेक्षा करते हुए देखे गये हैं। उनके प्रयोगों को मान्यता देने के लिए बहुलम्, आकृतिगण, निपातन, आर्ष प्रयोग आदि उक्तियों का आश्रय लिया गया है। भाषा का प्रवाह स्वाभाविक गति से आगे बढ़ता है। नूतन प्रयोग प्रकाश में आते हैं तथा प्राचीन अदृष्ट होते जाते हैं, इसीलिए पाणिनि के बाद कात्यायन तथा उनके अनन्तर पतंजलि को नये प्रयोगों को मान्यता देने के लिए वार्तिकों के रूप में नये नियम बनाने पड़े।

इस प्रकार जिस वाक्यात्मक निराकांक्ष अर्थबोधक शब्द को महर्षि पाणिनि ने स्व रूप" [1] सूत्र मे माना है महर्षि ने जिस शब्द को

'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'[1] वार्तिक द्वारा सिद्ध कहा है। महर्षि पतंजलि ने 'येनोच्चारितेन...'[2] के द्वारा जिसे प्रत्ययजनक कहा है वह **स्फोट** है। भाष्य-व्याख्यानुसारी भर्तृहरि और कैयट आदि ने उसी का स्पष्ट उल्लेख किया है। यही पाणिनीय पद्धति का मुख्य प्रतिपाद्य है, जैसा कि सर्वदर्शन संग्रह में कहा गया है—

**'स्फोटात्मकं प्रणववैकृतिरूपमेतत्तत्त्वं समादिशति यच्च जगद्विवर्तम्,
शब्दार्थबन्धमखिलं किल यद् विधत्ते वन्दे तदेव पथि पाणिनिशब्दशास्त्रम्।**[3]

1. म० भा० १।१।१
२ ,, १।१।१
३. सर्वदर्शन संग्रह, पाणिनि दर्शन, पृ० ५७१

तृतीय परिच्छेद

●

पाणिनीय व्याकरण-पद्धति

पाणिनीय व्याकरण-पद्धति के आचार्य महर्षि पाणिनि

माधवीय धातु वृत्ति भूमिका में ८ व्याकरणों के नाम गिनाये गये हैं–

'ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम् ।
सारस्वतं चापिशलं शाकलम् पाणिनीयकम्' ॥[1]

इन्द्रकृत व्याकरण ऐन्द्र है। अव्याकृत वाणी को सर्वप्रथम देवताओं

---

1 मा० धा० वृ० भू०

की प्रार्थना पर इन्द्र ने व्याकृत (प्रकृति-प्रत्यय-विभागवती) किया। चान्द्र व्याकरण के रचयिता आचार्य चन्द्र की सुकीर्ति व्याकरणदर्शन के पुनरुज्जीवक के रूप में भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में गाई है।[1] काशकृत्स्न व्याकरण का नाम महाभाष्य[2] में आया है। शाकटायन, आपिशलि एवं शाकल्य का नाम पाणिनीय अष्टाध्यायी में उल्लिखित है। सारस्वत व्याकरण सम्भवतः अधिक अर्वाचीन है, अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने उसे अत्यन्त सरल पद्धति में लिखा है। कौमार नामक व्याकरण स्वामिकुमार की आज्ञा से शर्ववर्मा द्वारा रचित है, उसका उल्लेख हरचरित चिन्तामणि के 'शब्दावतार' नामक अध्याय में मिलता है। अन्यत्र आठ वैयाकरणों के नाम गिनाये गये है। इनमें महर्षि पाणिनि का नाम संगृहीत है। रामायण के उत्तरकाण्ड से ९ व्याकरणों का उल्लेख मिलता है।[3]

महर्षि पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में १० (**शाकल्य-शाकटायन-सेनक-आपिशलि-स्फोटायन-चाक्रवर्मण-गालव-भारद्वाज-गार्ग्य तथा काश्यप**) शाब्दिकों का तथा **प्राचाम्, उदीचाम्** एवम् **आचार्याणाम्** नाम से विशिष्ट आचार्यों का उल्लेख किया है। पाणिनि से पूर्ववर्ती १५ आचार्यों का अन्यत्र व्याकरणों में उल्लेख मिलता है। व्याकरण में महर्षि पाणिनि की विस्तृत विशद शिष्यपरम्परा थी, जो पूर्वपाणिनीय, उत्तरपाणिनीय दो भागों में विभक्त है।[4] इसका समर्थन महाभाष्यकार ने भी किया है। **'उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्'**[5]—भाष्य से यह भी विदित होता है कि कौत्स नामक इनका व्युत्पन्न शिष्य था। कौत्स का उल्लेख निरुक्त, गोभिल गृह्यसूत्र व आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी मिलता है।[6] इन्होंने अष्टाध्यायी की रचना मन, वाणी, कर्म से पवित्र होकर बड़े परिश्रम से की थी। महाभाष्य 'इको-यणचि' सूत्र में लिखा है—**'सामर्थ्ययोगान्नहि किंचिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे**

---

१. वाक्य० २।४८१
२. म० भा० १।१।१ पृ० ५७
३. रामायण उत्तरकाण्ड ३६-४७ श्लोक
मद्रास ला जर्नल प्रेस, १९३३ संस्करण
४. काशिका ६।२।१०४
५. म० भा० ३।२।१०८
६. पाणिनि, उनका शब्दानुशासन, पृ० १८१

पदनर्थकं स्यात् ।[1] प्रदीपकार ने 'सामर्थ्ययोगात्' का अर्थ 'शास्त्र की निश्चित अर्थ व्यवस्था से' ऐसा किया है। अन्यत्र भाष्य में उल्लेख मिलता है— **"प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः, शुचावकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम् किम् पुनरियता सूत्रेण"** । यहाँ 'प्रणयति स्म' का अर्थ 'प्रकरण विशेष में स्थापन' किया है। जयादित्य ने इनके सम्बन्ध में लिखा है—'**महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य**'[2] महर्षि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में उन परिभाषाओं का परित्याग कर दिया जो लोकप्रसिद्ध थीं, जैसे भूत, भविष्य, वर्तमान। ये शब्द ही स्वार्थबोधक होते हैं, इसीलिये इस व्याकरण को 'अकालक' कहा गया है—'**पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्**'[3] ।

पाणिनि पद की व्युत्पत्ति

'**पाणिनिना प्रोक्तम्**' इस अर्थ में पाणिनि पद से '**वृद्धाच्छः**'[4] सूत्र से 'छ' हुआ, उसका 'ईय'[5] आदेश हो गया, पुनः पाणिनि के 'इ'[6] का लोप होने से **पाणिनीय** पद की सिद्धि होती है। प्रोक्त का अर्थ है प्रकर्ष से कहा गया। अर्थात् स्वयम् या दूसरे के द्वारा कृत व्याकरण का अध्ययन एवं अर्थ-व्याख्यान द्वारा प्रकाशित किया गया।[7] पुनः '**पाणिनीयम् अधीयते-विदन्ति वा**' इस अर्थ में पाणिनीय पद से '**तदधीते तद्वेद**'[8] सूत्र द्वारा 'अण्' प्रत्यय हुआ, उसका 'प्रोक्ताल्लुक्' सूत्र से लोप हो गया।

इस प्रकार पाणिनीयाः (पुंल्लिंग बहुवचनान्त पद) का अर्थ हुआ—महर्षि पाणिनि द्वारा प्रकाशित व्याकरण शास्त्र का अध्ययन व ज्ञान करने वाले तत्त्वद्रष्टा विद्वज्जन।

पाणिनीय पद्धति की मुख्य विशेषताएँ

'**पाणिनीयानां पद्धतिः पाणिनीय पद्धतिः**' इस पद्धति की विशेषताएँ

१. म० भा० ६।१।७७
२. काशिका ४।२।७४
३. काशिका २।४।२१
४. अष्टाध्यायी ४।२।११४
५. अष्टाध्यायी ७।१।२
६. ,, ६।४।१४८
७. सि० कौ० तत्त्वबोधिनी (तेनप्रोक्तम्), पृ० २६३
८ अष्टाध्यायी ४ २ ५९

लक्षित हैं :—

(१) शब्द को ही मुख्य प्रमाण माना गया है—**'शब्द-प्रमाणकाः वयम्, यच्छब्द आह तदस्माकम् प्रमाणम्'**[1]।

(२) प्रत्येक ज्ञान के पूर्व शब्द का व्यापार रहता है, बिना शब्द के ज्ञान नहीं होता।

(३) शब्द अपना, अपने अर्थ का स्वयं बोधक है।

(४) शब्द व्यावहारिक सच्चाई या तर्क-संगति की अपेक्षा किये बिना ही अर्थ बोध कराता है। इसलिए वैयाकरण मत में **अग्निना सिंचति, वन्ध्यापुत्र** से भी अर्थ बोध होता है। भले ही आग से सींचा न जाय या वन्ध्या का पुत्र न हो।

(५) सारी व्याकरण-प्रक्रिया बालोपयोगिनी है। व्याकरण द्वारा शब्द-निर्माण नहीं किया जाता, वरन् सिद्ध शब्दों की साधुत्व-व्यवस्था की जाती है।

(६) शब्द, अर्थ, उनका सम्बन्ध पूर्व निश्चित है, भले ही उसे व्यावहारिक नित्य कहें या अनादि।

(७) अर्थ के दो भेद हैं—बाह्य, आन्तरिक। बहिर्भूत अर्थ के आधार पर भाषा का विवेचन सम्भव नहीं है। इसीलिये आचार्य पाणिनि ने कहा है—**'प्रधानप्रत्ययार्थ-वचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्'**[2]। (प्रत्यय का अर्थ प्रधान होता है, ऐसा सूत्र अनर्थक है, क्योंकि अर्थ की सिद्धि तो लोक से ही हो जाती है।

(८) अखण्ड वाक्य एवं वाक्यार्थ ही वास्तविक है। पद, वर्ण अवास्तविक हैं; ये केवल व्याकरण के विज्ञ जनों के लिए आरोपित तथा काल्पनिक इकाइयाँ हैं। इसलिए व्याकरण की नियमावली केवल भाषाशास्त्र के ज्ञानार्थ ही है।

(९) भाषा की वास्तविकता तर्क से परे है। जो शब्दवेत्ता महर्षि साधारण जनों से अज्ञात शब्द-अर्थ को अपने दिव्य चक्षुओं से देखते हैं, उनका कथन अनुमान से बाधित नहीं हो सकता।

---

६) म० भा० प० पृ० ५५

ष्टाध्यायी १।२।५६

(१०) वेदरक्षार्थ स्वर-ज्ञान का सूक्ष्म विवेचन भाषा ज्ञान की अपेक्षा अधिक आवश्यक है।

(११) लौकिक भाषा सतत प्रवाहमयी है। अतः उसके लिए पूरे नियमों का बनाना सम्भव नहीं है, जैसा कि महाभाष्यकार ने कहा है—**'नैकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति'**[1]।

(१२) व्यवहृत लोक भाषा ही अर्थबोधक होती है। व्याकरण तो उससे कुछ पूर्व व्यवहृत भाषा के प्रयोगों पर आधारित होता है। सम्भवतः इसीलिए षष्ठी समास का निषेध करके भी पाणिनि जी ने ही **'जनिकर्तुः प्रकृतिः**[2]**, तत्प्रयोजको हेतुश्च'**[3] में समस्त पद का प्रयोग किया है।

(१३) जो पद किसी एक (चाहे वह पाणिनीय ही क्यों न हों।) व्याकरण से नहीं सिद्ध होते, वे अपशब्द नहीं है। पृषोदरादि, आकृतिगण, आर्ष प्रयोग, ज्ञापन, बहुलम् आदि नियम उन्हीं की शुद्धता के लिए बनाये गये हैं।

(१४) सामान्य-विशेष लक्षणों द्वारा प्रचलित भाषा का ज्ञान करना सरल परिपाटी है। इसी को दूसरे शब्दों में उत्सर्ग-अपवाद भी कहते हैं। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—**'किञ्चित्सामान्य-विशेषवल्लक्षणम् प्रवर्त्यम्, येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्**[4]।

पाणिनीय व्याकरण-पद्धति की प्रशंसा

प्रधान वेदांग होने से व्याकरण श्रौत दर्शनों में मुख्य माना जाता है। वेद व दर्शन का शब्द रूप ही सर्वप्रथम अनुभवगम्य होता है। यही नहीं, कोई भी ज्ञान बिना शब्द के नहीं हो सकता। शब्द-ज्ञान का हेतु व्याकरण है। उसके प्रवक्ता अनेक आचार्य हुए हैं। आचार्य महेश्वर का **व्याकरणार्णव**, बृहस्पति का **शब्दपारायण** इतने विशाल व्याकरण शास्त्र थे,

---

१. म० भा० ७।१।९८ (३।१।६७, १।१।१२)

२. अष्टाध्यायी १।४।३०

३. „ १।४।५५

४ म० भा० १ १ १ पृ० ४३

कि उनमें पारंगत होने में हजारों वर्ष लग जाते थे। यह बात भी थी कि उनके द्वारा पद-पदार्थ का ही ज्ञान कराया जाता था। पदों के चार विभाग (नाम-आख्यात-उपसर्ग-निपात) थे। धातु की कल्पना तो बाद की है। संक्षेप में शीघ्रता तथा सरलतापूर्वक व्यवस्थित, वैज्ञानिक पद्धति से शब्द-ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ उपयोगी **पाणिनीय व्याकरण** ही है। इसलिए जैसे स्मृतियों की मान्यता का युग निश्चित है—सत्ययुग में **मनुस्मृति**, त्रेता में **गौतम**, द्वापर में **शंख** तथा कलियुग में **पाराशर स्मृति** कार्याकार्य व्यवस्था में प्रमाण-भूत हैं। तथैव इस समय शब्द-साधुत्व-विधान में निर्णायक पाणिनीय-व्याकरण ही है। इन प्रशंसापरक वाक्यों के अतिरिक्त भाषा-प्रवाह को ध्यान में रखते हुए भी अन्तिम संस्कृत व्याकरण पद्धति होने से प्रचलित संस्कृत भाषा में शब्दों की साधुत्व-व्यवस्था तथा दार्शनिक विवाद का निर्णय पाणिनीय वैयाकरण-सम्प्रदाय द्वारा किये जाने पर ही मान्य है।

पाणिनीय व्याकरण-पद्धति का विकास

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सरलता से शब्द-साधुत्व-ज्ञान एवं वेद की रक्षा आदि व्याकरण अध्ययन के मुख्य प्रयोजन हैं, तथापि भाषातत्त्व-चिन्तन का परिणाम यह हुआ कि साधारण प्रकृति-प्रत्यय-विभाग की कल्पनाशील वैयाकरण बुद्धि आगे बढ़ी और उनकी अन्तर्दृष्टि की परिधि में शब्दतत्त्व का आगमन हुआ। व्याकरण ने आगम का ढाँचा पाया। उसकी गणना दर्शनों में होने लगी तथा वैयाकरण को शब्द ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ। इस प्रकार जैसे बाहरी रूप में व्याकरणवेत्ता शब्दार्थ के पण्डित बने तथैव उनके अन्तश्चक्षु अक्षर स्वरूप परब्रह्म में ही जाकर खुले। व्याकरण का साक्षात् प्रयोजन शब्द-ज्ञान है, जैसा कि महाभाष्यकार ने कहा है—'अथ **शब्दानुशासनम्**'।[1] भाष्यकार ने **शब्द** के दो **अर्थ** बताये हैं—

(१) अखण्ड, स्वप्रकाश, नादाभिव्यंग्य स्फोट रूप वाचक शब्द। यही अर्थ का बोध कराता है। इसके उच्चारण करते ही श्रोता को घट, गौः आदि पदार्थों का बोध होता है। स्वयं वक्ता जब इन पदार्थों का बोध श्रोता को कराना चाहता है तो वह भी अपने मन में इनका उच्चारण करता है।[2] यह एक, व्यापक, आदि-अन्त रहित सूक्ष्म रूप शब्द है।

१. म० भा० १।१।१, पृ० ३
२. म० भा० १।१।१ पृ० १२

समस्त विश्व रूप इसी का प्रपंच है । जैसे मुख का प्रतिबिम्ब शीशे में झलकता है । शीशे के गोलाकार, लम्बाकार या वक्र होने से मुख भी वैसा ही गोला, लम्बा या वक्र प्रतीत होता है। यद्यपि मुख एक है। तथैव अक्रम, एक शब्द भी ध्वनिगत भेदों से क्रमवान्, भिन्न-भिन्न वर्णों वाला बनकर जनसाधारण को वैसा ही लगता है ।

(२) लौकिक व्यवहार में पदार्थबोधक के रूप में प्रसिद्ध श्रोत्रेन्द्रिय-गृहीत वर्ण-रूप ध्वनि-समूह शब्द है । शास्त्र-प्रक्रिया के लिए यही शब्द मान्य है । इसी को लेखनी द्वारा लिखकर कवि, विद्वान् अपनी अनुभूतियों को सुरक्षित कर देते हैं ।

सभी भारतीय भाषाविद् इस बात पर एकमत हैं कि सर्ग के आदि में स्वयम्भू परमात्मा ऐसी वाणी का ज्ञान मनुष्यों को देते हैं जो आदि-अन्त से हीन है, वह प्रारम्भ में वेद-ज्ञानरूप रहती है। उसी से विश्व की प्रक्रियाओं का निर्वाह होता है । वाणी ही मनुष्य के कार्य-कलापों का संचालन करती है । जैसा कि भगवान् वेदव्यास का कथन है --

'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा,
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः' ।[1]

इसी वेदमयी दिव्यवाणी से ही नाम, कर्मों का निर्माण बाद में हुआ-

'सर्वेषां स तु नामानि कर्माणि पृथक् पृथक्,
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ।'[2]

(वेद के शब्दों से ही ब्रह्मा ने सब के नाम = संज्ञायें तथा कर्म = अर्थ एवं संस्थायें = विभक्ति, वचन आदि सब निर्धारित किये।) यहाँ तक कि बहुत बाद में रची गयी पाणिनीय अष्टाध्यायी में वैदिक पद ही वेद स्वरूप को त्यागकर रख दिये गये हैं, जैसा कि तन्त्रवार्तिक में भट्टकुमारिल ने लिखा है—**'पाणिनीयादिषु हि वेदस्वरूपवर्जितानि पदान्येव संस्कृत्योत्सृज्यन्ते'** ।[3] यह भी निश्चित है कि संहिता-पाठ को स्थिर रखने के लिए ही अष्ट विकृतियाँ की गई हैं । अष्टाध्यायी का भी मूलपाठ संहितापाठ ही था ।

---

१. महाभारत शान्तिपर्व २३२।२४ तथा वेदान्तसूत्र शंकरभाष्य १।३।२८
२. मनुस्मृति १।२१
३ तन्त्रवार्तिक १ ३ ८

स्वयं वेद की उक्ति है—'**देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति**'।[1] (देवों ने जिस दिव्य वाणी को प्रकट किया, उसी को ये सभी पशु, प्रजाजन बोलते हैं।) इससे यह प्रतीत होता है कि प्रथम संहिता (अविच्छिन्न वाणी का स्वरूप) द्वितीय पद (नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात तथा इनके उपभेद) तृतीय प्रकृति-प्रत्यय रूप वर्ण यही वाणी का क्रम है।

शब्दानुशासन के दो स्वरूप

उपर्युक्त विवेचन से शब्दानुशासन के दो स्वरूप लक्षित होते हैं—

(१) लौकिकशब्द व्युत्पादक। जैसा कि कहा गया है—'**पदलक्षणाया वाचोऽन्वाख्यानं व्याकरणमिदम्**'[2] यह व्याकरण पदरूप वाणी का अन्वाख्यान करता है जिसका प्रयोग लोक में होता है।)

(२) परमार्थवस्तु प्रतिपादक। यह मुख्य है, क्योंकि जीवन का परम, चरम पुरुषार्थ मोक्ष है। उसकी प्राप्ति ब्रह्मज्ञान से होती है। वह ब्रह्म परा-वाणी के रूप में हृदयाकाश में अज्ञान से तिरोहित रहता है। उसका प्रत्यक्ष ही शब्द वेत्ता का एक मात्र लक्ष्य है। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—

'**महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्**'[3]

वाक्यपदीयकार ने स्पष्ट रूप से कहा है—

'**तस्माद् यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः,**
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते ।'[4]

(अतः शब्द का शुद्धज्ञान परमात्मा की सिद्धि का उपाय है। उसके विकृति रूप तत्त्व को जानने वाला अमृत स्वरूप ब्रह्म से सायुज्य प्राप्त करता है।) इसमें बड़ी निपुणता से भर्तृहरि ने ब्रह्म को विकार रहित एवं उसकी प्रकृति को विकृतिमयी कहा है। इस सिद्धान्त में सांख्य दर्शन का समन्वय है। श्रीमद्भागवत में भी इस शब्द ब्रह्म की उपासना का फल मोक्ष बताया गया है—'**द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम्**'[5]। जिस (शब्द ब्रह्म)

---

१. ऋग्वेद ८।१००।११
२. वात्स्यायन भाष्य २।१।५५
३. म० भा० १।१।१ पृ० ३१
४. वाक्य० १।१३२
५. श्रीमद्भागवत १२।६।३८

की उपासना से द्रव्य (आधिभौतिक) क्रिया (आध्यात्मिक) तथा कारक (आधिदैविक) नामक मल (दोष) को दूरकर योगी जन्ममरण दुःखराहित्य रूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

पाणिनीय वैयाकरण सम्प्रदाय के मनीषियों ने शब्द-व्युत्पत्ति तथा शब्द-सिद्धि दोनों ही स्वरूपों पर समान रूप से प्रगति की तथा जैसे प्रकृति-प्रत्ययार्थ की गहनगवेषणा द्वारा उन्होंने अखण्ड भाषा-विश्लेषण कर उसके अंग-उपांग की व्याख्या में अपने उर्वर मस्तिष्क को चरितार्थ कर उसकी समीक्षा की। वैसे ही उन्होंने व्याकरण-शास्त्र को स्वतन्त्र-दर्शन का स्थान देकर शब्द ब्रह्मवाद सिद्धान्त की स्थापना का श्रेय भी प्राप्त किया।

शब्द ब्रह्मवाद के संस्थापक वैयाकरणाचार्य

शब्द ब्रह्मवाद का अर्थ है, वह चिन्तन-प्रक्रिया जिसमें शब्द को ब्रह्म मानकर जैसे यह जगत् ब्रह्म का अन्यथाभास है, वैसे ही उसे शब्द का विवर्त सिद्ध किया गया है। इसे ही शब्दतत्त्व या **स्फोटवाद** भी कहते हैं। सर्व-प्रथम शब्दब्रह्म की मान्यता का संस्थापक कौन महर्षि था, इसका कोई निर्णय नहीं किया जा सकता। श्रुतियों में शब्द, ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादन करने वाले '**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म**' इत्यादि वाक्य मिलते हैं। इनका उल्लेख प्रथम परिच्छेद के शब्द ब्रह्म विचार नामक प्रकरण में किया गया है।[1] पाणिनीय व्याकरण पद्धति के प्रथम प्रवक्ता महर्षि पाणिनि ने कहीं पर शब्द-ब्रह्म की सिद्धि पर कुछ नहीं कहा, क्योंकि उनकी अष्टाध्यायी का प्रयोजन मुख्यतः शब्द-व्युत्पत्ति के द्वारा शब्द-साधुत्व-निरूपण है। यद्यपि विद्वानों ने '**अ अ**' नामक सूत्र (८।४।६८ सूत्र) की व्याख्या द्वारा यह सिद्ध किया है कि '**अ—शब्द ब्रह्म**' का विवर्त रूप ही वाङ्मय विश्व है तथा उसका संवृत होना ही विश्व का लय है।

व्याडि

पाणिनि के समकालिक व्याडि ने व्याकरण दर्शन विषयक 'संग्रह' नामक ग्रन्थ निर्माण किया था। उसके कुछ अंश महाभाष्य तथा वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ टीका में मिलते हैं, जिनसे यह पता चलता है कि वे शब्द ब्रह्म के उपासक थे। महाराज समुद्रगुप्त के कृष्ण चरित के उपलब्ध अंश में व्याडि के विषय में लिखा गया है—

१. प्र० परि० पृ० ३—४

'रसाचार्य. कविर्व्याडि: शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः
दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः' ।[1]

ऐसी उक्ति है कि संग्रह ग्रन्थ में १४ हजार विषयों पर विचार किया गया था[2] तथा वह लक्षश्लोकात्मक ग्रन्थ था ।[3] वह आर्ष ग्रन्थ माना जाता था। महाभाष्य संग्रह ग्रन्थ का प्रतिबिम्ब है ।[4]

पतंजलि

महाभाष्यकार पतंजलि ने शब्द ब्रह्म का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—ब्रह्म की जो विशेषतायें नित्यत्व, विभुत्व, नाशोत्पादराहित्य, समाहितबुद्धिवेद्यत्व आदि कही गई हैं, वे सभी शब्द में भी दृष्टिगोचर होती है ।[5] प्रत्याहाराह्निक के अन्त में भाष्यकार ने कहा है—'**सोऽयमक्षर-समाम्नायः**···· **ब्रह्मराशिः**' ।[6]

भर्तृहरि

स्पष्टरूप में शब्द-ब्रह्म के सर्वप्रथम प्रतिपादक महावैयाकरण भर्तृहरि हैं। यह सम्भव है कि आज महाभाष्यकार तथा उनके समसामयिक अन्य दार्शनिकों के वचन उनके ग्रन्थों के कालकवलित हो जाने के कारण उपलब्ध न होते हों तथा उनके ही सिद्धान्त भर्तृहरि कृत वाक्यपदीय में संगृहीत हों, जैसा कि स्वयम् भर्तृहरि का कथन है—'प्राचीनकाल में पाणिनीय व्याकरण का व्याख्यानभूत **व्याडि कृत संग्रह** नामक महान् ग्रन्थ था। कालक्रम से सक्षिप्त ज्ञान से ही सन्तुष्ट होने वाले वैयाकरणों द्वारा उपेक्षित होने से वह ग्रन्थ नष्ट ही गया। तब आगम शास्त्र) वेत्ता महाविद्वान् **पतंजलि** ने व्याकरण-सिद्धान्तों के बीजों को एकत्र कर **महाभाष्य** की रचना की। वह भाष्य यद्यपि सरल शैली में लिखा गया था, परन्तु अर्थ-गाम्भीर्य होने के कारण साधारण विद्वान् उसका अर्थ नहीं समझ पाते थे। अतः शुष्क तर्क

---

१. कृष्णचरित श्लोक १६ (संस्कृत व्याकरण साहित्य के इतिहास द्वि० भा० में उद्धृत पृ० ७)
२. भर्तृहरिकृत महाभाष्य टीका से उद्धृत यु० मी० का हस्तलेख पृ० २३
३. म० भा० उद्योत पृ० १।१।१, पृ० ४६
४. वाक्य २।४८८
५. म० भा० १।१।२ अइउण सूत्र, पृ० ६९-७०
६ " १।१।२ पृ० १०३

त्र का अनुसरण करने वाले वाजि, सौभव तथा हर्यक्ष प्रभृति तार्किकों ने आर्ष ग्रन्थ महाभाष्य के अर्थ का अनर्थ कर दिया। इस प्रकार वह ग्रन्थ के शिष्यों के द्वारा अरक्षित होने से नष्टकल्प हो गया तथा दाक्षिणात्य द्वानों ने उसके स्वरूपमात्र की रक्षा कर उसे बचाये तो रक्खा, परन्तु ठन-पाठन की परम्परा नष्ट हो गई। वहाँ से चन्द्राचार्य, वसुरात प्रभृति द्वानों ने इसे दैवसंयोग से प्राप्त कर विभिन्न दार्शनिक भेदों का ज्ञान वम् अपने व्याकरण-दर्शन का अभ्यास किया तथा गुरु वसुरात ने यह करण दर्शन ग्रन्थ बनाया।[1]

वाक्यपदीय की रचना ने व्याकरण दर्शन की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा कर। भर्तृहरि के कथन से यह प्रतीत होता है कि जहाँ एक ओर वैयाकरण चार्य अपने शब्द-ब्रह्म सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर रहे थे, वहीं सांख्य, मांसक, वेदान्ती तथा नैयायिक इसके खण्डन में लगे थे। प्रत्येक नये द्धान्त की मान्यता सरलता से नहीं हो जाती, उसमें कुछ काल तक ण्डन-मण्डन का प्रवाह चलता है, तदनन्तर उसका पृथक् अस्तित्व न लिया जाता है। वाक्यपदीय के टीकाकार स्वयं भर्तृहरि, वृषभदेव, ण्यराज, हेलाराज आदि ने व्याकरण-दर्शन-प्रतिपाद्य शब्द-ब्रह्म का म्यक् विवेचन कर इसकी मान्यता को सुदृढ़ किया।

ण्डन मिश्र

आचार्य शंकर तथा कुमारिल भट्ट के सम-सामयिक मण्डन मिश्र ने बड़े प्रौढ़, तर्कपूर्ण प्रमाणों द्वारा वैयाकरण-मत को प्रमाणित किया। वैयाकरणों ने यद्यपि शब्द-ब्रह्मवाद पर मुख्यतः भर्तृहरि के बाद उस प्रकार चिन्तन नहीं किया, जैसा शब्द-निरुक्ति पर, परन्तु अन्तःसलिला सरस्वती की तरह उसकी परम्परा टूटी नहीं, अपितु अन्तर्हित, प्रकट होती हुई विकसित ही होती गई। इस परम्परा को अनुप्राणित करने वाले निम्नलिखित वैयाकरण हैं—

कैयट

कैयट ने महाभाष्य की प्रदीप नामक टीका की थी। दार्शनिक विचार में यह भर्तृहरि के ही अनुगामी थे।[2] इनके गुरु का नाम महेश्वर

---

१. वाक्य २।४८४, ४९०
२. म० भा० प्रदीप मंगलाचरण श्लोक ७

था ।[1] प्रदीप के मंगलाचरण में ही परमात्मा को सदसद्रूपातीत कहा है। अद्वैतवेदान्ती सद्ब्रह्म मानते हैं तथा वैयाकरण **शब्द-ब्रह्म**, जो सद्ब्रह्म की प्राप्ति का साधनभूत होते हुए भी तद्रूप ही है, जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—**तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते** ।[2] (शब्द का तत्त्ववेत्ता परब्रह्म को प्राप्त करता है) महाभाष्य के प्रत्याहाराह्निक में उक्त **ब्रह्मराशि** पद के प्रदीप में कैयट ने स्पष्ट कहा है—**'ब्रह्मतत्त्वमेवेहानन्दस्वरूपतया प्रतिभातीत्यर्थः'** ।[3] महाभाष्य के शब्द-निरूपण प्रस्ताव की व्याख्या में कैयट ने **'उच्चारितेन'** का अर्थ **'प्रकाशितेन'** किया है। वेदान्ती ब्रह्म को प्रकाशस्वरूप मानते हैं। कैयट ने भी शब्द को प्रकाश-स्वरूप बताया है।[4] इसी प्रकार **'चत्वारि शृंगा .....'** ऋचा के व्याख्यानभूत भाष्य के प्रदीप में कैयट का कथन है कि इस मन्त्र में शब्द का निरूपण **वृषभरूप** में किया गया है तथा **'महता देवेन'** का अर्थ कैयट ने **'परेण ब्रह्मणा'** (परब्रह्म से) कहकर उसे शब्दरूप माना है।[5]

शेषकृष्ण

वैयाकरणों की यह परम्परा अविच्छिन्न ही रही, भले ही मध्यकाल के विद्वानों के तद्विषयक ग्रन्थ न मिलें। कैयट के बहुत दिनों बाद शेषकृष्ण का **स्फोटतत्त्व निरूपण** ग्रन्थ मिलता है। ये शेषकृष्ण भट्टोजिदीक्षित के गुरु थे। ये शब्दब्रह्मोपासक थे, जैसा कि इनके मंगलाचरण से ही स्पष्ट होता है।

भट्टोजिदीक्षित

शेषकृष्ण के शिष्य भट्टोजि दीक्षित अपने समय के उद्भट विद्वान् थे। इन्होंने जहाँ शब्दज्ञान की सरल पद्धति **'सिद्धान्त कौमुदी'** की रचना की तथा पाणिनीय सूत्रों के पातंजल महाभाष्य के व्याख्यानभूत **'शब्द कौस्तुभ'** व प्राचीन वैयाकरणों की दोषपूर्ण मान्यताओं के निरासार्थ **'प्रौढमनोरमा'** ग्रन्थ बनाये, वहीं प्रसंगतः शब्द ब्रह्म के सिद्धान्त की पुनरावृत्ति भी कर दी।

---

१ म० भा० प्रदीप मंगलाचरण श्लोक ४

२. वाक्य १।१३२

३. म० भा० प्रदीप १।१।२ पृ० १०२

४. ,, ,, ,, पृ० १२

५ स्फोटतत्त्व निरूपण श्लोक १

जैसा कि उन्होंने शब्दकौस्तुभ में भर्तृहरि के आगम काण्ड के विषय में कहा है— इस प्रकार जैसे कोई निर्धन कौड़ी की खोज में लगा हो और वह चिन्तामणि पा जाय। 'वशिष्ठ रामायण' में उक्त इस कहावत के अनुसार शब्द-विचार के लिए प्रवृत्त भर्तृहरि ने 'वेदान्तिसम्मत अद्वैत ब्रह्म की भी व्युत्पत्ति कर देनी चाहिए' इस अभिप्राय से प्रसंगतः विवर्तवाद आदि की व्याख्या कर दी है।) उन्होंने वैयाकरण को शब्दाद्वैतवादी माना है।[1]

कौण्डभट्ट तथा मौनिश्रीकृष्ण

भट्टोजिदीक्षित की विद्या व जन्म दोनों वंशपरम्परा ने शब्द-सिद्धि तथा शब्द-ब्रह्म-सिद्धि (स्फोट-सिद्धि) दोनों क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति की। इस काल तक स्फोट विरोधी वाद भी प्रौढ़ हो चुका था तथा दर्शन के क्षेत्र में दोनों धारायें समानान्तर गति से चल रही थी। विचारों के परस्पर प्रभाव पड़ने से खण्डन-मण्डन का क्रम प्रायः चला करता था। भट्टोजिदीक्षित के अनन्तर उनके भतीजे कौण्डभट्ट ने **'वैयाकरण भूषण'** तथा **'वैयाकरण भूषण सार'** नामक दो ग्रन्थ लिखे, जिनमें वैयाकरण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उनके ग्रंथ भट्टोजिदीक्षित की कारिकाओं के व्याख्यान हैं। वे शब्द-ब्रह्म के प्रतिपादक थे, जैसा कि भूषण की अन्तिम कारिका से ध्वनित होता है।

इत्थं निष्क्रियमाणं यच्छब्दतत्त्वं निरंजनम्।
ब्रह्मेत्यक्षरम् प्राहुस्तस्मै पूर्णात्मने नमः॥[2]

इसी परम्परा में दीक्षित, कौण्डभट्ट के उत्तरवर्ती **मौनि श्रीकृष्ण भट्ट** भी शब्दवादी ब्रह्मवादी थे, उन्होंने शब्द के तीन अर्थ बताकर चैतन्य को शब्दब्रह्म माना है—

शब्द ब्रह्मेति शब्दार्थः शब्दमित्यपरे जगुः।
चैतन्यं सर्वभूतानां शब्द ब्रह्मेति मे मतिः॥[3]

१. शब्द का अर्थ ब्रह्म। २. शब्द का अर्थ शब्द (अनेक ध्वनि व्यंग्य वाक्य रूप) ३. शब्द का अर्थ सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में वर्तमान

---

1. शब्दकौस्तुभ १।१।१, पृ० १२
2. वै० भू० सा० कारिका ७४, पृ० ५८३
3. स्फोटचन्द्रिका, पृ० १५

चैतन्य।) इस प्रकार 'वृत्तिविशिष्ट अन्तःकरण, जो सूक्ष्म वाग् रूप में स्थित रहता है, वही लौकिक शब्द रूप में प्रत्यक्ष होता है।' ये भाष्य तथा वाक्यपदीयकार के मतानुयायी हैं। भाष्यकार के 'आख्यातोपयोगे' सूत्र में शब्द को ज्ञान का परिणाम माना है[1] तथा भर्तृहरि ने उसका समर्थन किया है।[2] शिक्षाकार का भी यही निर्णीत मत है।[3]

'वृत्तिविशिष्ट चैतन्य ही शब्द रूप में प्रकट होता है' यह प्रायः सभी वैयाकरणाचार्यों का सिद्धान्त है। इसमें अद्वैत सम्प्रदाय के ब्रह्मवाद तथा शैवागम एवं शाक्त सम्प्रदायों के स्वातन्त्र्यवाद का समन्वित प्रभाव है। सामान्यतः तन्त्र ग्रन्थों में अर्थबोधनेच्छा से युक्त चैतन्य (चिति) को शब्द-परिणामी माना गया है। अद्वैत दर्शन में जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहा गया है। वैयाकरणों ने चैतन्य को ही सूक्ष्म शब्द माना है। यही अन्तःकरण (आन्तर ज्ञाता) नाम से कहा गया है। तन्त्रों में ब्रह्म की शक्ति के स्फुरण को ही उसका विलास मानकर सूक्ष्म से स्थूल शब्द का विकास-क्रम बताया गया है। वैयाकरणों ने दोनों का समन्वित रूप मान कर अपना उपर्युक्त सिद्धान्त स्थिर किया है।

नागेशभट्ट

शब्द-ब्रह्मवाद के सिद्धान्त को नागेशभट्ट ने एक नया मोड़ दिया। इसके पूर्व वैयाकरण ब्रह्माद्वैतवाद के प्रभाव में थे। अतएव उन्होंने ब्रह्म की विभूतियों को शब्द में पाकर उसे भी नित्य, एक तथा विभु मानकर समस्त विश्वप्रपंच को शब्द का विवर्त सिद्ध किया। भर्तृहरि शैवागमों के भी ज्ञाता थे, परन्तु सिद्धान्ततः अद्वैतवादी थे। नागेशभट्ट पर शिवदृष्टि (शैवागम) तथा शारदातिलक का विशेष प्रभाव पड़ा था। उन्होंने शब्द-ब्रह्म को शक्ति के बिन्दु का कार्य बताया है नागेश का यह सिद्धान्त **प्रपंचसार** ग्रन्थ के अनुरूप है।

शब्दब्रह्मवाद के स्वरूप-विकास की पृष्ठभूमि

शब्द ब्रह्मवाद की इस विकास-परम्परा की पृष्ठभूमि में उसको प्रभावित करने वाले अद्वैत सिद्धान्त, शैवागम तथा शाक्त सिद्धान्त हैं।

---

१. म० भा० १।४।२६

२. वाक्य० कारिका ११२

३ पा० शि० , ६

अद्वैत सिद्धान्त

अद्वैत सिद्धान्त व्याकरण दर्शन के शब्दाद्वैतवाद की आधारशिला है। श्रुतियों में ऐसे समान मन्त्र प्राप्त होते हैं, जिनसे शब्द ब्रह्म तत्त्व में एकता की प्रतीति होती है। ऊपर इस प्रकार के मन्त्र वाक्यों का उद्धरण किया जा चुका है। अन्य वाक्य भी देखिये 'वाग् ब्रह्म,[1] वाग् वै ब्रह्म'[2]। तीन प्रकाशों (अग्नि, आत्मा तथा शब्द) में शब्द की गणना है।[3] इसी प्रकाश्य-प्रकाशक शक्ति के कारण शब्द ब्रह्म से ऐक्य रखता है। परन्तु व्याकरण दर्शन एक-मात्र अद्वैत सिद्धान्त पर ही आधारित नहीं है। कुछ ऐसे भी संकेत मिलते हैं, जिनमें वैयाकरणों की अन्य दर्शन भेदों में निष्ठा लक्षित होती है, विशेष-कर प्रत्यभिज्ञा तथा स्वातन्त्र्य दर्शन के सिद्धान्तों पर, तथा अद्वैत शैव दर्शन, सांख्य-योग दर्शन में भी उनकी आस्था दृष्टिगोचर होती है।

शब्द के सम्बन्ध में इन दर्शनों के संक्षिप्त सिद्धान्त इस प्रकार हैं—मीमांसक तथा अद्वैतवेदान्ती वर्णवादी हैं। ये वर्णात्मक शब्द को नित्य मानते हैं। वेद का प्रामाण्य शब्द-नित्यता पर ही आधारित है, परन्तु वेदान्ती शब्द को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं, तद्रूप नहीं। गुरु-शिष्य परम्परा से ही वे शब्द-नित्यत्व को स्वीकार करते हैं, अनादि, ब्रह्मपर्याय रूप से नहीं।

अक्षर पद का अर्थ

महाभाष्यकार ने अक्षर के निम्नलिखित तीन अर्थ किये हैं—

'अक्षरं न क्षरं विद्यात् अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्,

वर्णं वाहुः पूर्वसूत्रे, ...'

(१) न क्षीयते न क्षरति वा अक्षरम्।

तच्च ब्रह्मतत्त्वं परमार्थतो नित्यम्। (प्रदीप)

(जो नष्ट न हो, वह परमार्थ रूप नित्य ब्रह्म अक्षर है।)

(२) अश्नुते इत्यक्षरम् √ अश् धातु + औणादिक सरत् प्रत्यय।

अर्थमश्नुते व्याप्नोतीत्यक्षरम्—पदं वाक्यं वा। (प्रदीप)

(अर्थ को जो व्याप्त करे वह पद या वाक्य अक्षर है)

---

१. गो० ब्राह्मण पू० २।१०

२. जैमिनीय ब्रा० उ० २।९।६

३. वाक्य० १।१२

(३) अथवा पूर्वसूत्रे **वर्णस्याक्षरमिति** संज्ञा क्रियते ।
व्याकरणान्तरे **'वर्णा अक्षराणि'** इति वचनात् । (प्रदीप)
(दूसरे व्याकरणों में वर्ण को अक्षर कहा गया है। अतः वर्ण का नाम अक्षर है ।[1])

इसलिए ब्रह्म, वर्ण, पद तथा वाक्य में अक्षर व्यवहार होता है। वैयाकरणों ने सब को एक मान लिया है। वेदान्तियों ने अलग ही रखा है। अद्वैत वेदान्त में जो सूक्ष्मभूत है, वही सांख्य में तन्मात्र कहा जाता है तथा न्याय में उसी को परमाणु कहते हैं। **'तस्माद् वा एतस्मादाकाशः सम्भूतः'** का अर्थ परमात्मा से आकाश (सूक्ष्म शब्द) हुआ। **'आकाशाद् वायुः'** में वायुपद स्थूल शब्द का बोधक है। भर्तृहरि इसी अद्वैत वेदान्त-क्रम को मानते थे।

अद्वैत शैवागम

शैव दर्शन के दो भेद हैं—अद्वैत, द्वैत। अद्वैत शैव, दार्शनिक **नन्दिकेश्वर** पाणिनि के उपदेष्टा माने जाते हैं। उन्होंने 'अ' अक्षर को ब्रह्म, 'इकार' को माया (चिति) 'उकार' को विष्णु (सगुण व सर्वव्यापक) माना है[2] तथा सम्पूर्ण विश्व-प्रपंच को वाणी का विषय मानकर, सबकी स्थिति सूक्ष्म-शब्द मात्रा में इस प्रकार बताई है, जैसे वटबीज में वटवृक्ष की स्थिति रहती है।[3] अद्वैत शैव वर्ण की अभिव्यक्ति को इस तरह मानते हैं—समस्त विश्व पहिले कार्यकारण भाव-शून्य ज्ञप्ति मात्र (चैतन्य) रहता है। उसकी शक्ति उस चैतन्य का सान्निध्य प्राप्त कर समस्त वर्णों का कारण बनती है। चन्द्र व चन्द्रिका की तरह शक्तिमान्, शक्ति में भेद नहीं है। तथैव वाग्, अर्थ में भी भेद नहीं है।[4] इस आगम में शिव (परमात्मा) को समस्त तत्त्वों से परे माना गया है। वे लोक कल्याणार्थ शरीर धारण करते हैं।[5] आचार्य नन्दिकेश्वर ने 'अ' को निर्गुण प्रकाश स्वरूप परमेश्वर माना है—**अकारो ब्रह्मरूपः स्यान्निर्गुणः सर्ववस्तुषु**।[6] तथा **अकारः**

---

१. म० भा० १।१।२ पृ० १०२
२. नन्दिकेश्वर कारिका १, ७
३. ,, ,, २६
४. ,, ,, ८
५. ,, ,, २६
६ ,, ,, २

सर्ववर्णाप्य: प्रकाश: परमेश्वर:।'[1] इसीलिए विद्वान् को सभी वर्णों में 'अ' के अनुस्यूत (व्याप्त) होने की प्राप्ति होती है, मूर्ख को नहीं। इसी प्रकार 'ह्' को शिव (निर्गुण ब्रह्म) का शरीर कहा है—**हकार: शिववर्ण: स्यादिति शैवागमाच्छ्रुतम्**[2]।

इस प्रकार अद्वैत शैवागम के मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त ये हैं—

१. स्वातन्त्र्यवाद

ब्रह्म निर्गुण है। उसकी माया, जिसे चिति, चित् या कला कहते हैं, वह स्वतन्त्र है। उसके सान्निध्य से निर्गुण ब्रह्म भी सगुण होकर ईश्वर-पदवाच्य होता है, तब उसकी क्रिया प्रारम्भ होती है। यही 'अ इ उ ण्' माहेश्वर सूत्र का अर्थ है। अ—निर्गुण ब्रह्म, इ—स्वातन्त्र्य रूप चित् (कला) का आश्रय लेकर, उ—ईश्वर पद वाच्य, ण्—थे। चित् को स्वतन्त्र शक्ति मानने के कारण ये स्वातन्त्र्यवादी कहे जाते हैं। **'चिति: स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु:।'**[3]

२. अद्वैतवाद

ब्रह्म ही माया का आश्रय लेकर, जगद्रूप का जनक होता है। ब्रह्म प्रकाश स्वरूप है तथा उसकी शक्तिरूप चित् (कला) इच्छा, स्वातन्त्र्य, विमर्श आदि शब्दों से कही जाती है। शक्ति, शक्तिमान् में अभेद मानने से ये अद्वैतवादी माने जाते हैं।

३. प्रत्ययवाद

जैसे स्वप्न की वस्तु का आभास काल में घट, पट, राजा इत्यादि के रूप में भान होता है, परन्तु बोध हो जाने पर वह केवल मन के आकार की ही हो जाती है, वस्तु की पृथक् सत्ता नहीं रहती तथा जैसे कवि की प्रतिभा से उद्भुत विविध लेख, काव्य आदि उसकी शक्ति के साथ एक रूप होते हैं, उसी तरह सम्पूर्ण सृष्टि साधारण जन द्वारा पृथक्-पृथक् मानी जाती हुई भी, जब योगी की शक्ति द्वारा देखी जायगी, तब वह

---

१. नन्दिकेश्वर का० १

२. स्फोट दर्शन में उद्धृत, पृ० ५७

३. प्रत्यभिज्ञाहृदय सूत्र १

ज्ञानरूप ही होगी। इस प्रकार यह समस्त विश्व परमार्थतः प्रत्यय मात्र ही है। जैसा कि कहा गया है—'**सर्वं परात्मकं पूर्वं ज्ञप्तिमात्रमिदं जगत्।**'[1]

वैयाकरण इनके सिद्धान्त का अनुसरण कर, 'अ' (निर्गुण ब्रह्म) + 'इ' (चित्कला माया) = ए को विश्लेषण-दृष्टि से दो अक्षर मानते हुए भी, अनुभूति में एक ही मानते हैं। इसी प्रकार 'अ' (निर्गुण ब्रह्म) + 'उ' (सगुण ब्रह्म) = औ को एक न केवल वैयाकरण, बल्कि 'म्' के साथ वेदान्ती भी मानते हैं। यह शैवाद्वैतवाद का निर्गुण-सगुण ब्रह्मैक्यवाद उपनिषद् तथा गीता में स्वीकार किया गया है—इसीलिए उसे 'ॐ' इस एकाक्षर रूप में लिखा जाता है—

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।'[2] तथा
'तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योम् इत्येतत्।'[3]

वैयाकरण सिद्धान्त में उनका प्रभाव

वैयाकरणों ने इनके स्वातन्त्र्यवाद को अपनाया है, जैसा कि महर्षि पाणिनि के '**स्वतन्त्रः कर्ता**' तथा '**कारके**' दो सूत्रों के अर्थ से स्पष्ट होता है। दोनों में 'कृ' धातु है, 'कर्ता' में 'तृच्' तथा 'कारक' में '**ण्वुल्**' प्रत्यय है। ये दोनों प्रत्यय समानार्थक हैं। ऐसी स्थिति में जिसकी कर्ता संज्ञा होगी, उसकी कारक संज्ञा भी होगी, करण आदि संज्ञायें न होंगी, क्योंकि ये कर्ता के अधीन हैं। इसका यह उत्तर है—यद्यपि सम्पूर्ण क्रिया प्रति कारक एक है, परन्तु उसकी अवान्तर क्रियायें अनेक हैं, (एक पाक क्रिया की इँधन जलाना, चूल्हे में बटलोई रखना, उसमें पानी तथा चावल डालना इत्यादि अनेक अवान्तर क्रियायें होती हैं।) उन क्रियाओं में और कारक भी स्वतन्त्र हैं, अतः अपने व्यापार के प्रति स्वतन्त्र होने से उनकी कारक संज्ञा होगी तथा कर्ता के व्यापार के अधीन होने से करण, अधिकरण आदि संज्ञायें भी होंगी।

इसी प्रकार जब स्वातन्त्र्य की विवक्षा उद्भूत होगी तब अधिकरण की भी कर्तृ संज्ञा होने से, 'स्थाली पचति' प्रयोग होगा। जब पारतन्त्र्य

---

१. नन्दिकेश्वर कारिका ४
२. गीता ८।१३
३. कठोपनिषद् १।२

की विवक्षा उद्भूत होगी, तब स्वातन्त्र्य भाव की हीनता से कर्तृ संज्ञा न होगी, तथा 'स्थाल्याम् पचति ।' प्रयोग होगा।

स्वतन्त्र का अर्थ—**तन्त्र शब्दः प्राधान्ये वर्तते ...... स्वप्रधान इति गम्यते । (भाष्यम्)** ।[1] 'स्वः शब्दः आत्मवाची, स्वः—आत्मा तन्त्रम्-प्रधानं यस्य सः, स्वतन्त्र'[2] अर्थात् जो कार्य करने में किसी के अधीन न होकर स्वाधीन हो। अद्वैतवादी शैव दर्शन में शिव ही इस प्रकार के स्वाधीन माने गये हैं। उनमें ही इस प्रकार की स्वतन्त्रता-स्फुरता-महासत्ता-भवनकर्तृता (नाम रूपधारी बनने की शक्ति) है। यह स्वतन्त्रता परमात्मा की विभूति है। वैयाकरणों ने शब्द तथा अर्थ का अभेद मानकर अद्वैत दर्शन के अभेदवाद में अपनी आस्था प्रकट की है। अद्वैतशैवागम का प्रत्ययवाद तो वैयाकरण दर्शन का प्राण है, जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—**'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते'**[3] (कहने वाले या समझने वाले की बुद्धि में कोई प्रत्यय (ज्ञान) ऐसा नहीं है, जो शब्द से अनुविद्ध न हो।)

द्वैतशैवागम

द्वैतशैवागम में प्रधान कालाख्या शक्ति ही सर्वोपरि मानी गई है। वही कालशक्ति प्रकृति का प्रतिपादन करती है। उससे प्रेरित वह प्रकृति, रचना करने की इच्छा से बिन्दु बन जाती है। काल के द्वारा भेद को प्राप्त वह बिन्दु तीन रूपों में विभक्त होता है—बिन्दु नाद तथा बीज। बिन्दु के भेद (स्फुटन-फुटना) से **अव्यक्त रव** उत्पन्न होता है। उसी को श्रुति-सम्पन्न (वेदज्ञानी) **शब्द ब्रह्म** कहते हैं।

> **बिन्दोस्तस्माद्भिद्यमानाद्रवोऽव्यक्तात्मकोऽभवत्**
> **स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति कथ्यते** ।[4]

शारदा तिलक में भी अव्यक्त रव को शब्द कहा गया है—

> **भिद्यमानात् पराद्विन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत**
> **शब्द ब्रह्मे ति तम् प्राहुः सर्वागमविशारदाः** ।[5]

---

१. म० भा० १।४।५४
२. ,, प्रदीप १।४।५४
३. वाक्य० १।१२३
४. प्र० सा० ४३ १/२, ४४ १/२
५. शारदातिलक
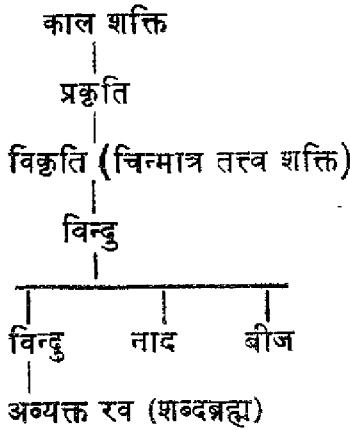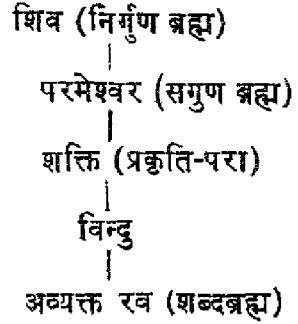
शाक्तमत

शाक्त सम्प्रदाय में शिव को **प्रकाश** तथा शक्ति को **विमर्श** मानकर नामरूपात्मक विश्व को विमर्श-शक्ति का परिस्फुरण माना गया है। जब वह विमर्श नामक शक्ति (कला) स्फुरणोन्मुख होती है, तब उसे परा वाक् कहते हैं। वही पश्यन्ती रूप में इच्छा शक्ति, मध्यमा रूप में ज्ञान शक्ति एव वैखरी रूप में क्रियाशक्ति के नाम से प्रसिद्ध होती है। जैसे बीज में सूक्ष्म-रूप से वृक्ष है तथैव यह विश्व परा वाणी में स्थित है।[1] प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सिद्धान्त भी इससे अंशतः साम्य रखता है। उसमें निर्णीत सिद्धान्त यह है—विश्व का विकास चिति (परावाक् या पराशक्ति) का विवर्त है। परावाक् ही ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के लिए संस्कृत के वर्णों में स्फुटित हो जाती है।[2]

नागेश भट्ट पर शैव तथा शाक्त मतों का प्रभाव

नागेश भट्ट ने उपर्युक्त शैव, शाक्त तथा तन्त्र सिद्धान्त से प्रभावित होकर अद्वैत सिद्धान्तानुसारी शब्दब्रह्मवाद का नवीन व्याख्यान प्रस्तुत किया। नागेश जी बहुश्रुत तथा प्रतिभासम्पन्न वैयाकरण थे। उन्होंने अन्ध-श्रद्धा से किसी पूर्व सिद्धान्त को नहीं माना, प्रत्युत सूक्ष्म दृष्टि से उसकी

---

१. योगिनी हृदय ३६-४८ श्लोक तथा सेतुबन्ध टीका

२ प्रत्यभिज्ञा हृदय सूत्र १-२

समालोचना कर उसे अपनाया या संशोधन किया। पाणिनीय सम्प्रदाय मे शब्द के सम्बन्ध में कई नवीन विचार इनकी बुद्धि की प्रसूति हैं। संक्षेप मे उन्हे इस प्रकार समझा जा सकता है—

१—शब्दब्रह्म, अनादि नहीं, अपितु सृष्टि-पर्यन्त नित्य है। सृष्टि के साथ शब्द का भी लय होता है।[1]

२—वाणी के चार भेद हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी।[2]

३—आचार्य भर्तृहरि ने वाणी के तीन ही भेद माने हैं—पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी, पुनः इन तीनों के परा, सूक्ष्मा, स्थूला ये तीन-तीन भेद और माने गये हैं। इस प्रकार वाणी को नवधा माना गया है। नागेश ने इस विषय पर महाभारत के श्लोक मंजूषा में उद्धृत किये हैं, जिनमें अन्तः स्वरूप ज्योति को परा कहा गया है, ये ही श्लोक वाक्यपदीय के प्रथम कांड की १४२ कारिका की स्वोपज्ञटीका में उद्धृत किये गये हैं। उनमे परा के स्थान में सूक्ष्मा लिखा है।[3]

४—जाति एक अतिरिक्त नित्य पदार्थ नहीं है, वल्कि वह अविद्या कल्पित पदार्थ है। व्यक्ति को पदार्थ मानकर उसमें अनुगताकार प्रतीति से जाति की कल्पना करने की अपेक्षा जाति को ही पदार्थ मान लेना चाहिये। वह विशेषण है। अतः तद्‌विशिष्ट व्यक्ति होगी ही। वह जाति प्रलयपर्यन्त ही नित्य है या उसकी प्रवाह-नित्यता मानी जानी चाहिये।[4] नागेश जी ने अपने मत के समर्थन में छान्दोग्य-उपनिषद् का एक वाक्य उद्धृत किया है।[5] 'अग्नेरग्नित्वमपागात्'[6] (प्रलयकाल में अग्नि के अग्नित्व का नाश हो गया।) इस वाक्य में धर्म (जाति) का नाश बताया गया है।

---

१. मंजूषा, पृ० ४१
२. " "
३. मंजूषा पृ० ४२
४. वाक्य (अम्बाकर्त्री), पृ० २५०
५ मंजूषा, पृ० ४८५ ८६
६ छा० उ० ६ ४ १

चतुर्थ परिच्छेद

●

शब्दार्थ-विचार तथा स्फोट का प्रादुर्भाव

शब्द के विषय में विभिन्न मत	अर्थ का तात्पर्य
वायुपरिणामवाद	अध्यास निरूपण
अणु-परिणामवाद	तन्त्र में शब्दोत्पत्ति-क्रम
ज्ञान-परिणामवाद	श्रुतिसम्मत वर्ण-प्रादुर्भाव
वैयाकरण मत निरूपण	महाभारत में वाणी का चतुर्विध रूप
वाणी के प्रयोग का हेतु	(परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी)
शब्दार्थमयी सृष्टि की प्रक्रिया	तन्त्रों में वाणी का विकास-क्रम
शब्दार्थज्ञान में अभ्यास का महत्त्व	शब्दार्थ-भेद का मूल कारण

शब्द के विषय में विभिन्न मत

शब्द के सम्बन्ध में दार्शनिकों ने पर्याप्त विचार कर अपने-अपने मत से सिद्धान्त-निर्णय भी किया है। भट्टपाद ने श्लोक वार्तिक में प्रायः सभी मतों का संकलन कर दिया है—

> **'त्रिगुणः पौद्गलो वायमाकाशस्याथवा गुणः,**
> **वर्णादन्योऽथ नादात्मा वायुरूपोऽर्थवाचकः।**
> **पदवाक्यात्मकः स्फोटः सारूप्यान्यनिवर्तने ॥'**

उसका विवरण इस प्रकार है—

दार्शनिक	शब्द विचार
सांख्य	त्रिगुण
जैन	पौद्गल (अणु का परिणाम)
नैयायिक	नादरूप
लौकिक (साधारण मनुष्य)	आकाश का गुण

शिक्षाकार	वायु का परिणाम
वैयाकरण	पदस्फोट, वाक्यस्फोट
विन्ध्यवासी (व्याडि)	सारूप्यम्
बौद्ध	अपोहरूप (घट शब्द घटातिरिक्त की प्रतीति की निवृत्ति करता है)

वाक्यपदीयकार ने इनमें से तीन मतों का उल्लेख किया है—

'वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते ,
कैश्चिद्दर्शनभेदोऽत्र प्रवादेष्वनवस्थितः ।'[1]

कोई (शिक्षाकार) शब्द को वायु का दूसरे (जैन) अणु का तथा वैयाकरण ज्ञान का परिणाम मानते हैं। नागेशभट्ट ने इस दर्शन-भेद को वैखरी के विषय में मानते हुए इसकी एकात्मकता सिद्ध की है।

वायु-परिणामवाद

शिक्षाकार का मत इस प्रकार है—वक्ता के इच्छानुवर्ती प्रयत्न से प्राणवायु में क्रिया उत्पन्न होती है। वही ताल्वादि स्थानों में टकराकर शब्द बन जाता है। इसे शिक्षा में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

'आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ,
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ,
वर्णान् जनयते .... ।'[2]

इसका अर्थ इस प्रकार है—आत्मा (अन्तःकरण) स्वगत अर्थों को, स्ववृत्ति बुद्धि के साथ एक बुद्धि विषय कर, मन को युक्त करता है। वह कायाग्नि को अभिहत करता है, तथा कायाग्नि वायु को प्रेरित करता है। वायु ही मूर्धापर्यन्त जाकर, वहाँ टकराकर, कण्ठ, तालु आदि स्थानों मे आघात कर, वर्णों की अभिव्यक्ति करता है। (यहाँ आत्मा का अर्थ अन्तःकरण है) इस विचार को शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य में चार सूत्रों में इस प्रकार कहा गया है—**'वायुः खात्, शब्दस्तद्, संकरोप, स संघातादीन् वाक् ।'[3]**

---

१. वाक्य० १।१०७
२ पा० शि० ६ ८
३ शु० य० प्रा० वा० अध्याय १ सूत्र ६ ६

इसका संक्षिप्त तात्पर्य यह है—वायु शब्द का कारण है वह आकाश से उत्पन्न होता है। शब्द वायु रूप है, परन्तु वेणु शंख आदि कारणों से उपहित होकर ही वह शब्द होता है तथा वही पुरुष-प्रयत्न से वर्ण रूप हो जाता है। योगसूत्र में व्यास ने कहा है—

'वागिन्द्रियं वर्णेष्वेवार्थवत्, श्रोत्रं च ध्वनिपरिणाममात्र-विषयम्'[1]। **(ध्वनिर्नाम—वागिन्द्रियादौ उदानवायोरभिघाताज्जायमानः उदानवायोराकाशस्य परमाणूनां वा परिणामभेदः, स च वर्णरूपोऽप्यवाचकत्वाद् ध्वनिरिति तद् व्याख्यातारः)** इसमें स्पष्ट रूप में ध्वनि को ही वायु का परिणाम कहा है।

अणुपरिणाम वाद

जैन शब्द को ध्वनि-परमाणुओं का परिणाम मानते हैं। **'परमाणुपरिणामः शब्दः'** (प्रमेय कमल मार्त्तण्ड में विशेष रूप से इसका निरूपण हुआ है, इसमें नैयायिकाभिमत शब्द के आकाश गुणत्व का खण्डन कर अनुमान प्रमाण द्वारा उसे **पौद्गलिक** माना गया है।) अनुमान दो हैं—१. **शब्द. पौद्गलिकः, इन्द्रियार्थत्वाद् रूपादिवत्**। (इन्द्रिय विषय होने से, रूप आदि की तरह शब्द भी अणु का परिणाम है।)

२. **शब्दः सामान्यविशेषात्मकः, पौद्गलिकत्वाद् रूपादिवत्**। तथा पौद्गलिक होने से रूपादि की तरह शब्द भी सामान्य विशेष उभयात्मक है। जैनों का यह तात्पर्य है—वाचक शब्द दो प्रकार का है—सामान्य, विशेष। सभी शब्दों में अनुगत शब्दत्व सामान्य है तथा गो, गोम, गोमती आदि में मन्द्र, तार, उदात्तादि भेद से अनेक व्यक्तिरूप भेद से, वह शब्द अनेक है। ये परमाणु सर्वशक्तिमान हैं। (इनमें सब प्रकार के विलक्षण कार्य करने की शक्ति है।) इनकी क्रिया होती रहती है। ये विभक्त होकर छाया, घाम, अन्धकार, जैसे पदार्थों में तथा (संयुक्त होकर) शब्द के रूप में परिणत होते हैं। जब अर्थ बोध कराने की इच्छा से प्रयत्न द्वारा शब्द तन्मात्रारूपी परमाणु प्रेरित होते हैं, तब जैसे वर्षाकाल में जलतन्मात्रारूपी परमाणु मेघ के रूप में आकाश में व्याप्त हो जाते हैं तथैव शब्द परमाणु भी वैखरी शब्द रूप में परिणत हो जाते हैं।[2]

---

१. यो० सू० भा० ३।१७

२. वाक्य० १ ११० १११

ज्ञान परिणामवाद

भर्तृहरि का कथन है—

'अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मवागात्मना स्थितः,
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते ।'[1]

वृत्तिविशिष्ट अन्तःकरण ज्ञानरूप से स्थित है, वही अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए शब्द के रूप में विवृत होता है। आगे उन्होंने उस विवर्त की प्रक्रिया भी बताई है। वही अन्तःकरण अर्थबोध की इच्छा से मन बनता है तथा जठराग्नि को प्रेरित करता है, एवम् प्राण वायु को आहत करता है, तदनन्तर वह वायु ऊर्ध्व गमनार्थ प्रेरित होता है एवं ताल्वादि के द्वारा आघात पाकर अपनी ग्रन्थियों (क आदि वर्ण रूप को विभक्त कर (पृथक् रूप से सुनाई पड़ने वाली ध्वनियों के रूप में अभिव्यक्त कर) उन्हीं वर्णों मे लीन होकर एकत्व की ओर पुनः उन्मुख हो जाता है। जैसे अतिसूक्ष्म वायु भी पंखा द्वारा अभिव्यक्त होकर पंखा झलने वाले मनुष्य के पास अभिव्यक्त होता है तथैव अजस्रवृत्ति शब्द भी वक्ता के प्रयत्नवश श्रोता के कानों तक पहुँचकर उपलब्ध होता है।[2] जो अनवयव, बोधरूप, शब्दार्थमय, विभागरहित शब्दतत्त्व है, वही नादों के द्वारा प्रकाशित होता है, उसी को आचार्य शब्द व वाक्य कहते हैं। केवल शब्द ही अखण्ड नहीं होता, वरन् शब्दार्थ भी अखण्ड ही होता है। वे अखण्ड शब्दार्थ वस्तुतः एक हैं तथा एक ही आत्मतत्त्व के बाहर स्थित दो भेद हैं। यह भेद-प्रतिभास अन्तर्ज्योतिःस्वरूप शब्दतत्त्व की शक्ति के भेद से ही है, वास्तविक नहीं। जैसे ब्रह्म की भेदाभेदभिन्न अनिर्वचनीय स्थिति है तथैव शब्द की भी पारमार्थिक एकता, व्यावहारिक भिन्नता होती है।[3]

विचार करने पर वायु, अणु तथा ज्ञान की शब्द-परिणति में मौलिक भेद नहीं प्रतीत होता। वायु या अणु वक्ता की अर्थबोधेच्छा का ही अनुवर्तन करते हैं। अतः वक्ता की इच्छा का अधिष्ठान उसका अन्तःकरण ही है, इसीलिए इसका पाणिनीय शिक्षा से विरोध नहीं होता है। सांख्य-सम्मत त्रिगुणात्मक शब्द या नैयायिक-सम्मत आकाशगुणक

१. वाक्य० १।११२-११७
२. ,, २।३०-३२
३. ,, १।४

शब्द तो लौकिकध्वनिपरक है। ये दार्शनिक शब्द को केवल ध्वनिरूप ही मानते हैं, जो अनित्य है। नागेश भट्ट ने वायु, अणु या ज्ञान के शब्द-परिणाम-विषयक विचार को वैखरीपरक माना है।[1] अर्थात् अन्तःकरण पराशक्ति के रूप में स्थित रहता है, यही पश्यन्ती, मध्यमा क्रम से वैखरी शब्दरूप में परिणत होता है।[2] **'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे', 'स भूमिरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत्',**[3] **'नामरूपे व्याकरवाणि'**[4] तथा **'स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्'**[5] से स्पष्ट होता है कि समस्त विश्ववाग् रूप ब्रह्म का विवर्त है। **'वाग्वैब्रह्म'**[6] श्रुति द्वारा दोनों का ऐक्य स्वयं सिद्ध होता है।

वैयाकरणमत निरूपण

वैयाकरणों का सिद्धान्त है कि अक्षरसमाम्नाय ब्रह्मराशि है। जैसा कि ऋक्तन्त्र व्याकरण में कहा है—**इदमक्षरच्छन्दो वर्णशः समनुक्रान्तं ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्य ऋषयो ब्राह्मणेभ्यस्तं खल्विममक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते। न भुक्त्वा ननवतं ब्रूयाद् ब्रह्मराशिः।** 'स्वंरूपं शब्दस्य' सूत्र के भाष्य में समस्त अर्थ-जात को शब्द सहकृत ही माना गया है। वैयाकरण प्रकृति-प्रत्यय विभाग के द्वारा शब्दसाधुत्व का अन्वास्थान करने में प्रवृत्त हुए। क्रमशः उन्होंने शब्द-ब्रह्म की सिद्धि कर ली। इस प्रयत्न में चिन्तामणि सदृश 'स्फोट' की अनुभूति उन्हें हुई। **'आख्यातोपयोगे'**[7] सूत्र के भाष्य तथा प्रदीपोद्योत में शब्द का ज्ञान-स्वरूपत्व इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—यदि इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया जाय तो 'उपाध्यायात् अधीते' प्रयोग की सिद्धि कैसे होगी। उसका उत्तर है— उपाध्याय से निकले हुए शब्द-समूह का अध्ययन छात्र करता है, अतः अपादान होने से ही पंचमी होगी।

---

१. मंजूषा, पृ० १५४
२. मंजूषा पृ० १५६
३. तै० सं० २।२।४६
४. छा० ६।३।२
५. बृ० १।२।४
६. बृ० ४।१।२
७. म० भा० १।४।५६

शंका – अलग हुई वस्तु पुनः नहीं जुड़ती, जैसे वृक्ष से अलग हुआ फल पुनः नहीं जुड़ता। यहाँ तो शब्द-समूह ऐसा नहीं प्रतीत होता। इसका उत्तर देते हुए भाष्य में कहा गया है - **'सन्तत वात्'** अर्थात् शब्द (व्यंजक ध्वनि समूह) उपाध्याय के मुख से सन्तत उत्पन्न होता है। अतः इसमें अत्यन्त विच्छेद नहीं हो सकता। कैयट ने प्रदीप में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

उपाध्याय के द्वारा उत्पाद्यमान शब्द की व्यंजक ध्वनियाँ भिन्न होती हुई भी सादृश्य के कारण वही मान ली जाती हैं। श्रोता के कर्ण कुहर में पुनः पुन. जाती हुई ये स्फोट रूप शब्द को अभिव्यक्त करती हैं। आगे भाष्यकार ने कहा है—**'अथवा ज्योतिर्वज् ज्ञानानि भवन्ति।'** (प्रदीप) जैसे ज्वाला रूप प्रकाश अविच्छिन्न रूप से उत्पन्न होता हुआ, सादृश्यवश वही प्रतीत होकर निरन्तर रहता है, उसी तरह उपाध्याय का ज्ञान भिन्न शब्दबोध्य होता हुआ भी सन्तत होता है। इससे भाष्यकार का यह सिद्धान्त प्रतीत होता है कि ज्ञान ही शब्द रूप होता है। यहाँ एक और बात समझने योग्य है—'जनिकर्तुः प्रकृति[1]' के प्रत्याख्यानपरक भाष्य से प्रतीत होता है कि शब्द में भी सातत्य रहता है। जैसे जगत्-सातत्य है तथैव शब्द-सातत्य भी वैयाकरण-सिद्धान्त-सम्मत है। वैयाकरण ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानते हैं, परन्तु विवर्त या परिणामवाद में अन्तर नहीं मानते, इसीलिए भर्तृहरि ने विवर्तवाद से प्रारम्भ कर परिणामवाद में उपसंहार किया है—

> **'विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः।** तथा
> **'सर्वस्यपरिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।'**

दार्शनिकों में वैयाकरणों का सिद्धान्त वेदान्ती, योग तथा आगमवादियों के समन्वित विचारों पर आधारित है। आगे इस पर विशेष रूप से विचार किया जायगा कि इन दर्शनों के कौन से सिद्धान्त वैयाकरण-सम्मत हैं तथा क्यों। मुख्यरूप से व्याकरण शास्त्र सरल प्रणाली से शब्दार्थ ज्ञान द्वारा परब्रह्म की प्राप्ति कराने का सरल साधन है—**'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति।**[2]**'**

---

२. ,,　　१।४।३०

१. वाक्य १, १२०

वाणी के प्रयोग का हेतु

वाणी का प्रयोग अर्थ बोध के लिए होता है। छोटा बालक, जिसे अभी बोलना बिल्कुल नही आया है, वह भी भाव-प्रकाशन की क्षमता रखता है। अपनी भावना को वह रोकर या हँसकर प्रकट करता है। बच्चे की प्रथम गुरु माता उसकी भावना को जानती है। जहाँ अर्थ है वहाँ उसका बोधक शब्द अनिवार्य है, भले वह वैखरी रूप न हो। बालक जैसे अर्थ-बोध कराना चाहता है, वैसे ही वह शब्द की कल्पना भी करता है। यह शब्द-अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक है। देश व काल उसकी अर्थबोधकता का नियन्त्रण करते हैं। समस्त सृष्टि शब्द-अर्थ उभयात्मक है। उसका उद्भव परा से हुआ है, जहाँ ये दोनों अभिन्न, निश्चल रहते हैं। निरुक्त में इस क्रम का निम्नरीति से प्रदर्शन किया गया है[1]—

शब्दार्थमयी सृष्टिप्रक्रिया
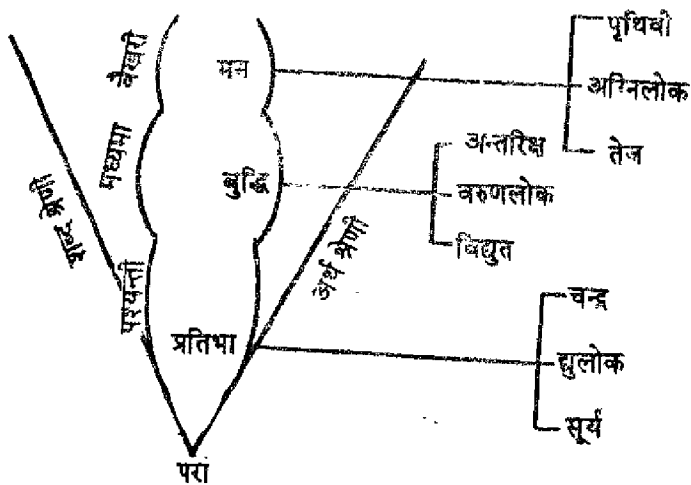
शारदातिलक में शब्दार्थमयीसृष्टि के सम्बन्ध में किये गये विचार का संक्षिप्त रूप यह है—

सच्चिदानन्दस्वरूप सगुण परमेश्वर से शक्ति का आविर्भाव हुआ। उससे नाद, (सृष्टि के उन्मुख घनीभूत अवस्था) तथा उससे विन्दु, और

---

१. निरुक्त (भाग १४ शब्द खण्ड)

बुद्धिगत शब्द, अर्थ में पारमार्थिक तादात्म्य रहता है, जिसका अध्यास कभी-कभी प्रयोग में भी होता है, जैसा कि मंजूषाकार का कथन है—**कः शब्दः ? कोऽर्थः इति प्रश्ने**, घट **इत्ययं शब्दः, घट इत्ययमर्थः इत्येकाकारोत्तरदर्शनात्तयोरध्यासंसिद्धिः। घट इत्याकारकं ज्ञानमिति व्यवहारात्, शब्दज्ञानयोरपि सः 'इति' शब्दस्य शब्दस्वरूपपरतात्पर्यग्राहकत्वात्।** अतएव **पदं श्रुतम्, पदार्थं शृणु अर्थं वदति इत्यादि व्यवहारः। शब्दार्थयोरितरेतराध्यासादेव 'वृद्धिरादैच्'**[1], **'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म'**[2] **इति शक्तिग्राहकश्रुतिस्मृत्योः सामानाधिकरण्येन प्रयोगः।**[3] (शब्द क्या है ? अर्थ क्या है ? इस प्रश्न का घट यह शब्द है, घट यह अर्थ (वस्तु) है। इसका एक रूप उत्तर होता है। अतः दोनों का अध्यास सिद्ध होता है। साथ ही घट यह ज्ञान है, इस व्यवहार से शब्द, ज्ञान में भी अध्यास की सिद्धि होती है। यहाँ 'इति' पद शब्द-स्वरूप का बोधक है। इसीलिए पद सुन लिया, अब पदार्थ सुनो, यह अर्थ कह रहा है, ऐसा शब्द में अर्थ का व्यवहार होता है। शब्द, अर्थ के अध्यास के कारण ही **'वृद्धिरादैच्'** सूत्र में संज्ञा, संज्ञी रूप वृद्धि, आदैच् में तथा **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म'**, इस उपनिषद् वाक्य मे ओम्, ब्रह्म रूप वाचक, वाच्य में प्रथमाविभक्ति का प्रयोग किया गया है।

अध्यास निरूपण

अध्यास का अर्थ है यह यह है (शब्द, अर्थ है; अर्थ शब्द है)

'अयम् अयम्' इत्याध्यासः यह वैयाकरणों का संकेत है। इसकी दूसरी परिभाषा यह है—**अतद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानम्** आरोपः—**अध्यासः** जिसमें वह तत्त्व नहीं है, उसमें उसकी प्रकारता से विशिष्ट ज्ञान को आरोप या अध्यास कहते हैं।

इसी कारण शब्द, अर्थ का भेदपूर्वक अभेद ज्ञान होता है।

तन्त्र, श्रुति एवं महाभारत में वाणी का चतुर्विध रूप (परा-पश्यन्ती-मध्यमा वैखरी)

तन्त्रों में योगिनी हृदय, प्रत्यभिज्ञा हृदय तथा प्रपंचसार में शब्द को अनित्य या व्यवहार-नित्य कहा गया है तथा उसके सूक्ष्मतम रूप का कल्पना करके वाणी को चतुर्विध माना गया है।

वाणी की एक परमसूक्ष्म ऐसी स्थिति मानी गई है, जहाँ शब्द व अर्थ में विभाग नहीं रहता और जो इस ध्वनि रूप वाक् का उपादान कारण है, जैसा कि श्रुतियों में कहा गया है—

(१) **सूक्ष्मामर्थेनाप्रविभक्ततत्त्वामेकां वाचमभिष्यन्दमानाम्,**
तामन्ये विदुरन्यामिव च नानारूपामात्मनि सन्निविष्टाम् ।[१]

(सूक्ष्म, अर्थ से जिसका स्वरूप भिन्न नहीं है, ऐसी बुद्धि में स्थित एक, शब्द, अर्थ दोनों रूपों में अभिव्यक्त होती हुई उस वाणी को अविद्वान् क ख ग इत्यादि ध्वनि रूप नाना प्रकार की मानते हैं।)

(२) **चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः,**
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।[२]

(भाष्यकार ने इसके '**चत्वारि पदानि**' का अर्थ नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात माना है तथा 'तुरीयम्' का अर्थ वाणी का चतुर्थ रूप जो मनुष्यों में वर्तमान है—ऐसा कहा है; परन्तु इस ऋचा के तृतीय चरण में लिखा है, इनमें तीन अज्ञान से आवृत होने के कारण साधारण मनुष्य के ज्ञान-सामान्य का विषय नहीं होते। केवल ज्ञानी मनीषी ही उन्हें जानते है। इस ऋचा के '**चत्वारि**' पद का माधव तथा नागेश भट्ट आदि व्याख्याताओं ने **परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी** चतुष्टय रूप अर्थ भी किया है।

(३) **या वागुदिता या चानुदिता शिवा नः शन्तमा भव,**
सु मृलीका सरस्वति मा ते व्योम सन्दृशे ।[३]

(इस ऋचा में उदिता—वैखरी, अनुदिता—मध्यमा, शिवा—पश्यन्ती तथा शन्तमा—परा व इन पदों से वाणी का रूप चतुष्टय प्रदर्शित किया गया है। इसका अर्थ इस प्रकार है—हे सरस्वति! आप वैखरी रूप से परगोचरा,

---

१. मंजूषा में उद्धृत, पृष्ठ ४१
२. म० भा० में ,, ,, ३२
१. परात्रींशिका (काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि ग्रन्थांक ६६) पृ० १६ में उद्धृत।

.ध्यमा रूप से आत्म संवेद्या, चित् का परामर्श कराने से दुःख के सम्पर्क से रहित शिवा रूपा तथा चिदानन्दघन रूप से शन्तमा रूपा हो, ऐसी आप हमारे प्रति अलौकिक-चिदानन्द का ज्ञान कराने वाली बनो; हम तुम्हारे स्वरूप का विस्मरण कराने वाले परदे के समान व्योम को न देखें। हमारा अज्ञान पटल दूर हो जाय।)

महाभारत में वाणी का चतुर्विध रूप इस तरह प्रतिपादित किया गया है। वाणी के चार भेद है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी। इनमें उत्तरोत्तर क्रम से स्थूलता आती जाती है। सभी प्राणियों के प्राण, अपान वायु के मध्य में वाग् रूपा देवी सदा विराजमान रहती हैं। अर्थबोध की इच्छा से शब्द का प्रयोग करने वालों की प्राणवायु से अभिव्यक्त वही वाक्, कण्ठ आदि स्थानों में वायु के ध्वनिरूप विवर्त होने पर क, ख, ग आदि वैखरी रूप होकर, दूसरे के श्रवणेन्द्रिय से ग्राह्य होती है। उसी प्राणवायु के व्यापार का अनुसरण कर शब्द, अर्थ विशेष के विभाग से युक्त स्वबुद्धिमात्र गोचर वही वाक्, मध्यमा नाम से व्यवहृत होती है। मध्यमा वैखरी की अपेक्षा सूक्ष्म होती है। वही कार्य-कारण-विभाग से रहित, वर्णक्रम-रहित पश्यन्ती नाम से प्रसिद्ध मध्यमा से सूक्ष्मतर है। वह नित्य वाणी, मूलाधार में शाश्वत रहने वाली ज्योतिः स्वरूप परावाक् है।[1]

प्रपंचसारोक्त 'रव' परा वाणी का नामान्तर है। इसका विशद वर्णन नागेश ने मंजूषा में इस प्रकार किया है[2] - जब सभी प्राणियों के निश्चितकाल में फल प्रदान करने वाले कर्मों का उपभोग से नाश हो जाता है, अवशिष्ट कर्मों का फल प्रलय के बाद सृष्टि होने पर मिलता है, तब भौतिक प्रलय होता है। भोगों को भोग चुकने वाले प्राणियों का माया मे लय तथा माया का चेतन ईश्वर में लय ही प्रलय है। इस प्रकार वासनाओ के साथ अन्तःकरण की सूक्ष्मरूप से माया में, अविद्या (माया) की सूक्ष्म-रूप से ब्रह्म में अवस्थिति रहती है। यह स्थिति निश्चितकाल तक रहती है। सारा विश्व-प्रपंच सुप्त जैसा रहता है। सब कुछ सिमिट कर चिन्मात्र रूप रहता है। यह प्रलय आत्यन्तिक नाश नहीं होता, अन्यथा उत्तरकालिक सृष्टि न होती। प्रलयकाल की समाप्ति के साथ जब प्राणियों के अभुक्त

---

१ मंजूषा में उद्धृत पृ० ४१

२ मंजूषा रत्नप्रभा सहित पृ० १४१ १४०

कर्म-फलों के प्रदान करने का समय आता है, तब भगवान् की यह इच्छा होती है कि अकेला मैं अनेक हो जाऊँ। एक अद्वितीय ब्रह्म की इच्छा ही माया है। वह सृष्टि करने की इच्छा है। उस माया वृत्ति से विन्दु रूप अव्यक्त (त्रिगुणात्मिका प्रकृति) उत्पन्न होती है। उस त्रिगुण विन्दु के चित्, अचित् तथा चिदचित् तीन अंश क्रमशः विन्दु, बीज तथा नाद नामों से व्यवहृत होते हैं। उस चिदंश विन्दु से वर्ण आदि की विशेषता से रहित, ज्ञान की प्रधान सृष्टि के उपयुक्त 'रव' होता है। उसी को वैदिक विद्वान् शब्दब्रह्म, शाक्तसिद्धान्ती परा वाणी के नाम से पुकारते हैं।

> विन्दोस्तस्माद् भिद्यमानाद्रवोऽव्यक्तात्मकोऽभवत्,
> स एव (रव) श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते।[1]

दूसरे आगमों में भी विन्दु को परशक्तिमान् कहा गया है—

> भिद्यमानात्पराद्विन्दोरव्यक्तात्मा ततोऽभवत्,
> शब्दब्रह्मेति तं प्राहुः सर्वागमविशारदाः ।

यह विन्दु स्वरूप रव (परावाक्) व्यापक होने पर भी, जब पुरुष स्वबुद्धि निर्णीत अर्थ को कहना चाहता है, तब उसके प्रयत्न से युक्त होने पर ही अभिव्यक्त होता है। उस परावाक् का दूसरा आधार नहीं है। इसलिए उसे **'स्वप्रतिष्ठा'** कहा जाता है। **'परा वाङ्०मूलचक्रस्था'** का तात्पर्य यह है कि परावाणी मूलाधारस्थ पवन से अभिव्यक्त होती है। वह प्रेरक पवन मूलाधार में ही उत्पन्न होता है। **देहेऽपि मूलाधारे समुदेति समीरणः।**[2] वही परावाक् (रव, शब्द ब्रह्म नाम से व्यवहृत) जब नाभि पर्यन्त आई हुई उसी वायु से अभिव्यक्त मनोमात्रगोचर होती है, उस अवस्था में इसे पश्यन्ती कहते हैं। परा, पश्यन्ती क्रमशः सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर है। इनका अधिष्ठाता ईश्वर है। योगी समाधि में इनको प्रत्यक्ष करते हैं। अन्तर इतना है कि परावाणी निर्विकल्पक, पश्यन्ती सविकल्पक ज्ञान का विषय है।

हृदय पर्यन्त आई हुई वायु से हृदय देश में अभिव्यक्त, विभिन्न अर्थ, शब्द का ज्ञान रखने वाली, बुद्धि का विषय बनी हुई, वही परावाणी, पर-

---

1. प्रपंचसार तन्त्र पटल १ श्लोक ४३
2. प्र० सा० त० प० १ श्लोक ६१

श्रोत्रग्रहण के अयोग्य, सूक्ष्म मध्यमा वाणी कही जाती है। यह मध्यमा वाक् सूक्ष्म, प्रणव-स्वरूपा, जप आदि में प्रयुक्त होती है। बहुत सूक्ष्मवायु के अभिघात से भी यह स्वत: सुनी जा सकती है। इसका अधिष्ठाता हिरण्य-गर्भ है। मुखपर्यन्त आई हुई, कण्ठदेश में जाकर, मूर्धा में आघात कर, अनेक स्थानों में अभिव्यक्त, दूसरे श्रोताओं द्वारा सुनी जाने योग्य, वही परावाणी वैखरी वाक् की संज्ञा धारण करती है। उसका देवता विराट् है। इन्हीं को भर्तृहरि ने व्याकरण की त्रिविध वाणी (पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी स्वरूपा) कहा है। इनमें से परा, पश्यन्ती योगियों के ही ज्ञानगम्य हैं। मध्यमा वाणी में जो चिदंश नाद है उसी को स्फोट माना जाता है। बुद्धि से संयुक्त होने से उसी अवस्था में शब्दार्थ बोध होता है। दूसरे (श्रोता) को बोध कराने के लिए ही अर्थ को प्रकाशित करना उसका वैखरी रूप है।

तन्त्रों में वाणी का विकासक्रम

वाणी के ये भेद-चतुष्टय प्रपंचसार में इस प्रकार कहे गये हैं—

> **मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः**
> **पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्० मध्यमाख्यः।**
> **वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्णा—**
> **बद्धस्तस्माद् भवति पवनप्रेरितो वर्णसङ्०घः ॥**[1]

यहाँ पर तन्त्र का यह क्रम वैज्ञानिक प्रतीत होता है। (जब बालक पैदा होते ही रोने की इच्छा करता है, तो उसके मूलाधार से प्रथम अभिव्यक्त, सुषुम्णातन्तुओं से बँधा हुआ तथा पवन से प्रेरित परा नामक भाव, (अखण्ड शब्द) हृदय में आकर पश्यन्ती, बुद्धि से योग होने पर मध्यमा तथा मुख में वैखरी के रूप में प्रादुर्भूत होता है।)

साम्बपंचाशिका में पश्यन्ती को प्रथम उदित (अभिव्यक्त) माना गया है।[2] महावैयाकरण भर्तृहरि ने भी वाणी के तीन ही भेद माने हैं। पश्यन्ती, मध्यमा, तथा वैखरी। ये भेद एक ही वाणी के हृदय, बुद्धि तथा प्राणस्थान के भेद से कल्पित किये गये हैं तथा इन्हीं तीनों वाणियों का परम-

---

१. प्र० सा द्वि० पटल श्लोक ४४

२ सा० प० श्लोक ३ (साम्बपंचाशिका

स्थान व्याकरण माना गया है। (व्याकरण से वाणी के बैखरी रूप से चल कर उसके पश्यन्ती स्वरूप का ज्ञान किया जा सकता है।)

बैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम,
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परम् पदम् ।[1]

भर्तृहरि ने पश्यन्ती के ही दो भेद माने हैं, परा एवम् अपरा। परा स्वरूप में आकार की अवधारणा नहीं होती है, उसमें परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले, पृथक् आकार वाले वर्ण तथा उनके अर्थ भासित नहीं होते। वह विशुद्ध शब्द-स्वरूप, ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान तीनों की अभिन्न स्थिति का आधार है। अपरा पश्यन्ती में वर्णों का क्रम प्रतिसंहृत रहता है, वह बोध-मात्र स्वरूप है। योगी को उसका मन में समाधान हो सकता है। इसमें जैसे ज्ञान उसी तरह शब्द भी अर्थ के आकार से अनुस्यूत रहता है। इसी वाणी की प्रतिष्ठा, ज्ञान का साधन व्याकरण है।

शब्द-अर्थ भिन्नता का मूल कारण

यद्यपि मूलतः शब्द, अर्थ दोनों एक हैं। दोनों एक ही अन्तःकरण के वास्तविक रूप में अभिन्न परन्तु प्रक्रिया-दशा में भिन्न प्रतीत होने वाले परिणाम हैं, जैसा कि कहा गया है- सूक्ष्म शब्द रूप में स्थित अन्तःकरण ही अपने स्वरूप को प्रकट करने के लिए स्थूल शब्द के रूप में परिणत होता है।[2] शब्द का स्वरूप क्या है, इसे महाभाष्यकार ने इस प्रकार कहा है—**'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा'** सूत्र में रूप कथन से प्रतीत होता है कि शब्द के वाचक स्वरूप के अतिरिक्त उसका दूसरा भी वाच्य स्वरूप है, वह अर्थ है।[3] शब्द तथा अर्थ एक ही सिक्के के दो पहलू के समान एक ही अन्तःकरण के दो रूप हैं। शब्द, अर्थ का भेदपूर्वक अभेद ज्ञान ही सिखाने (रचनापद्धति) का एक ढंग है। बालक वस्तु (अर्थ) को आँख से देखता है, वाचक शब्द को कान से सुनता है तथा बुद्धि से दोनों को ग्रहण कर उनका समन्वय करता है। दूसरे शब्दों में शिक्षक का अन्तर्वर्ती (अन्तःकरण) ज्ञान ही प्रेरणा प्राप्त कर, शब्द तथा अर्थ रूप में परिणत होता है, जिसे शिक्षार्थी

१. वाक्य० १।१४३
२. वाक्य० १ ११२
३. म० भा० १।१।६८, पृ० ३६६

का अन्तःकरण कान के द्वारा सुनता, आँख से देखता है। जहाँ केवल शब्द का उच्चारण होता है, वहाँ अर्थ गम्यमान रहता है और जहाँ अर्थ का विचार मन में आता है, वहाँ साथ में शब्द का योग रहता है।

'प्रतिभा शब्दार्थः' में शब्द द्वारा अर्थ का उन्मेष होने की भावना निहित है। प्रतिभा आकृति है। शब्द उसका अभिधान करता है। शब्द प्रकाश है, अर्थ विमर्श। शब्द शक्ति है, अर्थ चैतन्य। ये दोनों मिलकर पूर्णत्व की संगति करते हैं। वह पूर्णत्व परा वाणी है, जिसमें भेद-प्रतीति नहीं होती। शब्द-अर्थ के भेद तथा अभेद के सम्बन्ध में आचार्य व्याडि भी पूर्वोक्त सिद्धान्त का समर्थन करते हैं—

शब्दार्थयोरसम्भेदव्यवहारे पृथक् क्रियाः,
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत् समवस्थितम्।[1]

नागोजिभट्ट ने शब्द, अर्थ के तादात्म्य को बड़े सरल ढंग से समझाया है—जब शब्द, अर्थ में भेद उद्भूत रहता है तब 'इस अर्थ का वाचक यह शब्द है, ऐसा षष्ठी निर्दिष्ट व्यवहार होता है। स्वयं आचार्य पाणिनि का सूत्र है—**'तपरस्तत्कालस्य।'** 'तस्य वाचकः प्रणवः' श्रुति में भेद विवक्षा स्पष्ट है। जब दोनों में अभेद उद्भूत रहेगा तब **देवदत्तोऽयम्** या **वृद्धिरादैच्** (१।१।१) ऐसा समान विभक्ति का व्यवहार होगा।[2]

योगदर्शन भाष्य में भी तादात्म्य का यही स्वरूप माना गया है—**संकेतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मकः योऽयं शब्दः सोऽर्थः, योऽर्थः स शब्दः।**[3] (पद-पदार्थ का परस्पर अध्यास रूप स्मृत्यात्मक संकेत है। शब्द ही अर्थ है तथा अर्थ ही शब्द है। अर्थात् अभिन्न शब्द, अर्थ के काल्पनिक परस्पर भेद को मानकर व्यवहार का निर्वाह होता है। स्मृति शक्ति, जिसमें वाह्याकार में भिन्न शब्द-अर्थ अभिन्न होते हैं या पाणिनि इत्यादि महर्षियों के ग्रन्थ, जिनके द्वारा शब्द-अर्थ की शक्ति का नियमन होता है। प्राचीन महर्षियों ने जिन शब्दों की बोध जनकता जिन अर्थों में मान ली है, उनका सम्बन्ध नियत हो गया है। उन्हें ईश्वर का संकेत समझना चाहिये।) जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वाणी का प्रयोग

---

१. पुण्यराज कृत वाक्य० टीका में उद्धृत कारिका २।३।८

२ ———————, पृ० २५

३ यो० द० भाष्य १।१।२७

दूसरे को अर्थ बोध कराने के लिए होता है, इसकी बड़ी ही मनोवैज्ञानिक एवं यान्त्रिक प्रक्रिया शिक्षाशास्त्र, तन्त्रशास्त्रों में कही गई है, जिसमें सूक्ष्म-तम वाणी को स्पष्ट, स्थूल रूप में आने के लिये सोपानों को पार करना पड़ता है। इस प्रक्रिया के विवेचन में स्फोट तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है।

स्फोट को मध्यमा वाणी के नादांश रूप में मान्यता

पूर्वोल्लिखित वाणी के परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी रूप भेद चतुष्टय में मध्यमा अवस्था में वाणी का जो नादांश रहता है, (जब वाक् मध्यमा रूप में हृदयवर्तिनी होती है) वही स्फोट है। उस अवस्था में शब्द एक, अनवयव, अखण्ड रहता है तथा अर्थ उससे भिन्न नहीं रहता। वही शब्द अर्थ का वाचक है। इसके बाद को वैखरी शब्द ध्वनि रूप रहता है जो वाचक नहीं वरन् स्फोट की व्यंजक है। यह आन्तर स्फोट है तथा अन्तः-करण द्वारा गृहीत होता है। व्यंजक रूप-रूषित ही स्फोट का ग्रहण होता है अतएव सदा अर्थ-बोध नहीं होता। वक्ता भी जब बुद्धि में अर्थ करता है तब भी शब्द पूर्वक ही अर्थ बोध होता है। भले उस शब्द को वही सुने।[1]

इस स्थिति में शब्द, अर्थ दोनों बुद्धिगत होते हैं। अतः वर्णों में पूर्वापर व्यवहार बुद्धिगत ही होता है, वहीं पर संहिता भी मानी जाती है, अन्यथा उच्चरित-प्रध्वंसी वर्ण मिलते ही नहीं तब कहाँ संहिता होती, कैसे सन्धि के नियम प्रवृत्त होते। इसीलिए भाष्यकार ने कहा है—

> बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तत्त्वनीतिः,
> शब्देनार्थान् वाच्यान दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्।

(जो शब्द-प्रयोग कर्ता बुद्धिमान होते हैं, वे देखते हैं कि इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग करना चाहिए तथा इस शब्द में इन वर्णों का यह क्रम होगा। उनकी बुद्धि सकलविषयव्यापिनी होती है। उन्हें अपनी बुद्धि में ही वर्णों को प्रतिबिम्बित कर वाचक शब्द के साथ ही वाच्य अर्थ को एक रूप कर वहीं वर्णों का पूर्वापर व्यवहार कर लेना चाहिए।[2]) व्यंजक ध्वनि रूप शब्द का ग्रहण श्रोत्र से होता तथा व्यंग्य वाचक रूप शब्द का ग्रहण बुद्धि से होता है।[3] इस वाचक शब्द का अधिष्ठान बुद्धि है। वहीं पर जो सूक्ष्म

---

१. मंजूषा पृ० १५१

२. म० भा० १।४।१०९

३. ,, (अ इ उ ण् सूत्र)

शब्दोच्चारण होता है, जिसमें वर्ण आदि विभाग नहीं किये जा सकते तथा जहाँ शब्द से अर्थ अलग नहीं रहता वही स्फोट है। इसी केन्द्र से अर्थ का का स्फोट (प्रकाश) होता है। आगे स्फोट की व्युत्पत्ति तथा मत-मतान्तर द्वारा इसकी वाचकत्व-सिद्धि की समीक्षा की जायगी। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि वैयाकरण का मुख्य प्रतिपाद्य शब्दसाधुत्व है। अर्थ शब्द से अभिन्न है, अतः वैखरी शब्द से वाचक शब्द का तारतम्य बना रहे, इसलिए वैयाकरण आचार्यों ने उसका निरूपण करना सैद्धान्तिक दृष्टि से उचित समझा। शब्दाद्वैतवादी तो वाक्तत्त्व, शब्दतत्त्व से परब्रह्म अर्थ ग्रहण करते हैं। यही भर्तृहरि सम्मत शब्द तत्त्व स्फोट रूप है, परन्तु नागेश अर्थ-बोध पर्यन्त ही अपने को सीमित रखते हुए मध्यमा वाणी के नादांश को ही स्फोट मानते हैं।[1]

१ मंजूषा, पृ० १४१-१६०

पंचम परिच्छेद

शक्त्याश्रय के रूप में स्फोट की स्थापना

शाब्द बोध

वैयाकरण सम्प्रदाय में दो मुख्य पदार्थों के परस्पर अन्वय को शाब्द-बोध कहते हैं। 'बालकः गच्छति' वाक्य में दो पद हैं, इनके अर्थ भी पृथक्-पृथक् हैं। जब इन पदार्थों का मिलित रूप अर्थ बोध करना होता है, तब इनका परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है। इसी सम्बन्ध (अन्वय) का नाम शाब्द बोध है। दूसरे शब्दों में इसे ही वाक्यार्थ कहते हैं। अर्थात् पदों से पदार्थ मात्र की उपस्थिति होती है, बाद में आकांक्षावश अन्वयांश रूप वाक्यार्थ का बोध होता है। इसलिए मीमांसकों की मान्यता है–आकांक्षादि विशिष्ट पद समूह वाक्य है तथा संसर्ग वाक्यार्थ है। प्रातिपदिकार्थ सूत्र के भाष्य में संसर्ग (अन्वय) को वाक्यार्थ माना गया है। भाष्यकार ने इस सिद्धान्त को इस प्रकार प्रकट किया है—

शंका—प्रातिपदिकार्थ सूत्र में मात्र का प्रयोग करने, 'सम्बोधने च' इस पृथक् सूत्र निर्माण से, जहाँ प्रातिपदिकार्थ-लिंग-परिमाण-संख्या से

अधिक अर्थ की प्रतीति होती है, जैसे 'वीरः पुरुषः' में वीरत्व की प्रतीति, वहाँ प्रथमा न होगी।

समाधान—जो इसमें वीरत्व (विशेषण) की अधिक प्रतीति हो रही है वह वाक्यार्थ है। 'यदत्राधिक्यं स वाक्यार्थः'।[1] आधिक्य को मंजूषाकार ने विशेषण-विशेष्यभाव-रूप संसर्ग कहा है।[2] शाब्द बोध में तीन सम्बन्ध रहते हैं– प्रकारता, विशेष्यता तथा संसर्गता। इसी प्रकार इनके तीन अवच्छेदक एवं उनमें रहने वाली तीन अवच्छेदकतायें भी होंगी। प्रकारता व विशेष्यता इच्छा के स्वरूप पर अवलम्बित है, क्योंकि वैयाकरण तथा नैयायिक के मत में शक्ति का आकार ईश्वरेच्छा रूप या केवल इच्छारूप है।[3] इच्छा दो प्रकार की होती है—**पदविशेष्यक** तथा **अर्थविशेष्यक**। जब वक्ता (ईश्वर) की ऐसी इच्छा हो 'इस अर्थ का बोधक यह पद हो', (इमम् अर्थम् बोधयतु इदम् पदम्।) इसका तात्पर्य पद-विशेष्यक इच्छा है। (एतदर्थ विषयक बोधजनकत्व प्रकारक पद विशेष्यकेच्छा।)

शाब्द बोध का कारण वृत्तिज्ञान

सामान्य रूप से शब्द को प्रमाण मान लेने पर सभी श्रोताओं को बोध होना चाहिए, चाहे उन्हें वृत्तिज्ञान हो या न हो, परन्तु देखा जाता है कि जब कोई वक्ता भाषण देता है या कोई शिक्षक कक्षा में अध्यापन करता है तो जिन श्रोताओं को यह ज्ञान नहीं है कि इस पद की वृत्ति इस अर्थ में है, उन्हें पद सुन लेने पर भी बोध नहीं होता। अतः शाब्द बोध में वृत्तिज्ञान को कारण मानना चाहिए। वृत्ति का सामान्य लक्षण है—अर्थ व पद उभय निरूपित सम्बन्ध, जैसे 'घ् अ ट् अ' चार वर्णों से निर्मित 'घट' पद का 'घड़ा' अर्थ के साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। घट पद के उच्चारण से एक मिट्टी के संकरे मुंह तथा चौड़े पेट वाले ऐसे पदार्थ का ज्ञान होता है, जिसमें पानी भरा जाता है। यह सम्बन्ध ही वृत्ति है। इसका ज्ञान जिस श्रोता या शिक्षार्थी को है, उसे ही शब्द सुनने से बोध होता है, दूसरों को नहीं। इस

---

१. म० भा० २।३।४६
२. मंजूषा, पृ० ४०१
३. मंजूषा, पृ० १९

वृत्ति ज्ञान को कारण मानना इसलिए भी आवश्यक है, कि गुड़ कहने से मधुरत्व का प्रकारता रूप से भान नहीं होता, जैसा कि महाभाष्य में कहा गया है—'**नहि गुड इत्युक्ते मधुरत्वम् प्रकारतया गम्यते**'।[1]

अतः यद्यपि गुड़ में माधुर्य एवं रक्तता आदि अनेक धर्म हैं, तथापि गुड़ पद की वृत्ति गुड़त्व प्रकारक ही है, क्योंकि गुड़ पद से गुड़त्व प्रकारक ही बोध होता है। जहाँ पर मधुर गुड़ इस अर्थ में गुड़ पद का प्रयोग किया जाता है. वहाँ पर उसका अर्थ मधुराभिन्न गुड़ है, मधुरत्व प्रकारक गुड़-विशेष्यक नहीं।[2] इसलिए शाब्द बोध में निम्नलिखित कार्यकारण भाव माना जाता है—**तद्धर्मावच्छिन्नविषयकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नम् प्रति तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपितवृत्तिविशिष्टज्ञानं हेतुः**।

इसलिए जिसे घट का 'घटावच्छिन्न घटत्व' रूप विपरीत ज्ञान है, जिसे घट पद की घटत्वावच्छिन्न घट पदार्थ में वृत्ति का ज्ञान भूल गया है, या जो घड़ा का वाचक पद नहीं जानता, उसे बोध नहीं होता।

वृत्ति के भेद

वृत्ति के तीन भेद माने गये हैं—१. शक्ति २. लक्षणा ३. व्यंजना प्राचीन वैयाकरण (कौण्ड भट्ट पर्यन्त) केवल शक्ति को मानते हैं, लक्षणा व व्यंजना को नहीं, क्योंकि व्यवहार तो मुख्य व लक्ष्य दोनों ही अर्थों में होता है।[3] लक्षणा मानने पर दो कार्यकारणभाव मानने पड़ते हैं। इस प्रकार गंगापद से जहाँ जल अर्थ का बोध होता है व जहाँ तीर अर्थ का बोध होता है, दोनों ही स्थलों पर शक्ति ज्ञान, लक्षणा ज्ञान को कारण मानने से गौरव होगा। अतः केवल शक्ति ज्ञान को ही कारण मानना चाहिए। गंगा पद की जल प्रवाह में मुख्य तथा तीर अर्थ में अप्रसिद्ध (गौण) शक्ति मानने से निर्वाह हो जायगा।[4]

नवीन वैयाकरण मत के प्रतिपादक नागेश जी ने वृत्ति के उपर्युक्त तीन भेद माने हैं। प्राचीन वैयाकरण शक्ति के प्रसिद्ध, अप्रसिद्ध अर्थ मान

---

१. महाभाष्य समर्थ सूत्र (२।१।१) पृ० ३४२
२. महाभाष्य २।१।३४
३. वै० भू० सा० शक्ति निर्णय, पृ० ४०६
४. ,, ,, ,, पृ० ४११

कर लक्षणा को गतार्थ करते हैं, परन्तु इन्होंने आलंकारिक मतानुसार तीनों ही भेद मान लिए हैं। भाष्यकार ने यद्यपि शब्दतः लक्षणा वृत्ति का उल्लेख नहीं किया, परन्तु तन्मूलक सम्बन्ध मानकर कहा है, कि यह सम्बन्ध चार प्रकार का होता है तात्स्थ्य, तादृधर्म्य, तत्सामीप्य एवं तत्साहचर्य। मंचाः हसन्ति, सिंहो माणवकः, गंगायां घोषः, यष्टीः प्रवेशय, ये चार उनके क्रमशः उदाहरण हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि वैयाकरण लक्षणा मानते हैं। कोई उसे अमुख्य वृत्ति नाम से कहते हैं, कोई लक्षणा के नाम से।

इसी प्रकार शक्ति के लक्षण के विषय में भी वैयाकरणों के इन दोनों (प्राचीन तथा नवीन) सम्प्रदायों में मतभेद है। प्राचीन वैयाकरण बोध-जनकता को शक्ति मानते हैं, जिसका नागेशभट्ट ने इस प्रकार खण्डन किया है—नैयायिकों के मत में ईश्वरेच्छा शक्ति है। इच्छा का यही रूप होगा—यह पद, इस अर्थ का बोधक हो; या इस पद का बोध्य, यह अर्थ हो। इस प्रकार इच्छा तथा बोध दोनों की शक्ति कल्पना में गौरव होगा। साथ ही इच्छा या जनकता पद, व अर्थ दोनों में एक साथ नहीं रह सकती। अतः पद, अर्थ दोनों का सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सकता, क्योंकि सम्बन्ध सम्बन्धियों से भिन्न होते हुए भी दोनों में रहने वाला माना जाता है।

इदम् का सामानाधिरण्य-सम्बन्ध से अर्थ में अन्वय होता है। एतद-भिन्न जो अर्थ, उसका विषयता सम्बन्ध से बोध में अन्वय होता है, अर्थ विषयक जो बोध, उसका निरूपितत्व सम्बन्ध से णिच् प्रत्ययार्थ जनकता में तथा जनकता का आश्रयता सम्बन्ध से पद में अन्वय होने से यह परिष्कृत अर्थ होगा—**एतदभिन्नार्थविषयकबोधनिरूपितजनकताश्रयः पदम्**। इच्छा विशेष्यता सम्बन्ध से पद में, प्रकारता सम्बन्ध से बोधजनकत्व तथा समवाय सम्बन्ध से ईश्वर में रहेगी। अर्थ विशेष्यक-इच्छा का यह स्वरूप होगा—**अस्माच्छब्दाद् बोद्धव्यः अयमर्थः** (इस शब्द से यह अर्थ जाना जाय) **एतदभिन्न शब्द जन्य बोध निरूपित विषयताश्रयः अर्थः।**

बोध जनकता को शक्ति मानने पर यद्यपि शब्द, अर्थ दोनों ही शाब्द बोध के कारण हैं, अतः दोनों में बोध जनकता होगी, परन्तु उनका सम्बन्ध कैसे हो सकता है। अतः नागेश ने एक-दूसरे ही सम्बन्ध को शक्ति माना है, उसका नाम है वाच्य-वाचक-भाव। शब्द वाचक है, अर्थ वाच्य, इन दोनों का वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध है।

1 म० भा० ४। ४८

तादात्म्य निरूपण

शक्ति को बताने वाला (ज्ञापक) तादात्म्य होता है। वही संकेत है। जैसे 'इदं रजतम्' में इदम् पदार्थ व रजत का तादात्म्य है, वैसे ही 'अयं घटः' में पद, पदार्थ का तादात्म्य अध्यास के द्वारा माना जाता है। ऋषियों का संकेत ही बोधकता का नियामक होता है, अर्थात् विद्वान् ऋषियों ने जिस अर्थ के लिए जिस पद का प्रयोग किया है, वही संकेत रूप शब्दार्थ-तादात्म्य हम सब को मान्य है। स्वेच्छा से किसी शब्द का, किसी अर्थ के साथ तादात्म्य स्थिर कर, उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता।

प्राचीन वैयाकरण पद-पदार्थ के वाच्य-वाचक-भाव को नियमित करने वाली बोधजनकता रूप शक्ति को ही सम्बन्ध मानते हैं, परन्तु शक्ति तभी कार्य का जनक होगी, जब पद-पदार्थ का कोई सम्बन्ध होगा। जैसे दीप में प्रकाशन शक्ति होती है परन्तु दीप, वस्तु के सम्बन्ध होने पर ही वस्तु का प्रकाशन होता है अन्यथा नहीं। वाक्यपदीय में कहा गया है— जहाँ सम्बन्ध रहता है, वहीं शक्तिरूप धर्म का ज्ञान होता है। इस सम्बन्ध के द्वारा ही पद की शक्ति पदार्थ के बोध का जनक होती है तथा घटत्व आदि गुण घट आदि द्रव्यों में रहते हैं, अन्यथा पद-पदार्थ या घट-घटत्व में कैसे वाच्य-वाचक भाव या आधाराधेयभाव होता।

शक्त्याश्रय निरूपण

इसके पूर्व शक्ति-विचार करते समय शब्द-अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है। शक्ति ही सम्बन्ध है और वह शब्द तथा अर्थ दोनों में रहता है। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि सम्बन्ध रूप शक्ति का आश्रय कौन सा शब्द है? इसे और स्पष्ट रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि शब्द से वैयाकरण को क्या अभिप्रेत है? या अर्थ का बोधक शब्द कौन सा है?

वर्णों के शक्त्याश्रयत्व का खण्डन

यदि प्रत्येक वर्ण को अर्थ का बोधक माना जाय तो घट से होने वाला बोध केवल घ् से ही हो जायगा, पुनः उसके लिए 'अ ट्' तथा अ, इन तीन वर्णों का उच्चारण व्यर्थ हो जायगा। मिलित सभी वर्णों को अर्थ-बोधक नहीं माना जा सकता, क्योंकि वर्ण उच्चारण के अनन्तर नष्ट हो जाते है। अतः उनका समुदाय सम्भव नहीं है। वर्णों के नित्यत्व पक्ष में उनकी

अभिव्यक्ति तथा अनित्यत्व पक्ष में उनकी उत्पत्ति, क्षणस्थायिनी ही होती है। नष्ट वर्ण का इदम् (यह) शब्द द्वारा परामर्श नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में दधि+आनय में पूर्व-पर-व्यवहार का उच्छेद हो जायगा, तब 'इको यणचि' (पाणिनि सू० ६।१।७७) आदि सूत्रों की प्रवृत्ति कैसे होगी? पूर्व वर्ण के वर्तमान रहते हुए द्वितीय वर्ण की उत्पत्ति नहीं होती बरन् एक वर्ण की उत्पत्ति के अनन्तर जब उसका नाश हो जाता है तब दूसरे प्रयत्न से दूसरे वर्ण की उत्पत्ति होती है, ऐसा वर्णोत्पत्ति का नियम है। महाभाष्यकार ने इस सिद्धान्त को इस प्रकार स्वीकार किया है—जिस प्रयत्न के द्वारा एक वर्ण का उच्चारण किया जाता है: उस वर्ण के नष्ट हो जाने पर, उसके जनक प्रयत्न का भी उपसंहार कर, दूसरा प्रयत्न कर, द्वितीय वर्ण का उच्चारण किया जाता है।[२] 'जब तक ग् के उच्चारण में वाणी का उपयोग है, तब तक वह औ तथा विसर्ग में नहीं रह सकती। वर्ण उच्चरित होते तथा नष्ट होते हैं। वाणी के द्वारा एक-एक कर वर्णों का उच्चारण होता है। दो, तीन का एक साथ नहीं होता।'[३]

यहाँ नैयायिकों द्वारा यह समाधान किया जाता है कि घट में जब अ का उच्चारण हो रहा है, उसमें घ् के अनुभव का संस्कार अव्यवहित होने से रहेगा। इसी प्रकार इन दोनों का ट् में तथा इन तीनों का अव्यवहित क्रम से अन्तिम अ में रहने से, समुदाय का बोध सुलभ है तथा सरः, रसः इत्यादि पदों में अव्यवहितत्व सम्बन्ध के भेद से भेद भी सिद्ध हो जायगा। अथवा जैसे एक लहर दूसरी लहर को उत्पन्न करती हुई, तट तक अपनी परम्परा अविच्छिन्न रखती है, वैसे वर्ण वर्णान्तर को उत्पन्न करते हुए श्रोत्र देश तक अपना सम्बन्ध बनाये रखता है। इस प्रकार अन्तिम वर्ण के प्रत्यक्ष (श्रावण प्रत्यक्ष) काल पर्यन्त सभी पूर्व वर्ण रहते हैं। दोनों में अन्तर इतना है कि लहर तो दूसरी लहर को पैदा कर नष्ट हो जाती है, परन्तु वर्ण अपने, दूसरे वर्ण को उत्पादित करते हुए अन्तिम वर्ण की उत्पत्ति पर्यन्त रहते हैं। इस प्रकार वर्णों का समुदाय सुलभ है तथा वही बोधकता रूप शक्ति का आश्रय है।

---

१. मंजूषा, पृ० १२५ तथा स्फोट तत्त्व निरूपण कारिका ३
२. म० भा० (१।४।१०८), पृ० ३०७
३. ,, ,, पृ० ३०८-३०६

पद तथा वाक्य के शक्त्याश्रयत्व का खण्डन

उपर्युक्त समाधान उचित नहीं है, क्योंकि नष्ट एवं विद्यमान में अव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सकता। पूर्व वर्ण का संस्कार तथा उत्तर वर्ण, इन दोनों में कैसे अव्यवहितोत्तरत्व होगा। यदि सभी वर्णों को अन्तिम वर्ण पर्यन्त स्थित मान लिया जाय तो पूर्वापर व्यवस्था समाप्त हो जायगी, क्योंकि इस व्यवस्था का नियामक क्रमोत्पत्ति सिद्धान्त ही है। यदि इस प्रकार पद को प्रत्यक्ष मान भी लिया जाय, तब भी पद वस्तुतः नहीं है। ऐसी स्थिति में वह शक्ति का आश्रय कैसे होगा? यदि अविद्यमान पदार्थ को भी आश्रय मानें तो नष्ट घड़े में जल भरा है (नष्टो घटो जलवान्) ऐसा व्यवहार होने लगेगा। इस प्रकार पद, वाक्य के अभाव से शब्द अर्थ का सम्बन्ध भी न रह सकेगा, जैसे वर्ण-समुदाय रूप पद नहीं है, तथैव पद-समुदाय रूप वाक्य भी न रहेगा।

वर्ण-समुदाय को पद, पद-समुदाय को वाक्य मानने से 'घटः' यह एक पद है, 'घटोऽस्ति' यह एक वाक्य है। इस सर्व-सम्मत एकत्व ज्ञान की प्रतीति न होगी। तथा यह वही पद, यह वही वाक्य है (**तदेवेदम् पदम्, तदेवेदं वाक्यम्**) ऐसी प्रतीति भी न हो सकेगी, क्योंकि अनित्य वर्णों से बने हुए पद व वाक्य तो नष्ट हो गये हैं। उच्चारण के भेद से भिन्न, अनन्त वर्णों में शक्ति मानने से आनन्त्य दोष होगा। अतः उत्पत्तिविनाशशाली वर्णों को वाचक नहीं माना जा सकता, परन्तु अर्थ बोध होता है। यह देखा जाता है कि शब्द सुनने के बाद यदि श्रोता को शब्द अर्थ का सम्बन्ध-ज्ञान है तो उसे अर्थ-बोध अवश्य होता है।[1] इसका समाधान प्रायः सभी दार्शनिकों ने किया है। वैयाकरण स्फोट को शक्ति का आश्रय मानते हैं। वह नित्य, एक, अक्रम है तथा वही अर्थ का बोधक है।

अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा स्फोट की स्वीकृति

नित्य शब्द तत्त्व को वृत्त्याश्रय स्वीकार करने के बाद, उसकी कल्पना का आधार क्या है, इस प्रश्न पर वैयाकरणों का उत्तर है कि शब्द-तत्त्व (स्फोट) का प्रादुर्भाव अर्थापत्ति प्रमाण से माना जाता है। जैसे 'पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते', (देवदत्त मोटे हैं, परन्तु दिन में नहीं खाते) इस कथन से, बिना भोजन के मोटाई नहीं हो सकती, इस निश्चय

---

1. मंजूषा, पृ० १३५-१३७

से, इस वाक्य की असंगति न हो, अतः रात्रि भोजन की कल्पना कर ली जाती है, तथैव एक पद, एक वाक्य में एकत्व-प्रतीति, बिना नित्य स्फोट रूप शब्द-तत्त्व माने, नहीं हो सकती, अतः स्फोट को शक्ति का आश्रय मानना चाहिए। आचार्य भरतमिश्र ने अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा वर्णातिरिक्त वाक् तत्त्व (स्फोट) को सिद्ध किया है **'एकमर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या वर्णातिरिक्तं वाक्तत्त्वमुपदर्शितम्'** ।[1]

यदि यह क्रम माना जाय, कि वर्णों के क्रमिक अनुभव तथा उनके संस्कार को एक स्मृति में लाकर बोध कर लिया जायगा। पर स्मृति में अनुभव का क्रम न रहने से जिस क्रम से अनुभव हुआ है, उसी क्रम से स्मृति भी होगी, यह नियम नहीं हो सकता तब रस, सर में कोई विशेषता नहीं रह जायगी। क्रमबद्ध वर्णों में क्रमवती ही स्मृति होती है, यह भी नही कह सकते, क्योंकि शतम्, विंशतिः इत्यादि में अनुभव भले क्रमशः हो, पर स्मृति युगपत् ही होती है। उपर्युक्त विचार को निम्नलिखित कारिका मे अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट रूप से कहा गया है —

'न प्रत्येकं, न मिलिता, न चैकस्मृतिगोचराः
अर्थस्य वाचका वर्णाः किन्तु स्फोटः स च द्विधा।' ।[2]

पद तथा वाक्य से अर्थ की प्रतीति होती है, यह सभी दार्शनिकों का मत है। (मीमांसक वर्णों को ही अर्थ-बोधक मानते हैं। नैयायिक उनके समुदाय को शक्ति (संकेत) का आधार कहते हैं। वेदान्ती एक स्मृति में स्थित वर्ण-समुदाय को अर्थ का वाचक मानते हैं। उपर्युक्त कारण से ये तीनों विचार दूषित हो जाते हैं। अतः अर्थ का वाचक स्फोट को मानना चाहिए, उसके दो भेद हैं—पद, वाक्य)

स्फोट का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसकी कल्पना नहीं की जाती।

स्फोट कल्पना-जनित-तत्त्व नहीं है अर्थापत्ति प्रमाण तो बिना स्फोट स्वीकार किये अर्थ-बोध की उपपत्ति न हो सकती, अतः तन्निमित्तक उसकी मान्यता में सहयोगी होता है। वस्तुतः गकार एक वर्ण है, गौः एक पद है, 'गामानय' एक वाक्य है, ये तीन प्रतीतियाँ होती हैं और इन तीनों में

---

१ स्फोट सिद्धि (भरत मिश्र)- पृ० ७

२ स्फोटतत्त्वनि० कारिका ३

एकत्व का अनुभव सर्वजनसिद्ध है। इन सब में एकत्व प्रतीति का आश्रय वर्ण-पद-वाक्य के अतिरिक्त कोई नित्य तत्त्व ही सिद्ध होता है। यह स्फोटरूप एक बुद्धि है, जिसमें कभी वर्ण, कभी पद तथा कभी वाक्य का भान होता है। इस अभिन्न एक बुद्धि का आश्रय परस्पर पृथक् अवस्थित, उत्पादविनाशशाली वर्ण नहीं हो सकते। जैसे वनम् इस बुद्धि का विषय वृक्षमात्र नहीं होते, वैसे ही 'इदम् एकम् वाक्यम्' इस बुद्धि का विषय वर्ण नही होंगे। पद वर्णों से अलग है तथा वाक्य पदों से अलग है। यह वाक्य, इस वाक्य में इतने पद तथा इन पदों में इतने वर्ण, ऐसी प्रतीति केवल प्रकृति-प्रत्यय के ज्ञान के द्वारा शब्द साधुत्व विधान करने वालों को होती है। साधारण जन तो अर्थ बोधक वाक्य को एक तथा अखण्ड मानते हैं।

यदि क्रम-विशेष-विशिष्ट वर्णों को वाक्य का आरम्भक (बनाने वाला) माना जाय तो **'देवदत्त ! गामानय'** इस वाक्य में ८×२=१६ वर्ण है। इस वाक्य में वर्णों की एक आनुपूर्वी है। 'आनय देवदत्त गाम्' या 'गां देवदत्त ! आनय' इन वाक्यों की आनुपूर्वी पूर्व आनुपूर्वी से भिन्न है। जैसे किसी घड़े को फोड़कर उसके टुकड़ों में जल नहीं भरा जा सकता तद्वत यहाँ भी अर्थ प्रतीति न होना चाहिए। **'गां ‿वदत्तानय'** वाक्य में केवल ७×२=१४ वर्ण ही हैं। इस प्रकार भिन्न अल्पवर्णवती आनुपूर्वी द्वारा भी अर्थप्रतीति होने से यह निश्चित जान पड़ता है कि वर्ण तथा पद-विभाग अविद्याकल्पित हैं तथा इनमें अनुस्यूत, (पिरोया हुआ) अर्थ बोध का जनक, अवयव-रहित नित्य एक वाक्यात्मा स्फोट सिद्ध होता है। जैसा कि इस कारिका में कहा गया है—

'इदम् पदमिदं वाक्यमिमे वर्णा इति त्रिषु,
प्रत्ययेषु स्फुटं स्फोट एक एवानुभूयते।'[1]

वर्णैकत्व तथा वर्ण-नानात्व उभयपक्ष निरूपण

शब्द के एकत्व तथा अनेकत्व के विषय में मतभेद है। महाभाष्य में दोनों मत दिये गये हैं। एकत्व मत को मानकर भाष्यकार ने लिखा है—**'एकत्वादकारस्य सिद्धम्।'** वर्णमाला में, सूत्रों से आगे के सूत्रों में, अनुवृत्ति

1. स्फोट तत्त्व निरूपण कारिका ६

में, धातु-प्रातिपादिक-प्रकृति-प्रत्यय, इन सब में वर्तमान अकार एक ही है। इसकी व्याख्या करते हुए कैयट ने लिखा है—अकार एक ही है उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि भेद इसके व्यंजक ध्वनि के द्वारा किये गये हैं। एक ही मुख खड्ग में, तेल में तथा दर्पण में भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ता है। यह भेद प्रतिबिम्बक कृत है, मुख तो एक ही है।[1] इसी प्रकार वर्ण-नानात्व को भाष्यकार ने इस प्रकार माना है—

'ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः।' की व्याख्या में कहा है—
'तद्यः सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते, तस्येदं ग्रहणम्।'

(यहाँ 'अनन्तरौ ग्रामौ' प्रयोग में ग्राम का अर्थ अरण्य, सीमा, भूमि के सहित ग्राम शब्द माना गया है।) इससे शब्द-भेद (वर्ण नानात्व) सिद्ध होता है।[2] सरूप सूत्र के भाष्य में भी शब्द के एकत्व व नानात्व दोनों पक्ष दिखाये गये हैं, किन्तु दोनों पक्षों का तात्पर्य है कि जो दार्शनिक (नैयायिक) शब्द को कार्य (अनित्य) मानते हैं, उनके मत में शब्दों का नानात्व पक्ष मुख्य है, एकत्व प्रतीति तो 'स एवायं गकारः' (यह वही ग है) इस प्रत्यभिज्ञा से काल्पनिक है। जो दार्शनिक (मीमांसक, वेदान्ती तथा वैयाकरण) शब्द को नित्य मानते हैं, उनके मत में एकत्व मुख्य तथा नानात्व (अर्थ या तादात्म्य भेद) आरोपित है।[3]

मीमांसक वर्णों को नित्य, पद तथा वाक्य को अनित्य मानते हैं। अर्कः, अश्वः, अर्थः, अन्यः आदि पद तो भिन्न हैं, परन्तु इनका 'अ' एक ही है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न देशों या काल में उच्चरित वाक्यों में पद एक ही हैं 'गाम् आनय', 'गाम् बधान' में गाम् पद, 'अश्वम् आनय', 'गाम् आनय' में आनय पद एक ही है, क्योंकि 'तदेवेदम् पदम्' (यह वही पद है) ऐसी प्रतीति होती है। वर्णों से अलग पद तथा वर्ण, पदों से अलग वाक्य की कोई सत्ता नहीं है। वर्ण ही पद तथा वाक्य है। वर्णों की एकत्वसिद्धि से पद-वाक्य की भी एकत्वसिद्धि हो जाती है। इसीलिए मीमांसक पदातिरिक्त वाक्य, वर्णातिरिक्त पद नहीं मानते हैं। शबर स्वामी ने कहा है—

---

१. म० भा० तथा प्रदीप (अ इ उ ण सूत्र), पृ० ६६
२ ,, ,, १।१।७, पृ० १४३
३ वाक्य० १७०

'गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीयाः इति भगवानुपवर्षः ।[1] कुमारिल भट्ट ने श्लोक वार्तिक में विशद रूप में वर्णनित्यत्व तथा वर्णैकत्व का समर्थन किया है, उनका सिद्धान्त है—वर्ण के अतिरिक्त पद और वाक्यों की सत्ता नहीं है । पद और वाक्य तो सावयव हैं । यह पद, वाक्यों का विस्तार निरवयव वर्णों के ज्ञान के लिए ही है । वर्ण ही अर्थ के बोधक हैं, कहीं पद रूप में, कहीं वाक्य रूप में ।[2]

वैयाकरण-मत-निरूपण

वैयाकरण सिद्धान्त इससे भिन्न है । वैयाकरण-दार्शनिक वाक्य को एक, नित्य तथा अखण्ड मानते हैं, परन्तु वह वाक्य, वर्ण-समूह रूप पदों का समूह नहीं है, वरन् स्फोट रूप है । उनका विचार है कि जैसे ऋकार में र् तथा इ, ए में अ+इ एवम् ओ में अ+उ, इन अवयवों की प्रतीति होती है, परन्तु उन्हें अवयव नहीं माना जाता, वैसे ही पदों में वर्णों की तथा वाक्यो में पदों की प्रतीति भ्रम है । वाक्य के अतिरिक्त वर्ण व पदों की कोई सत्ता नहीं है । वर्ण व पद असत्य हैं, वाक्य ही क्रमरहित, एक, नित्य तथा सत्य है । परन्तु व्याकरण शास्त्र के आकर ग्रन्थों, विशेषतया महाभाष्य में दोनों सिद्धान्तों को माना गया है । केवल जो वर्ण को एक मानते हैं, उनके मत में वर्ण-नानात्व पक्ष गौण है तथैव वर्ण-नानात्व पक्ष में वर्णैकत्व पक्ष आरोपित है । वर्ण-नित्यत्व को मानकर शबर स्वामी के गकारौकारविसर्ग को शब्द मानने का कथन संगत होता है । वाक्य को सत्य मानकर श्लोक से अर्थ समझा जाता है या व्यवहार किया जाता है ।[3] वैयाकरण के मत मे अर्थबोधक को शब्द माना जाता है । वह शब्द ध्वनि रूप में आने के पूर्व कई सोपानों को पार करता है । इसको विस्तृत रूप से आगम, तन्त्रों मे समझाया गया है । वैयाकरण उस अर्थ बोधक शब्द तत्त्व को स्फोट की संज्ञा देते हैं तथा मीमांसकाभिप्रेत एकत्व, नित्यत्व, विभुत्व आदि विशेषण उसी के मानते हैं ।

स्फोट की अभिव्यंजक ध्वनि

शब्द-नित्यत्ववाद में शब्द की सदा उपलब्धि न होने का कारण यह

---

१. मीमांसा भाष्य प्र० अ० पृ० ५५
२ श्लो० वा०स्फोटवाद
३ वाक्य० ११७४

कि ध्वनियों द्वारा अभिव्यक्त होने पर ही स्फोट रूप शब्द की उपलब्धि होती है, सदा नहीं। स्वयं स्फोट कालकृत भेद से रहित है, परन्तु अपनी अभिव्यंजक ध्वनि के काल का उसमें आरोप होने से ध्वनि के काल तक उसका भी भान होता है।

ध्वनि के दो भेद—प्राकृत एवं वैकृत

ध्वनि के प्राकृत तथा वैकृत दो भेद होते हैं। स्फोट की अभिव्यंजक ध्वनि को प्राकृत ध्वनि कहते हैं। इस ध्वनि के साथ स्फोट का नीर-क्षीर सम्बन्ध है। न स्फोट के बिना पृथक् रूप से प्राकृत ध्वनि की उपलब्धि होती है न बिना प्राकृत ध्वनि के स्फोट का भान होता है।[1] प्राकृत ध्वनि का काल (एकमात्रिक, द्विमात्रिक तथा त्रिमात्रिक) ह्रस्व दीर्घ तथा प्लुत मे वर्तमान रहता है, वह स्फोट के नित्य होने पर भी उसमें व्यवहृत होता है। (ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत शब्द माना जाता है।) पर यह भेद आरोपित है वास्तविक नहीं।[2] प्राकृत ध्वनि वह है जिसके बिना स्फोट स्वरूप की अभिव्यक्ति ही न हो। अत इन दोनों की पृथक् उपलब्धि नहीं होती। स्फोट स्वरूप ही प्राकृत ध्वनि की प्रकृति है, इसी कारण उसका नाम प्राकृत ध्वनि पड़ा है (प्रकृतौ=स्फोटस्वरूपे भवः—वर्तमानः प्राकृतः 'तत्र भवः' सूत्र से अण् प्रत्यय, पूर्वपद की वृद्धि तथा अन्तिम इ के लोप से इस पद की सिद्धि होती है।) अतः प्राकृत पद का प्रयोग शब्दाभिव्यक्ति-निमित्तक ध्वनि के अर्थ में होता है। यह प्राकृत ध्वनि ही स्फोट का बाह्य स्वरूप है तथा ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत इस भेद-व्यवहार का कारण है, यही भेद स्फोट रूप शब्द में आरोपित रहता है. इस कारण 'तपरस्तत्कालस्य' सूत्र द्वारा **अदेङ्० गुणः** (१।१।२) तथा **वृद्धिरादैच्** (१।१।१ सूत्रों में क्रमशः अत्, आत् से केवल ह्रस्व तथा दीर्घ अ का ही ग्रहण होता है दूसरे का नहीं। प्राकृत ध्वनि के ये तीनों रूप नाभि प्रदेश से प्रेरित वायु के प्रेरक प्रयत्न मे रहते हैं।

दूसरी ध्वनि वैकृत ध्वनि नाम से प्रसिद्ध है। यह ध्वनि स्फोट के उत्तरकाल में होने वाली ध्वनि से तथा प्राकृत ध्वनि स्वरूप स्फोट की स्थिति में कालकृत भेद का हेतु है। यह ध्वनि पूर्व ध्वनि से विलक्षण है

१. वाक्य० १।७५
२ वाक्य० १।७६

इसकी व्युत्पत्ति है—विकृत एव वैकृतः 'प्रज्ञादिभ्यश्च' सूत्र द्वारा स्वार्थ मे अण् प्रत्यय। वही प्राकृत ध्वनि-रूपरूषित स्फोट जब द्रुत, मध्य एवं विलम्ब रूप से विकृत (विकार को प्राप्त) होता है, वह वैकृत ध्वनि का गुण है। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि प्राकृत ध्वनि से अभिव्यक्त स्फोट जिस ध्वनि के द्वारा कम या अधिक समय तक उपलब्ध होता है, वह वैकृत ध्वनि है। जब तक इस ध्वनि का विराम नहीं होता तब तक स्फोट की उपलब्धि होती रहती है।[1] संग्रहकार व्याडि ने इन दोनों ध्वनियों का विश्लेषण इस प्रकार किया है—

> **"शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।**
> **स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ॥"[2]**

(स्फोट रूप शब्द की अभिव्यक्ति के पूर्व उत्पन्न प्राकृत ध्वनि शब्द की अभिव्यक्ति में कारण मानी जाती है, तथा शब्द की अभिव्यक्ति के अनन्तर उत्पन्न वैकृत ध्वनि उस शब्द की अल्पकाल या अधिककाल पर्यन्त स्थिति का हेतु है।)

प्राकृत ध्वनि से अलग स्फोट की उपलब्धि न होने से उसका काल स्फोट में आरोपित होकर शास्त्र में व्यवहार के लिए उपयोगी होता है। अतः **'अतो भिस् ऐस्'** (७।१।९) सूत्र की प्रवृत्ति दीर्घ, प्लुत में नहीं होती। वैकृत ध्वनि तो शब्द की अभिव्यक्ति के बाद में होती है, उसके धर्म द्रुत, मध्य, विलम्बित शब्द में आरोपित नहीं होते। महाभाष्य में इसका उपक्रम इस प्रकार किया गया है[3] जहाँ पर द्रुत वृत्ति में स्वरों के आगे त् लिखा गया है, जैसे **अतो भिस् ऐस्** (७।१।९) वहाँ मध्यम तथा विलम्बित वृत्तियों का भी उपसंख्यान करना चाहिए जिससे सभी वृत्तियों में उच्चरित स्वरों का ग्रहण हो सके। इस आक्षेप का समाधान करते हुये भाष्यकार ने कहा है—

---

१. शब्द सामान्य दर्शन (सरस्वती सुषमा २४ वर्ष ३ अंक सन् २०२१ श्री रघुनाथ शर्मा का लेख)

२ वाक्य० १।७६ की वृत्ति में उद्धृत

३. म० भा० १।१।७०, पृ० ३७७-३७९

सिद्धं व्यवस्थिता वर्णा वक्तुश्चिराचिरवचनाद्वृत्तयोविशिष्यन्ते[१]

(वर्ण द्रुत, मध्यम, विलम्बित वृत्तियों में एक रूप रहते हैं। वक्ता के शीघ्र या देर में बोलने से वृत्तियाँ बदलती हैं, जैसे कोई नगाड़ा बजाने वाला नगाड़ा बजाकर उस नगाड़े की ध्वनि (गूँज) को सुनता हुआ २० कदम जाता है, दूसरा महत्तर ध्वनि को सुनता हुआ ३० कदम, तीसरा महत्तम ध्वनि को सुनता हुआ ४० कदम। यहाँ पर शब्द तीनों दशाओं में एक रूप ही होता है। काल में वृद्धि तो ध्वनि (वैकृत ध्वनि) द्वारा की जाती है।)

"ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महांश्च केषांचिदुभयं तत्स्वभावतः ॥"[२]

(शब्दों के दो स्वरूप होते हैं—ध्वनि तथा स्फोट। ध्वनि व्यंजक है तथा स्फोट व्यंग्य। व्यंग्य तथा व्यंजक दोनों स्वभावतः सिद्ध हैं। परन्तु ध्वनि लक्षित होती है। किन्हीं शब्दों की अल्पध्वनि सुनायी पड़ती है। किसी की महती होती है।) यहाँ कैयट ने अर्थ किया है—व्यक्त शब्दों के स्फोट एवं ध्वनि दोनों का ग्रहण होता है, अव्यक्त शब्दों की ध्वनि का ही। नागेश जी ने इसका समर्थन नहीं किया, उनका विचार है कि व्यक्त तथा अव्यक्त सर्वत्र शब्दों में स्फोट का ही ग्रहण होता है। ध्वनि तो उसकी व्यंजक है जो थोड़ी देर या अधिक देर तक उस स्फोट को स्थिर रखती है। भाष्यकार एवं भर्तृहरि का भी यही मत है।

नागेश ने कहा है कि कारिका में उल्लिखित 'उभय' पद की आवृत्ति कर भाष्यकारिका का यह अर्थ करना चाहिए—व्यक्त वाणी के स्फोट और ध्वनि दोनों स्पष्टरूप में कान से गृहीत होते हैं, परन्तु अव्यक्त वाणी की वर्ण-धर्म से अनाक्रान्त ध्वनि ही सुनाई पड़ती है। (उसमें स्फोट ध्वनि से पृथक् नहीं रहता।) भाष्य में ध्वनि पद का तात्पर्य प्राकृत वैकृत दोनो ध्वनियों से है। ग्रहण के कर्म उभय का तात्पर्य प्राकृत ध्वनि तथा स्फोट दोनों है। वैकृत ध्वनि का अल्पत्व, महत्त्व आदि उसकी कम या अधिक देर तक उपलब्धि (सुनाई पड़ने) से समझना चाहिए।[३] भाष्य तथा वाक्यपदीय

१. म० भा० १।१।७० पृ० ३७८
२. ,, ,, ,,
३ म० भा० १ १।७० प्रदीप तथा उद्योत

का निष्कर्ष यह है कि—जैसे प्रकाश स्वयम् आविर्भूत होकर पट से भिन्न घट को प्रकाशित करता है, इसके अनन्तर पुनः पुनः दृष्टिगोचर होता हुआ घट पूर्व प्रकाशित घट से भिन्न नहीं होता, उसी तरह प्राकृत ध्वनि स्फोट की अभिव्यक्त करती है। उसके बाद वैकृत ध्वनि उस व्यक्त स्फोट की चिर या अचिरकाल तक उपलब्धि में कारण है, उससे पूर्व व्यक्त स्फोट में भेद नहीं होता। अतः स्फोट के अभिव्यक्ति-काल में प्रतीत होने वाली प्राकृत ध्वनि के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत धर्म स्फोट में प्रतीत होते हैं। जहाँ पर अ के पूर्व या अनन्तर त् है वहाँ ये धर्म न प्रतीत हो, अतः **'तपरस्तत्कालस्य'** (१।१।७०) सूत्र की रचना प्रक्रिया निर्वाहार्थ की गई है। वैकृत ध्वनि के धर्म स्फोट में नहीं प्रतीत होते, अतः उनकी प्रतीति को रोकने के लिये नियम-निर्देश की आवश्यकता नहीं है।[1]

प्राकृत ध्वनि ही स्फोट की अभिव्यंजिका है। स्फोट रूप शब्द नित्य होता हुआ भी व्यंजक के अभाव से सदा उपलब्ध नहीं होता, जैसे अन्धकार मे बिजली की चमक के साथ घट दिखाई पड़ता है, बाद में घट रहता है, परन्तु अभिव्यंजक (प्रकाशक) के अभाव से उपलब्ध नहीं होता है। जैसा कि श्लोक वार्तिक में कहा गया है—

> **'सन्नेव साधनाभावाच्छब्दो नैवोपलभ्यते**
> **क्षणिकं साधनं चास्य बुद्धिरप्यनुवर्तते ।।**
> **मेघान्धकारशर्वर्यां विद्युज्जनितदृष्टिवत्'** ।[2]

इस प्रकार प्राकृत ध्वनि स्फोट की अभिव्यंजिका सिद्ध होती है।

अभिव्यक्तिवादियों के तीन मत

(१) ध्वनि के द्वारा श्रोत्र का संस्कार होता है, इस प्रकार कान में ही शब्दों को ग्रहण करने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है, जैसे आँखों में अंजन लगा लेने से दूर की वस्तु ठीक से दिखाई पड़ती है, वैसे ही ध्वनियाँ श्रोत्र को ही संस्कृत करती हैं। (२) ध्वनियों के द्वारा शब्द (विषय) का सस्कार होता है, अर्थात् शब्द में श्रोत्रग्राह्य होने की योग्यता आती है। जैसे तपी धरती में पानी डालकर उसके गन्ध का ज्ञान किया जाया है, यहाँ

---

१. वाक्य० कारिका १।७७ भावप्रदीप, पृ० ८८

२ श्लोक वार्तिक स्फोटवाद

पर धरती का ही संस्कार किया जाता है, घ्राणेन्द्रिय का नहीं। (३) ध्वनि के द्वारा श्रोत्र तथा शब्द दोनों का संस्कार होता है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय घड़े को प्रत्यक्ष करती है, परन्तु अन्धकार में स्थित घड़े को नहीं देख पाती, फिर दीपक की सहायता से उसका भी प्रत्यक्ष कर लेती है। इससे सिद्ध होता है कि दीपक का प्रकाश चक्षु में ग्राहकता, घट में ग्राह्यताशक्ति उत्पन्न करता है, अर्थात् घट से अन्धकार की निवृत्ति तथा नेत्र में रूपग्रहण-शक्ति की वृद्धि करता है, तथैव ध्वनि भी शब्द में आवरण करने वाले वायु का अपसारण तथा श्रोत्र प्रदेश में स्थित वायु का अपसारण रूप संस्कार करती है। (शब्द में प्रतिकूल वायु की बाधा को हटाना तथा श्रोत्र में स्थित वायु को मस्तिष्क तक प्रेरित कर कम्पन उत्पन्न करना यह ध्वनि का उभयविध कार्य है।[1])

यद्यपि महाभाष्य या वाक्यपदीय में उपर्युक्त तीनों मतों में वैयाकरणो का अभिप्रेत कौन सा है, यह नहीं प्रकट किया गया तथापि चरम मत वैयाकरणों का प्रतीत होता है। यह विचार भर्तृहरि की वृत्ति तथा अम्बाकर्त्री टीका के अध्ययन से समर्थित होता है।[2] प्रत्यक्ष ज्ञान में दो विप्रतिपत्तियुक्त विचार हैं। यह तो सभी मानते हैं कि चक्षु तैजस पदार्थ हैं, उसके स्वरूप में दो विचार हैं—बौद्ध चक्षु को बुद्बुद के समान मानते हैं। उनके मत में चक्षु घट आदि विषयों के स्थान में न जाकर उनका प्रत्यक्ष करता है, जैसे जुगनू (खद्योत) अपने ही स्थान में चमकता है तथैव नेत्र भी अपनी गोल पुतली में रहता है बाहर नहीं जाता। प्रकाश के द्वारा विषय का संस्कार होता है। नैयायिक चक्षु को रश्मि मानते हैं, जैसे मनुष्य अन्धकार में है, वह प्रकाश में स्थित घट आदि द्रव्य को देखता है, तब उसकी नयनरश्मियाँ सूक्ष्मरूप से स्थूल होती हुई प्रकाश तक पहुँचती हैं, वहाँ आलोक के द्वारा उनमें वस्तु के ग्रहण करने की शक्ति आ जाती है। अर्थात् बौद्धमत में प्रकाश केवल विषय का, नैयायिक मत में केवल नेत्र का संस्कार करता है, परन्तु प्रकाश के द्वारा विषय का संस्कार करने में नैयायिकों का विरोध नहीं है। अतः दोनों के संस्कार का पक्ष समीचीन है। इस पर कारिकाकार भर्तृहरि ने अपनी इष्टि (सम्मति) दी है—**'विषयेन्द्रिययोरिष्टः संस्कार**

---

१. वाक्य० कारिका १।७९-८०

२. „ „ १८० की वृत्ति तथा अम्बाकर्त्री टीका

स क्रमो ध्वनेः'[1]। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि ध्वनि इन्द्रिय तथा शब्द दोनों में ग्राहकता एवं ग्राह्यता उत्पन्न करती है।

स्फोटाभिव्यक्तिपूर्वक ध्वनि के ग्रहण के विषय में तीन मत

ऊपर लिखा गया है कि ध्वनि इन्द्रिय में ग्राहकता तथा शब्द से ग्राह्यता द्वारा दोनों का सम्बन्ध स्थापित कर स्फोट रूप शब्द को श्रोत्र-संवेद्य करने में अनिवार्य रूप से सहायक होती है। इस ध्वनि के ग्रहण के विषय में भी तीन मत हैं—(१) स्फोट (शब्द) तथा प्राकृत ध्वनि का अभिन्न रूप में ग्रहण होता है, जैसे स्फटिक का प्रत्यक्ष जपा कुसुम की लालिमा से अनुरंजित रूप में ही होता है, पृथक् नहीं या सूर्य के प्रकाश से व्यक्त स्तम्भ आदि पदार्थ का ज्ञान प्रकाश के साथ ही होता है, अलग नहीं। इसी तरह तालु आदि ध्वनि-यन्त्रों से उत्पन्न ध्वनि से व्यंग्य स्फोट का ज्ञान ध्वनि से अलग नहीं होता। श्लोकवार्तिककार ने इस सिद्धान्त का इस प्रकार समर्थन किया है—

'नादेन संस्कृताच्छ्रोत्राद्यदा शब्दः प्रतीयते।
तदुपश्लेषतस्तस्य बोधं केचित् प्रचक्षते॥'[2]

(ध्वनि-संस्कृत श्रोत्र से स्फोट-प्रतीति मानने वालों का एक वर्ग स्फोट को ध्वन्युपश्लिष्ट मानता है।)

(२) ध्वनि का अनुभव नहीं होता, वरन् अनुमान द्वारा उसकी प्रतीति होती है, जैसे विषय का ज्ञान बिना ग्राहक के नहीं हो सकता, अतः इन्द्रिय का अनुमान होता है, तथैव स्फोट का ज्ञान बिना अभिव्यंजक के नही हो सकता। अतः ध्वनि का अनुमान किया जाता है। इस मत में शुद्ध स्फोट रूप शब्द की उपलब्धि होती है, ध्वनि की नहीं। यह मत मीमांसकों का है—जैसा कि श्लोक वार्तिक में स्पष्ट है—**'नैव वा ग्रहणं तेषां शब्दे बुद्धिस्तु तद्वशात्'**।[3] (ध्वनियों का ग्रहण नहीं होता वरन् ध्वनि रूप व्यंजक मे रहने के कारण ही स्फोट का ग्रहण होता है।)

(३) ध्वनि का स्वतन्त्र रूप से ग्रहण होता है, उसका स्फोट से मिश्रण नहीं होता। ध्वनि व्यंजक है, स्फोट व्यंग्य। यह मत भाष्यकार प्रभृति

---

१. वाक्य० कारिका १।८०
२. श्लोक वार्तिका स्फोटवाद
३ श्लोक वार्तिक स्फोटवाद

वैयाकरणों का है। इस मत में शब्द के व्यंग्य, व्यंजक दोनों रूप स्वभाव-सिद्ध हैं। इस पर पूर्व पृष्ठों में विचार किया जा चुका है। जैसे मध्याह्न में प्रचण्ड सूर्य की प्रखर किरणों के सम्पर्क में मरुस्थल में छोटी भी वस्तु बहुत बड़े आकार की दिखाई पड़ती है, चन्द्र मण्डल में वृक्ष पर्वत इत्यादि की छाया दिखाई पड़ती है, परन्तु उनकी शाखायें, कोटर, धव, खदिर आम आदि का भान नहीं होता अर्थात प्रेरणा तथा दूरी के भेद के कारण एक स्थान की महती ध्वनि दूर देश में उत्तरोत्तर क्षीण होती जाती है तथा एक विशालकाय वस्तु दूर देश में उत्तरोत्तर छोटी होती जाती है. वैसे ही ध्वनि स्फोट से पृथक् रहती है। परन्तु ध्वनि के साथ ही उसकी उपलब्धि होने के नियम के कारण उससे परिच्छिन्न जैसी प्रतीत होती है। इसीलिए जिस वक्ता के दांत टूट गए हैं, उसकी बोली में स्फोट की प्रतीति नहीं होती, परन्तु ध्वनि की होती है। जहाँ बहुत से लोग बैठकर कीर्तन करते हैं या फाग गाते हैं, वहाँ पर श्रोताओं को केवल ध्वनि का ज्ञान होता है स्फोट का नहीं। यही दशा दूर के शब्द सुनने पर होती है। मेलों में दूर स्थित मनुष्यों को ध्वनि ही सुनाई पड़ती है स्फोट नहीं।

❀

षष्ठ परिच्छेद

वेद-पुराण तथा दर्शन-ग्रन्थों में स्फोट-विचार

वेद में स्फोट के आधारभूत तत्त्व

भारतीय चिन्तन परम्परा का आदि रूप वेद के माध्यम से हमें दृष्टिगोचर होता है। स्फोट का नामतः उल्लेख यद्यपि किसी वेद में नहीं प्राप्त होता, तथापि उसकी आधार-शिला के रूप में शब्द-नित्यत्व, शब्द-विभुत्व तथा वाणी के अव्याकृत होने की चर्चा वेद उपनिषद् में की गई है

जिनका दिग्दर्शन प्रथम परिच्छेद में कराया जा चुका है। ब्राह्मण ग्रंथों तथा उपनिषदों में की गई शब्द-ब्रह्मवाद की स्थापना का भी उल्लेख उसी प्रसग में किया गया है। अथर्वप्रातिशाख्य में ध्वनि-विशेष के अर्थ में स्फोट का उल्लेख मिलता है। संहिता में वर्ण-विपर्यय (पूर्वस्थानीय वर्ग के वर्ण से पूर्व परस्थानीय वर्ग का वर्ण आने पर) होने पर स्फोट होता है।[१] अथर्व प्रातिशाख्य के व्याख्याकार ने स्फोटन के अर्थ में व्यंजक का प्रयोग किया है। यह एक प्रकार की आंशिक ध्वनि है, जो पूर्ववर्ती व्यंजन के उच्चारण को व्यक्त करती है। स्फोटन का काल ह्रस्व अकार के १/८ के समान माना गया है।[२]

अन्यत्र प्रातिशाख्य में इसके विकल्प की इस प्रकार चर्चा की गई है—स्पर्श (क से लेकर म तक वर्ण) वर्णों के आगे कवर्ग के रहने पर स्फोटन करना विकल्प से दोष माना गया है।[३] इसके भाष्य में संयुक्त वर्णों के पृथक् उच्चारण को स्फोटन कहा गया है—

'स्फोटनं नाम पिण्डीभूतस्य संयोगस्य पृथगुच्चारणम्'[४]

वेद में सूक्ष्म, अर्थ से अविभक्त, एक ऐसी वाणी का वर्णन आया है जो शब्द, अर्थ दो रूपों में अभिव्यक्त होती है, वह अन्तःकरण में सन्निविष्ट है। उसे साधारण जन घट-पट आदि विभिन्न रूपों वाली मानते हैं। यद्यपि वह एक है तथा विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है।[५] महाभाष्य के पस्पशाह्निक में उद्धृत 'चत्वारि वाक् ....'मन्त्र[६] के दो व्याख्यान स्वीकृत हैं—परा-पश्यन्ती-मध्यमा तथा वैखरी रूप या नाम-आख्यात-उपसर्ग-निपात रूप वाणी का चतुर्थांश ही मनुष्यों के व्यवहार में आता है, शेष सामान्य व्यवहार से अतीत कहा गया है।[७]

---

१ अथर्व प्रातिशाख्य (२।३८)　　२. अथर्व प्रातिशाख्य (१।१०३)

३. वाजसनेय ,, (४।१६३)　　४. वाजसनेय प्रातिशाख्य उव्वटभाष्य

५. मंजूषा पृ० ४१ में उद्धृत ऋग्वेद का मन्त्र

६. ऋक्० १।१६४।४५

७. म० भा० पस्पशाह्निक पृ० ३२ तथा वा० प० १।१४२ स्वोपज्ञ टीका पृ० २५१

महाभारत में स्फोट सिद्धान्त का अंकुर

वाक्यपदीय तथा मंजूषा में महाभारत के कतिपय श्लोकों को उद्धृत किया गया है, जिनमें स्फोट सिद्धान्त का अंकुर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।[1] महाभारत के इन श्लोकों का संक्षिप्त भावार्थ चतुर्थ परिच्छेद में उल्लिखित है। इससे भी वाणी का मूल सूक्ष्मतम रूप सिद्ध होता है। इन श्लोकों में वाणी के स्फोट प्रतिपादक निम्नलिखित विशेषण है—

१—**एका** मन्त्ररूपा वैखरी

२—**उत्तमशालिनी**—विश्व का कारणरूप होने से सर्वोत्तम।

३—**दिव्यादिव्यरूपा**—देवरूपिणी नित्या, व्यवहारोपोगिनी।

४—**शुचिस्मिता** क्रमशः विकासशील मध्यमा रूपा।

५—**अविभागा**—विभागरहिता } पश्यन्ती रूपा
६—**संहृतक्रमा**— क्रमशून्य }

७—**अनपायिनी**—नित्या } परा या सूक्ष्मा
८—**स्वरूपज्योतिः**— स्वप्रकाशरूपा }

परा तथा सूक्ष्मा का प्रयोग समान अर्थ के लिए हुआ हैं। अतः नागेशभट्ट के '**परा वागनपायिनी**' तथा भर्तृहरि के '**सूक्ष्मा वागनपायिनी**' रूप उद्धरण में कोई अन्तर नहीं है। हरिवंशपुराण में स्फोट का नामतः उल्लेख इस प्रकार हुआ है—'**अक्षराणामकारस्त्वं स्फोटस्त्वं वर्णसंश्रयः**'।[1] (हे भगवन्! आप सर्वप्रथम तथा सभी में अनुस्यूत होने के कारण अक्षरों में अकार हो तथा वर्ण रूप ध्वनियों में वाह्य आश्रय बनाकर उनके द्वारा अभिव्यक्त होने वाले अर्थबोधक शब्द भी आप ही हो।) '**अकारः सर्वर्णाग्र्यः प्रकाशः परमेश्वरः**।' (नन्दिकेश्वर कारिका) तथा **अक्षराणामकारोऽस्मि** (गीता) में भी परमेश्वर की सर्वप्रथम विभूति को अकार कहा गया है।

श्रीमद्भागवत में स्फोट का उल्लेख

श्रीमद्भागवत में स्फोट का उल्लेख दो प्रकरणों में किया गया है—

(१) '**दिशां त्वमवकाशोऽसि दिशः खं स्फोट आश्रयः**
नादो वर्णस्त्वमोंकार आकृतीनां पृथक् कृतिः'।[2]

---

१ मंजूषा, पृ० ४३ में तथा वा० प० स्वोपज्ञ टीका पृ० २४६-२५२ उद्धृत महाभारत अश्व० पर्व ब्राह्मणगीता अध्याय २१ के श्लोक।

२. श्रीमद्भागवत १०।८५।६

श्रीधरस्वामी ने इसकी टीका में स्फोट का अर्थ शब्द-तन्मात्र तथा परावस्था वाक् कहा है। आगे उन्होंने **'नादः, ओंकारः'** तथा **'आकृतीनां पृथक्कृतिः वर्णः'** का अर्थ क्रमशः पश्यन्ती, मध्यमा तथा वर्ण-पदरूपा वैखरी वाणी किया है। यह विचार सांख्य मत तथा आगम सिद्धान्त से साम्य रखता है। 'आश्रयः' का अर्थ 'आकाश जिसका आश्रय है' मानने पर न्यायमतानुसार स्फोट (शब्द) आकाश का गुण सिद्ध होता है।

(२) शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्
येन वाग्व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः'।[1]

इसकी व्याख्या पूर्व प्रसंग सापेक्ष है। श्रीमद्भागवत-प्रवक्ता सूत जी ने शौनक इत्यादि ऋषियों से वाणी का विकासक्रम इस प्रकार कहा है—ब्रह्मा के हृदयवर्ती आकाश से नाद का आविर्भाव हुआ। वह (अनाहत) नाद श्रोत्रेन्द्रिय का निरोध कर (कान मूँदकर) हम सब के द्वारा भी सुना जा सकता है। उस नाद की उपासना से योगी जन द्रव्य-क्रिया-कारक (अधिभूत, अध्यात्म तथा अधिदैव) रूप मल को दूर कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। उस अनाहत नित्य सूक्ष्म नाद से, अव्यक्त (ईश्वर) प्रादुर्भाव का कारण है जिसका, ऐसा तीन मात्राओं (ह्रस्व-दीर्घ, प्लुत या अ, उ, म् रूप) का ओंकार (ओम्) अभिव्यक्त हुआ, जो विराट् (स्वयं प्रकाशित होने वाला) है। यह ओम् ब्रह्म स्वरूप परमात्मा का ज्ञापक (शब्द रूप चिह्न) है जो कार्य से लक्षित होता है। इसी के आगे परमात्मा का लक्षण बताते हुए सूत जी कहते हैं—यद्यपि वह प्रणव रूप नाद क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल होता जाता है तथा सभी जन उसे सुनते हैं, परन्तु सभी जीवों की इन्द्रियाँ निद्राकाल में अज्ञानरूप तम से आवृत हो जाती हैं। जब उनके सत्त्व, रज को तम अभिभूत कर लेता है। उस समय जीव की वृत्ति को निद्रा कहते हैं।[2] उस काल में जीव स्फोट रूप शब्द का श्रोता नहीं हो सकता, क्योंकि उसका ज्ञान इन्द्रियाधीन है। ईश्वर शून्यदृक् (इन्द्रिवर्ग के शून्य हो जाने पर भी जिसे ज्ञान रहे ऐसा) है। वही श्रोत्र की सुप्तावस्था में उस प्रणव स्फोट को सुनता है तथा उसे सुनकर जीव को जगाता है। उस स्फोट से ही बृहती (यह वैखरी वाणी) अभिव्यक्त होती है तथा उसकी अभिव्यक्ति आत्मा से होकर हृदयवर्ती आकाश में होती है।

---

१ श्रीमद्भागवत १२।६।४०

२ योगदर्शन १।१

इसी क्रम में आगे ओम् को परमात्मा का साक्षात् वाचक, सभी मन्त्रों का रहस्य, वेद का बीज एवं सनातन (ब्रह्मरूप) माना गया है। यही प्रणव नामरूपात्मक सृष्टि का कारण है।[1] श्रुति भी इसी क्रम का समर्थन करती है—'ओंकार एव सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति।[2]

श्रीमद्भागवत में कथित स्फोट आन्तर स्फोट है। इस स्फोट रूप शब्द की परमेश्वर-रूपता का प्रतिपादन श्रीमद्भागवत में इस प्रकार किया गया है—भगवान् कृष्ण उद्धव को शब्द ब्रह्म का उपदेश देते हैं—

'स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहाम् प्रविष्टः
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः'।[3]

श्रीधर स्वामी ने इसकी आगमानुसारिणी व्याख्या इस प्रकार की है—विवर–आधार (मूल) आदि चक्रों में जिसकी अभिव्यक्ति होती है, ऐसा यह जीव (हृदयाकाशरूपी गुहा में प्रविष्ट शब्द रूप परमेश्वर) प्राण, घोष-नाद के साथ मनोमयपश्यन्ती रूप तथा मध्यमा रूप को क्रमशः प्राप्त होकर (मुख में जाकर) मात्रा—ह्रस्व आदि, स्वर—उदात्त आदि एवम् क ख ग आदि वर्णों के रूप में अत्यन्त स्थूल (वेद-पुराण-इतिहास रूप) हो जाता है। इसमें शब्द के चार रूप गिनाये गये हैं—

१. विवर प्रसूतिः—परा रूपः
२. प्राणेन घोषेण गुहाम् प्रविष्टः—पश्यन्ती रूपः
३ मनोमयं रूपम् उपेतः—मध्यमा रूपः
४. मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः—वैखरी रूपः

इसके आगे भागवतकार ने वाणी का चतुर्विध रूप उष्मा (गरमी) के दृष्टान्त से पुष्ट किया है। जैसे ऊष्मा आकाश में अव्यक्त, वायु में (अभिन्न होने से) सूक्ष्म, बलपूर्वक लकड़ी में मन्थन करने से अणु रूप तथा हवि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होती है तथैव मेरी (भगवान् की) अभिव्यक्ति स्वरूप यह चतुर्विध वाणी है।[4] इसी एकादश स्कन्ध में शब्दाद्वैतवाद (स्फोटात्मक

---

१. श्रीमद्भागवत १२।६।४१-४३
२. ऐतरेय ३।६।७ (मंजूषा में उद्धृत पृष्ठ ३६९)
३. श्रीमद्भागवत ११।१२।१७
४ " ११ १२ १८

ब्रह्म) की प्रतिष्ठा श्रीकृष्णोद्धवसंवाद में इस प्रकार की गई है। भगवान् का कथन है—हे उद्धव ! शब्दब्रह्म स्वरूपतः दुर्बोध है। वह समुद्रवत् अगाध तथा अनन्त है। उसमें प्रवेश करना कठिन है। उसके परोक्ष तीन रूप हैं—
१—प्राणमय (परा) २—मनोमय (पश्यन्ती) ३—इन्द्रियमय (मध्यमा) जैसे बिस (मृणाल) में उसके रेशे अनुस्यूत होते हैं, वैसे ही नादरूप से सभी प्राणियों में वह (परमात्मा) अनुस्यूत है। वह शब्द तत्त्व मेरे (परमेश्वर) द्वारा ही अधिष्ठित यथा व्याप्त है। जैसे ऊर्णनाभि (मकड़ी) हृदय से निर्गत ऊन को मुख मार्ग से बाहर निकालती, समेटती है, तथैव हिरण्यगर्भ स्वरूप ज्ञानमूर्ति, सर्वव्यापक नादात्मक प्रभु (भगवान्) अपनी इच्छा से हृदयाकाश से अनेक स्वर स्पर्श, अन्तःस्थ वर्णों से संयुक्त अनन्त वैखरी वाणी को अभिव्यक्त करते हैं तथा मकड़ी की तरह समेट लेते हैं।

शाक्त मत में 'परा' वाणी ही वाक् प्रपंच का मूल

शाक्तमत में परादि चतुर्विध वाणी तथा परा का चैतन्य (चिति)-रूपत्त्व-प्रतिपादन प्रथम परिच्छेद में किया जा चुका है। परा को ही दुर्गा सप्तशती में अर्धमात्रा रूपा कहा गया है, जिसका विशेष रूप से कथन (यह इस प्रकार है ऐसी उक्ति) कठिन है। **'अर्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः'** ।[1] परन्तु शाक्त मत में शब्द ब्रह्म परा का विकसित रूप है। वेदान्त में वह ब्रह्म का अपर स्वरूप तथा व्याकरण में शब्द ही ब्रह्म है। शाक्त मत में इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियाँ सरिताओं की तरह **चित्स्वधार्णव** (चिति रूप समुद्र) से निकलती है। अतः शाक्त इच्छा-ज्ञान-क्रिया तथा इनके समूह रूप, पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी नाम से विकसित, परा वाणी के ज्ञान को सिद्धि मानते हैं।[2]

शैवाद्वैतवाद का स्फोटवाद में प्रभाव

व्याकरण-प्रवक्ताओं तथा व्याकरण-दर्शन को प्रभावित करने वाले विभिन्न दर्शनों तथा उनके मान्य विचारों का उल्लेख तृतीय परिच्छेद में किया जा चुका है। उनमें शैवाद्वैतवाद का विशेष प्रभाव पाणिनि तथा उनके अनुयायी वैयाकरणों पर लक्षित होता है। यह भी माना जाता है कि प्रसिद्ध शैवाद्वैतवादी नन्दिकेश्वर पाणिनि के उपदेष्टा थे। नन्दिकेश्वर

---

१. दुर्गा सप्तशती १।७४
२. श्रीपरात्रिंशिका (काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली ग्रन्थांक ६८) का मंगलाचरण श्लोक

टीकाकार उपमन्यु ने लिखा है कि नन्दिकेश्वर ने शिवसूत्रों की व्याख्या तथा अन्त में हल् वर्णों का प्रयोग पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों की अभीष्ट सिद्धि तथा धातुओं की प्रवृत्ति के लिए किया।

'अत्र सर्वत्र सूत्रेऽन्त्यं वर्णचतुर्दशम् ।
धात्वर्थं समुपादिष्टं पाणिन्यादीष्टसिद्धये[1] ।'

महर्षि पतंजलि का 'सोऽयमक्षरसमाम्नायो ब्रह्मराशिः'। तथा कैयट का **'ब्रह्मतत्त्वमेव शब्दस्वरूपतया भाति'** कथन नन्दिकेश्वर की 'अहमात्मापरः' कारिकानुसारी है।[2] उद्योत में तो **'अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमेश्वरः ।** यह कारिका ही उद्धृत की गई है।[3]

'स्वतन्त्रः कर्ता' सूत्र के भाष्य तथा प्रदीप से स्पष्ट होता है कि पाणिनि प्रभृति वैयाकरण शैवाद्वैतागम के स्वातन्त्र्यवाद से प्रभावित थे। तृतीय परिच्छेद में इसका विशद् विवेचन किया गया है। 'कर्ता कार्य को करने, न करने या सामान्य से भिन्न प्रकार से करने में समर्थ है' इस विचार को वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने कर्ता के स्वातन्त्र्य का विवरण करते हुए इस प्रकार प्रकट किया है - सहकारी करण इत्यादि साधनों से पूर्व ही शक्तिमान् व स्वाधीन होने से, कर्ता स्वतन्त्र कहा जाता है। उसी के अधीन अन्य करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण आदि कारकों की प्रवृत्ति होती है। उसके प्रतिनिधि दूसरे कर्म-करण आदि नहीं हो सकते तथा दूसरे कारकों के अभाव में भी 'अस्ति' इत्यादि में उसकी प्रवृत्ति देखी जाती है। ('वह विद्यमान है' इस वाक्य में कर्ता मात्र है, अन्य कारक नही है।[4] भर्तृहरि अद्वैत शैवागम के अनुयायी थे। इनके वाक्यपदीय ग्रन्थ की कारिकायें अन्य अद्वैत शैवागमों में उद्धृत की गई हैं। इसी स्वातन्त्र्य शक्ति से सम्पन्न मूल परा वाणी शब्द सृष्टि का कारण होती है। उसी का स्फुरण (स्फोट) पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी है।

इसी प्रकार शैवाद्वैत का प्रत्ययवाद भी वैयाकरणों को मान्य है, जिसमें भिन्न रूपतया भासमान घट-पट आदि परमार्थतः एक माने जाते

---

१. नन्दिकेश्वरकारिका २
२. ,, २
३ म० भा० तथा प्रदीप—उद्योत, पृ० १०२, कारिका ४
४ वाक्य० तृतीयकाण्ड साधन समुद्देश श्लोक ९९, १००

है। वैयाकरण भी अ+इ को सन्धि द्वारा व्यवहार में भले संयुक्त स्वर मानें, परन्तु अनुभव में एक अक्षर मानते हैं। अद्वैत दर्शनकार ने अ+इ को क्रमशः ब्रह्म तथा उसकी चित्कला मानकर केवल व्यावहारिक भेद दिखाया है। तत्त्वतः दोनों एक हैं।[1] वैयाकरण दर्शन अद्वैत शैवागम से पूर्णरूपेण अनुप्राणित है।

सिद्धान्त शैवमत में शब्दार्थ-विचारपूर्वक स्फोट की अस्वीकृति

शैवागम का एक भेद द्वैतवाद भी है, जो वाचस्पति मिश्र के मतानुसार न्याय वैशेषिक का पूर्वरूप है। इसके दो उपभेद हैं, पाशुपत दर्शन तथा सिद्धान्त शैव दर्शन। सिद्धान्त शैव दार्शनिकों में 'रत्नत्रय' ग्रन्थकर्ता श्रीकण्ठ तथा 'नादकारिकाकृत्' रामकण्ठ द्वितीय प्रसिद्ध हैं। इस मत में ३६ अवान्तर पदार्थों में **बिन्दु** प्रथम है, इसे ही **महामाया**, **कुण्डलिनी** शब्दों द्वारा कहा जाता है। यही नाद का कारण है, ज्ञान बिन्दु के परिणामभूत नाद में समवेत रहता है।[2] सिद्धान्त शैव मत में अर्थ-बोध पर विचार किया गया है। उनके अर्थ-बोध विषयक प्रश्न, वैयाकरण-मत का खण्डन तथा स्वसिद्धान्त के उल्लेख का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है—जब गौः, घटः सः गच्छति इत्यादि शब्दों एवं वाक्यों के घटक अक्षर क्रमशः सुनाई पड़ते हैं क्रम से ही जाने जाते हैं तथा उच्चारण क्षण के अनन्तर ही नष्ट हो जाते हैं, तब इन शब्दों या वाक्यों से अर्थ-बोध कैसे हो सकता है? क्योंकि अक्षर-राशि स्वरूप शब्द, तद्घटित वाक्य का प्रत्यक्ष असम्भव है। यदि यह कहा जाय कि पूर्व-पूर्ववर्ती अक्षर-संस्कारों के सहित अन्तिम वर्ण से अर्थ-बोध हो जायगा, यह ठीक नहीं है, संस्कार जिन वर्णों के द्वारा बुद्धि में आरोपित होते हैं, उन्हीं के ज्ञान के हेतु हो सकते हैं, (अनुभूत) अर्थ-बोध के हेतु नहीं हो सकते। घट के घ्, अ, ट्, अ वर्णों का संस्कार घ्, अ इत्यादि वर्णों के रूप में हुआ है न कि घट के रूप में।

वैयाकरण अर्थ-बोध का जनक व्यापक नित्य स्फोट मानते हैं, वही श्रोताओं के मन में अर्थ को स्पष्ट करता है। वह स्फोट पूर्वपूर्ववर्ण-संस्कार के सहित अन्तिम वर्ण से अभिव्यक्त होता है। तथा जैसे रसावस्था में स्थित मयूर के अण्डे में अनेक वर्ण घुले-मिले रहते हैं, पर दृष्टिगोचर नहीं होते

१. नन्दिकेश्वर कारिका १

२. रत्नत्रय २३।४

तथैव स्फोट में भी घकारादि वर्ण, घटादि पद तथा घटोऽस्ति इत्यादि वाक्य अव्यतिरिक्त रूप में रहते हैं। वैयाकरणों का यह विचार ठीक नहीं है, इसके निम्नलिखित कारण हैं—

(१) वर्णों से भिन्न स्फोट मानें तो शशविषाण (खरगोश के सींग) की तरह उसकी उपलब्धि नहीं रहेगी, उनसे अभिन्न मानने पर वर्ण ही स्फोट होंगे।

(२) स्फोट को व्यापक मानने पर एक स्थान पर, एक समय, एक पुरुष के द्वारा उच्चरित होने पर, देशान्तर व कालान्तर में, अन्य पुरुषों को भी उसकी अर्थ-प्रतीति होनी चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता।

अतः विज्ञान को अर्थोद्‌भावक मानना उचित है। सिद्धांतशैवों के मत में शब्दार्थ-बोध प्रक्रिया निम्नलिखित है—सभी मनुष्य सास्नालांगुलयुक्त पदार्थ को बुद्धि में स्थिर कर, 'गौः' इस पद को उसका वाचक सोचकर, गौः इस स्थूल शब्द का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार प्रयुज्यमान शब्द श्रोतृवर्ग की कर्णशष्कुली के द्वारा बुद्धि में पहुँचकर स्मृति के द्वारा प्रागनुभूत शब्द तथा नियमतः उसके सहचर अर्थ (पदार्थ) का स्मरण कराता है, क्योंकि शब्द व अर्थ का वाच्य-वाचक सम्बन्ध है, इस प्रकार अर्थ-प्रतीति होती है। इस तरह सिद्धान्तशैव आन्तर परामर्श ज्ञान की वाचकता स्वीकार करते हैं, उनका कथन है—'**बाह्याकारपरामर्शरूपत्वाद् वाचकम्, ततश्च वाचकैः परामर्शज्ञानभेदैः गवाविलक्षणा बाह्याकारभेदाः विमृश्यमानाः वाच्याः भवन्ति**।'[1] इस विमर्शात्मक विज्ञान रूप अर्थ की उत्पत्ति का कारण नाद है।

सिद्धान्त शैव मत में अर्थ-बोध प्रक्रिया

पहिले बुद्धि से बाह्य किसी विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तदनन्तर बुद्धि से उसका अध्यवसाय होता है। इसी प्रकार आन्तर विषय के अध्यवसाय में बुद्धि के द्वारा सूक्ष्मोच्चारण (अन्तःसंजल्प) से गृहीत ही विषय का ज्ञान होता है। इस अक्षर विन्दु रूप अन्तःसंजल्प का कारण नाद है। नाद ही अन्त सजल्प को उत्पन्न करता है, अत वही शब्दार्थ ज्ञान का कारण

भी इन्द्रिय में बाह्य विषय का प्रतिबिम्ब पड़ने पर वक्ता में स्थित नाद, शब्दार्थैक्य रूप अन्तः संजल्प रूप से विषय के ज्ञानार्थ, उसे बुद्धि के सामने उपस्थापित करता है। बुद्धि अध्यवसाय (बोध) करती है। वह अध्यवसाय वक्ता के द्वारा व्यक्त वर्णों के रूप में प्रकट किया जाता है। श्रूयमाण वर्ण ही श्रोतृनिष्ठ नाद को अभिव्यक्त करते हैं। वह नाद श्रोतृबुद्धि के समक्ष शब्दार्थैक्यात्मक अन्तःसंजल्प को उपस्थापित करता है। श्रोतृबुद्धि शब्द, अर्थ का पृथक्करण रूप अध्यवसाय कर 'इस शब्द का यह अर्थ है' ऐसा निश्चय करती है। ये नाद असंख्येय हैं। प्रत्येक नाद एक जीवात्मा से सम्बद्ध है, वह व्यक्ति-विशेष में बाह्य विषय के सविकल्पक ग्रहण काल में, अन्तः संजल्प का उद्भावक होता है। इस शब्दार्थ बोधक्रम को निम्नलिखित प्रकार से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

वक्तृपक्ष की प्रक्रिया

इसका यह क्रम है– गौः इस बाह्य पदार्थ का चक्षुरिन्द्रिय में प्रतिबिम्ब, वक्तृनिष्ठ नाद से उत्पन्न अन्तःसंजल्प (गौः शब्द गौः अर्थ की एकता) द्वारा बुद्धि के समक्ष उपस्थापन, बुद्धि द्वारा 'इयम् गौः' यह बोध, वक्ता द्वारा उस बोध की 'इयम् गौः के इ, य्, अ, म्, औ तथा विसर्ग' रूप व्यक्त वर्णों द्वारा अभिव्यक्ति। वक्ता के व्यक्त वर्णों द्वारा श्रोता के कर्ण-कुहर में पहुँचकर श्रोतृनिष्ठ नाद की अभिव्यक्ति, नाद के द्वारा श्रोतृबुद्धि के समक्ष पूर्ववत् अन्तः संजल्प का उपस्थापन, श्रोतृबुद्धि द्वारा शब्द, अर्थ का पृथक्करण तथा वाच्यवाचक सम्बन्ध का निश्चय, (गौ. इत्ययं शब्दः, गौः इत्ययमर्थः अस्यायं वाचकः) गौः शब्द वाचक है एवम् गौः पदार्थ वाच्य है ऐसा बोध। इस प्रकार प्रत्येक नाद निखिल शब्द तथा अर्थ का अव्यक्त रूप है। जैसे मोर के अण्डे के रस में उसके पंख के सभी वर्ण परस्पर अविभक्त होकर एक रूप रहते हैं तथैव नाद में ध्वनिरूप विभिन्न शब्द तथा जगत् के निखिल अर्थ अव्यक्त रहते हैं। नाद ही वस्तु के प्रत्यक्षकर्ता में, बाह्य विषय के प्रत्यक्षकाल में, तथा श्रोता में विषयबोध के लिए उच्चरित वर्णो के श्रवणकाल में, शब्दार्थैक्य रूप अन्तः संजल्प को उद्भावित करता है। सिद्धान्तशैव दर्शन में विन्दु ही परा है उसे शिव तत्त्व नाम से भी कहा जाता है, उससे उद्भूत नाद को शक्ति माना गया है। ये नाद को सृष्टि-पर्यन्त ही नित्य मानते हैं

शिवदृष्टिकार द्वारा स्फोट की अमान्यता

शिवदृष्टिकार श्री सोमानन्दनाथ द्वैतसिद्धान्तानुयायी हैं, परन्तु परमार्थतः शिव को ही एकमात्र अद्वय मानते हैं। इन्होंने वैयाकरणों को माधु (मूर्ख) कहकर उनके स्फोट-वाद तथा शब्द-ब्रह्मवाद का खण्डन किया है।[1] संक्षेप में इनके तर्क निम्नलिखित हैं—वाक् (वाणी) पाणि व पाद की तरह अति स्थूल कर्मेन्द्रिय है। वह आत्मा या ब्रह्म कैसे हो सकती है। 'पश्यन्ती' पद सकर्मक दृश् धातु से कर्ता अर्थ में वर्तमानकालिक शतृ प्रत्यय लगाकर बना है। यह वाक् का विशेषण है। अतः इसका घट आदि कोई कर्म होना चाहिए। विवर्त सिद्धान्तानुसार सभी दृश्य घट आदि असत्य हैं, तब पश्यन्ती कैसे ब्रह्म होगी। '**असत्या यदि पश्यन्ती, पश्यन्ती ब्रह्म चित्रता।**'[2]

मध्यमा पश्यन्ती का ही कार्य होगी। यदि पश्यन्ती को समवायि कारण मानें तो वह नित्य नहीं हो सकती। यदि निमित्त मानें तो पश्यन्ती तथा मध्यमा के भेद से उसमें द्वैत रूपता आ जायगी। उसे नाद, बिन्दु की सापेक्ष मानने पर उसकी व्यापकता नहीं रहेगी। वैयाकरण-मत में स्फोट रूप पश्यन्ती को नित्य माना गया है। पूर्व रीति से पश्यन्ती के अनित्य सिद्ध होने से स्फोट भी अनित्य हो जायगा तथा नित्य स्फोट असत्य (अनित्य वर्णों से कैसे व्यक्त हो सकता है। पश्यन्ती की मान्यता में कोई प्रमाण भी नहीं है। शब्द भी आप्तजनोपदिष्ट होने पर ही प्रमाण होता है, उसे नित्य मान लेने पर उसकी प्रामाणिकता नष्ट हो जायगी। अतः नाद-रूप सूक्ष्म मन्त्रात्मक शब्द ही शिव रूप है, इन्द्रिय रूप वाणी नहीं।'...... **नादरूपाविशब्दस्यास्ति शिवात्मता।**'[3] वैयाकरणों में भर्तृहरि से लेकर भट्टोजिदीक्षित तथा उनके अनुयायी कौण्डभट्ट आदि ने अद्वैत शैवागम तथा नागेशभट्ट ने सिद्धान्त शैव एवं शिवदृष्टिकार के विचारों से प्रभावित होकर स्फोटविषयक अपने सिद्धान्त को स्थापित किया है, इसका संक्षिप्त विवेचन तृतीय परिच्छेद में कर दिया गया है आगे इनकी समीक्षा की जायगी।

---

१. शिवदृष्टि २।१
२. ,, २।२४ (पूर्वार्द्ध)
३. ,, २।८६

प्रत्यभिज्ञादर्शन का स्फोटवाद में प्रभाव

स्फोटवाद को विशेष रूप से प्रभावित करने वाला, काश्मीर में पल्लवित, प्रत्यभिज्ञा (त्रिक) दर्शन है। यह अद्वैत तथा सांख्य दर्शन का पूर्वरूप-सा प्रतीत होता है, केवल इस दर्शन में शिव (ब्रह्म) को सक्रिय माना गया है, जब कि अन्य दर्शनों में वह निष्क्रिय है। इसमें ब्रह्म के साथ उसकी चित् शक्ति की स्वतन्त्र क्रीड़ा को संसार कहा गया है। ब्रह्मस्वरूप परम-तत्त्व के शिव तथा शक्ति दो पक्ष हैं। शिव प्रकाश हैं तथा शक्ति विमर्श। दोनों ही स्वतन्त्र हैं। इस स्वातन्त्र्य शक्ति के तीन रूप हैं—इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया। अतएव इसे त्रिक दर्शन भी कहते हैं शिव का 'अहम्' के रूप परि-स्फुरण (स्फुटित होना) ही शक्ति है। संस्कृत की वर्णमाला अ से ह तक मानी गई है। म् प्रत्यय का प्रतीक है। (अह का प्रथमा एक वचन नपुंसक-लिंग में अहम् होता है।) यह **बृहती** (अक्षर-पद-वाक्य विस्तार) मूलतत्त्व परा वाक् के रूप में रहती है, यही शिव शक्ति का अभिन्न रूप है। अभि-व्यक्ति के लिए उन्मुख होने पर यह **पश्यन्ती** (इच्छाशक्तिमयी) होती है यहाँ वाच्य-वाचक भेद, क्रमभेद नहीं होते। तृतीय अवस्था **मध्यमा** (ज्ञान शक्ति) है, इसमें मानस वाच्य-वाचक भेद होने लगता है, परन्तु वक्ता को ही उसकी प्रतीति होती है। चतुर्थ रूप **वैखरी** (क्रिया शक्ति) ध्वनि वर्णा-त्मक है, उसी का यह समस्त विस्तार है, जो विश्व भर की व्यक्त, अव्यक्त भाषाओं के रूप में वर्तमान है।

यह त्रिकसाधना विस्तार से संक्षेप की ओर ले जाती है। वैखरी से मध्यमा चिन्तन की दशा है, जहाँ शब्द-प्रयोग से विरति होती है। पश्यन्ती में विकल्पात्मक चिन्तन भी नहीं रहता, केवल अहम् की अभिव्यक्ति की इच्छामात्र रहती है। परा में वह भी नहीं रहती, अतः उसे अनुत्तर कहते हैं। इसी प्रकार शाक्त दर्शन में भी वाणी की चार अवस्थायें बताई गई हैं—पहली परा है, यह निस्तरंगसमुद्रवत् है, इसका आधार मूलाधार चक्र है। दूसरी पश्यन्ती, यहाँ शब्द विचार का रूप ले लेता है तथा अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख होता है। पश्यन्ती का अर्थ है (अपना स्फुरण) देखने वाली। इसका स्थान नाभि है। तीसरी अवस्था मध्यमा है, यहाँ शब्द हृदय-स्थित अनाहत चक्र में पहुँच जाता है। अनाहत का अर्थ शब्द का वह रूप, जो आघातजन्य न होकर स्वतः स्फुटित हो। यहाँ तक शब्द की शाश्वत अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती है, चौथी अवस्था वैखरी है, यहाँ पर पहुँच कर शब्द पर श्रोत्रग्राह्य होता है

द्वैतशैवागमों में स्फोट ध्वनि का अन्यतम रूप

द्वैत शैवागमों में स्फोट को ध्वनि का अन्यतम भेद माना गया है। हरिभद्र सूरि ने शैवागम को न्याय-वैशेषिक का पूर्व रूप कहकर शैवों को ही इन दो दर्शनों का प्रवर्तयिता माना है।[1] स्वच्छन्द तन्त्र में हंस के उच्चारण की प्रक्रिया के कथन में अ तथा ह में भेद नहीं स्वीकार किया गया[2]—आगे यह कहा गया है कि ओम् (ॐ) का प्रादुर्भाव जब हृदय से होता है, तब वह अ स्वरूप रहता है तथा एकमात्रात्मक है। कण्ठ स्थान मे आकर द्विमात्रात्मक उकार तथा तालु मध्यगत त्रिमात्रात्मक मकार उच्चरित होता है तथा विन्दु अर्ध-मात्रास्वरूप होता है।[3] जब शब्द भ्रू-मध्य मे पहुँचता है, तब स्फोट शब्द होता है। विन्दु का भेदन करने वाले प्राणी के शब्द की 'घुम-घुम' जैसी ध्वनि होती है।

भ्रुवोर्मध्ये यदा गच्छेत स्फोटशब्दस्तु जायते,
बिन्दुं भेदयतो देवि ! शब्दो घुमघुमायते ।[4]

यहाँ पर टीकाकार ने स्फोट को अव्यक्त शब्द (व्यक्त शब्द से भिन्न) कहा है।

'अनभिव्यक्त-वर्णरूपस्फुटत्वादशब्दकल्पः स्फोटः ।'

इस ग्रन्थ में स्फोट को, ध्वनि रूप अष्टविध शब्द-भेद में अन्यतम कहा गया है।

घोषो रावः स्वनः शब्दः स्फोटाख्यो ध्वनिरेव च,
झंकारो ध्वंकृतश्चैव अष्टौ शब्दाः प्रकीर्तिताः ।[5]

दूसरे तन्त्रग्रंथ में पराशक्ति की क्रियाशक्ति के रूप में विकसित अष्टविध ध्वनियों में स्फोट का नाम आया है—

वर्णरूपाष्टभेदेन स्फोटादिध्वनिरूपिणी,
मातृका सा विनिर्दिष्टा क्रियाशक्तिर्महेश्वरी ।[6]

---

१ षड्दर्शन समुच्चय
२ स्वच्छन्द तन्त्र (काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलिः) चतुर्थ पटल ३४८ श्लोक
३ ,, ,, ,, ,, ३५०-३५१
४. ,, ,, ,, ,, ३७५ श्लोक
५ ,, ,, ,, ,, प्रथम पटल १७
६. श्रीनेत्रतन्त्र अधिकार २१ श्लोक ३८

इस तन्त्र में पराशक्ति को प्रकाश, आनन्द स्वरूप तथा शिव को विमर्श रूप निरानन्द मानकर, शक्ति को विश्व का उपादान, शिव को निमित्तकारण कहा गया है।[1] इसमें स्फोट ध्वनि की उपमा वेग से दौड़ती हुई नदी के घोष से की गई है तथा उसे ही शब्द समूह की अभिव्यक्ति का कारण माना गया है। जब निराकार पराशक्ति के संयोग से, प्रकाशानन्दघनशिव स्वरूप से अत्यन्त वेग से स्फोट रूप ध्वनि का प्रादुर्भाव होता है तब उस नाद को सदाशिव नाम से उच्चरित किया जाता है—

> ध्वनिरूपो यदा स्फोटस्त्वदृष्टाच्छिवविग्रहात्,
> प्रसरत्यतिवेगेन ध्वनिना पूरयञ्जगत्।
> स नादो देवदेवेशः प्रोक्तश्चैव सदाशिवः॥[2]

टीकाकार ने स्फोट की व्युत्पत्ति यह दी है—**स्फुटति—अभिव्यज्यते यस्मात् शब्द-ग्रामः इति स्फोटः**—शब्द ब्रह्म, अतएव ध्वनि रूपः **शब्दन-स्वभाव**। स्पष्ट है कि तन्त्र-ग्रंथों में स्फोट को ध्वनि का एक भेद तथा शब्द को अनित्य व उत्पादविनाशशाली माना गया है। शब्दार्थचिन्तामणिकार ने वैखरी वाणी को नाद की संज्ञा दी है तथा सम्पूर्ण विश्व को नादात्मक माना है।[3]

शाक्त एवं शैवागमों में 'परा वाणी' का विवरण

परात्रिंशिका-विवरण में परा शक्ति को विमर्श रूपा कहा गया है। वह देश, काल की इयत्ता से रहित ज्ञान (संवित्) मात्र स्वरूपा है, तथा विश्व के सभी प्राणियों के प्रति अनुग्रह का विमर्श (विचार) रूप बनकर, सभी प्रमाताओं (ज्ञानियों) के ज्ञान से अभिन्न होकर, पश्यन्ती स्वरूप मे आती है। पश्यन्ती बोध के सूत्र मात्र से प्रबुद्ध अर्थ का विमर्श करती है। इस अवस्था में वाच्य-वाचक का अभेद ही रहता है। मध्यमा की दशा में वाच्य-वाचक में भेद पूर्वक अभेद व्यवहार होने लगता है, इसे ही ताद्दात्म्य या अध्यास कहते हैं। **घटः शब्दः, घटः अर्थः; अर्थं वदति, अर्थं शृणु** इत्यादि प्रयोग शब्द, अर्थ का तादात्म्य मानकर ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि घट आनुपूर्वी शब्द है, घटत्व जाति से अवच्छिन्न अर्थ है तथा शब्द ही बोला, सुना

---

१. श्रीनेत्रतन्त्र अधिकार २१ श्लोक ४८-५०

२　　„　　,　　,　६२ १/२-६३

३　शब्दार्थ चिन्तामणि, भाग २, पृ० १३७२

जाता है। वैखरी अवस्था में शब्द, अर्थ का भेद स्पष्ट हो जाता है।[1] ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी की भास्करी टीका में प्रत्यवमर्श रूप चिति को परा वाक् मानकर उसे परमात्मा का प्रधान ऐश्वर्य कहा गया हैं।[2] अन्तःकरण के अर्थ को ध्वनि के द्वारा कहने के स्वभाव को प्रत्यवमर्श कहते हैं। यह परा वाक् विमर्श रूप है। सभी क्रियाओं में इसकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण है, अतः परावाणी के अन्तर्गत सम्भावनीय सृष्टि (वन्ध्यासुत, आकाशकुसुम इत्यादि) भी मानी जाती है।[3]

आगम ग्रन्थों में परा वाक् का विवर्त स्वतन्त्रता के कारण माना गया है।[4] शाक्तमतानुसारी ग्रन्थों में परा के परा, सूक्ष्मा दो भेद कर परमेश्वर की अनुभवगम्य वाग्रूपा पाँच शक्तियाँ (परा, सूक्ष्मा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी) मानी गई हैं। इनकी अधिष्ठात्री पाँच देवियाँ क्रमशः **व्योमवागीश्वरी, खेचरी, दिक्चरी, गोचरी** तथा **भूचरी** हैं। इस क्रम में वाणी का सूक्ष्म से स्थूल रूप विकास स्पष्ट होता है।[5] इस परा वाक् को **संकोचकलंककालुष्यलेशशून्या** तथा **अकारादि सकल वर्णों की भूमि** माना गया है।[6] जैसे दर्पण में वस्तु प्रतिबिम्बित होती है तथैव परमेश्वर की इस चिन्मयी शक्ति रूप परावाणी में यह शब्दार्थात्मक जगत् प्रतिबिम्बित होता है।[7] अन्यत्र शाक्त एवं शैवागमों में परा को शिव की अनन्त शक्ति, संविद् या कल्पनाकल्पवल्ली, बुद्धि तथा विभूति (शब्दार्थ) की विश्रामस्थली इत्यादि नामों से वर्णित कर सौदामिनी की तरह इसका स्फुरण माना गया है।

> **संविन्मूलालवाला त्रिवलयकलिता बीजशक्त्यात्मगर्भा,**
> **या सा सौदामिनीव स्फुरति परशिवज्योतिरङ्कूररूपा।**
> **सैषा शाखोपशाखोदितकुसुमफलव्याप्तविश्वावकाशा,**
> **धीश्रीविश्रान्तिभूमिः शरणमुपयतां कल्पनाकल्पवल्ली॥**[8]

---

१. परात्रिंशिका विवरण, पृ० ४, ५
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भास्करी टीका, भाग १, पृ २५०
३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भास्करी टीका, भाग १, पृ० २६७
४. महार्थ मंजरी, पृ० १५६
५. ,, पृ० ८६ ९०
६. परात्रिंशिका विवरण, पृ० १०२
७. महार्थमंजरी, पृ० १०५
८ रहस्यपञ्चदशिका श्लोक ३३

मीमांसा दर्शन में वाचकत्व-विचार-पूर्वक स्फोट का निरसन

मीमांसक महर्षि उपवर्ष के कथन को प्रमाण मानकर वर्णों को ही वाचक मानते हैं। ये श्रोत्रग्राह्य को शब्द मानते हैं— **श्रोत्रग्रहणाः शब्दाः।**[1] भट्टकुमारिल के श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में स्फोटवाद एक अध्याय ही है, जिसमें स्फोट का खण्डन निम्नलिखित संक्षिप्त विचारों के आधार पर किया गया है—वर्णातिरिक्त स्फोट अप्रसिद्ध है, अतः उसे अर्थ का वाचक मानना उचित नहीं है, पद, वाक्यगत ध्वनियाँ या वर्ण दीप-प्रभा की तरह स्फोट के व्यंजक नहीं होते। स्फोट पक्ष में अखण्ड वाक्य, अखण्ड वाक्यार्थ का वाचक माना जाता है। पद, वर्ण रूप अवयव असत्य कहे जाते हैं, अतः पद, पदावयवों के माध्यम से जो ऊह आदि किये जाते हैं, (जैसे **अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि** मन्त्र में अग्नि के स्थान पर सूर्य का प्रयोग करने पर 'सूर्याय' होगा, यहाँ केवल प्रकृति सूर्य का ऊह किया गया है, चतुर्थी विभक्ति का नहीं। ऊह का अर्थ विनियुक्त मन्त्र के देवताओं का परिवर्तन होता है।) वे न होंगे। तथा एक महावाक्य के अन्तर्गत अवान्तर वाक्य के रूप में दर्श-पौर्णमास याग के अंगभूत प्रयाज इत्यादि यज्ञों के प्रतिपादक वाक्य भी असत्य हो जायेंगे, अतः उनकी सत्यता को सिद्ध करने के लिए वर्णातिरिक्त स्फोट का खण्डन निष्फल नहीं है।

> **'वर्णातिरिक्तः प्रतिषिध्यमानः पदेषु मन्दम् फलमादधाति,**
> **कार्याणि वाक्यावयवाश्रितानि सत्यानि कर्तुं कृत एष यत्नः।'**[2]

सांख्य दर्शन में स्फोट का खण्डन

सांख्यसूत्रकार ने पाँचवें अध्याय में शब्द, अर्थ का वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध मानकर शब्द के स्फोट रूप तत्त्व का खण्डन किया है— **'प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः।'**[3] जिस आनुपूर्वी विशिष्ट वर्ण-समुदाय से स्फोट की अभिव्यक्ति मानी जाती है, उसी को वाचक मान लिया जाय, स्फोट को मानना व्यर्थ है। स्फोट की प्रतीति न होने पर अज्ञात स्फोट अर्थ-बोधक नहीं हो सकता। अतः प्रतीति, अप्रतीति दोनों पक्षों में स्फोट रूप शब्द नहीं है, वरन् वह ध्वनि रूप है, क्योंकि गकार उत्पन्न हुआ,

---

१. शाबरभाष्य, पृ० १३ पंक्ति ८
२. श्लोकवार्तिक स्फोटवाद श्लोक १३७
३. सांख्यसूत्र ५ ५७

गकार नष्ट हुआ ऐसी प्रतीति होती है, अतः शब्द नित्य नहीं कहा जा सकता ।[1] सत्कार्यवाद के रूप में अभिव्यक्ति का सिद्धान्त मानते हो, तब तो सांख्य में सभी पदार्थ इस रूप में नित्य माने गये हैं, यह कोई अपूर्व नित्यत्व-सिद्धि नहीं हुई, वरन् हमारे सिद्धान्त का ही समर्थन हुआ ।[2]

अद्वैतवेदान्त में स्फोट की अमान्यता

वेदान्तसूत्रभाष्य के देवताधिकरण में '**शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्**'[3] के भाष्य में आचार्य शंकर ने शब्दनित्यत्व-प्रतिपादक श्रुति-उपनिषद् वाक्यों को उद्धृत करते हुए स्फोट की स्थापना करने के बाद मीमांसा सम्मत वर्ण वाद का समर्थन तथा स्फोटवाद का खण्डन किया है। स्फोट को न मानने के पक्ष में उनके तर्कों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—यह वही गकार है, (सोऽयं गकारः) ऐसी प्रतीति से वर्णों की नित्यता सिद्ध होती है। ये वर्ण ही अर्थ बोधक होते हैं, ऐसा महर्षि उपवर्ष का विचार है। वर्णों में अनेकता, अभिव्यंजक वायु के कण्ठादि स्थानों में संयोग-विभाग की विचित्रता (अनेक रूपता) के कारण होती है। स्वरूपतः वर्ण भेद-रहित हैं। स्फोटवाद में गौरव है, क्योंकि अतिरिक्त स्फोट की कल्पना करनी पड़ती है। चित्त में जो एकत्व का आभास होता है, वह वर्णविषयक है। स्फोट मानने पर तद्विषयक बुद्धि में ग्, औ तथा विसर्ग की अनुवृत्ति कैसे होती ? जैसे क्रमानुसार चींटियों में पंक्ति बुद्धि होती है, तथैव क्रमानुसार वर्णों में पदबुद्धि होगी। स्फोटवादी को दृष्ट वर्णों को अर्थ वाचक न मानकर अदृष्ट (स्फोट) की कल्पना करनी पड़ती है, यह गौरव होता है।

पातंजल योगदर्शन में वाचकरूप शब्द की स्वीकृति

पातंजलयोगदर्शनानुयायी शब्द, अर्थ तथा दोनों के सम्बन्ध का आगम प्रसिद्ध नित्यत्व स्वीकार करते हैं तथा उनका यह सिद्धान्त है कि सभी शब्दों का सभी प्रकार के अर्थों के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है, ईश्वर का संकेत उस सम्बन्ध का प्रकाशक तथा नियामक होता है। वाणी

---

१. सांख्यसूत्र भाष्य ५।५८

२. ,, ,, ५।५६-६०

३ वेदान्त सूत्र २८ तथा शांकरभाष्य

का अर्थ कण्ठ आदि आठ स्थानों में वायु के संयोग विभाग के द्वारा वर्णों की अभिव्यक्ति है तथा वागिन्द्रिय के अभिघात से युक्त ध्वनि के वर्ण रूप में परिणाम का ग्राहक ही श्रोत्र है। ये दोनों वाचक नहीं हैं। वर्णों को एकत्व रूप में लाने वाली बुद्धि से ग्राह्य पद ही वाचक है। अखंड पद में वर्ण-विभाग तथा अखण्ड वाक्य में पद-विभाग कल्पित है। जहाँ पद मात्र बोधक हैं, वहाँ भी क्रिया या कारक का अध्याहार कर उन्हें वाक्य रूप ही माना जाता है। वाक्य के अर्थ में पद का प्रयोग जहाँ होता है, वहाँ भी वाक्य ही वाचक है, पद नहीं[1]। महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे वाक्यार्थ में पद का प्रयोग किया है, **'श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते,[2] जीवति प्राणान्धारयति'**।[3] इस विषय पर वाचस्पति ने लिखा है—

शब्द का प्रयोग दूसरे को अर्थ बोध कराने के लिए होता है, जैसा बोध वक्ता को शब्दों द्वारा होता है, वही वह दूसरों को कराने की इच्छा करता है। वह अर्थ पदार्थ मात्र नहीं है, अपितु वाक्यार्थ है। अतः सभी शब्द वाक्यार्थपरक हैं। वाक्य ही शब्द है, वाक्य ही अर्थ। वाक्य ही वाचक होता है, पद नहीं। वाक्य के कल्पित अवयव होने से पदों में तथा पदो के कल्पित अवयव होने से वर्णों में भी वाचकता मानी जाती है।[4] इस प्रकार योगदर्शन में श्रोत्रगृहीत शब्द से भिन्न वाचक शब्द की सत्ता स्वीकार गई है, यही वाचक शब्द वैयाकरण सम्मत स्फोट है।

न्यायदर्शन में स्फोट का निराकरण

नैयायिक शब्द को उच्चरित वर्ण-समुदायपरक मानते हैं, स्फोट परक नहीं। उनका तर्क है कि व्यवहार में जैसे वर्ण के लिए शब्द का प्रयोग होता है, तथैव स्फोट के लिए नहीं[5]। अतः शब्द की 'अर्थबोधक शब्द है', यह परिभाषा ठीक नहीं है। वाक्य में पद तथा पद में वर्ण यह प्रतीति होती है। अतः उन्हें सावयव कहना ही युक्तिसंगत है। पदो के असत्य होने पर उनकी व्युत्पत्ति, सिद्धि के लिए वैयाकरण इतना यत्न क्यों करते हैं। वाणी के तीन भेद नहीं है, केवल वैखरी ही वाणी है,

१. पातंजल योगदर्शन, पृ० १२०-१२७।
२. अष्टाध्यायी ५।२।८४।
३. धातु पाठ १।३७५ क्षीरतरंगिणी।
४. तत्ववैशारदी टीका, पृ० १२५।
५ पृ० १५०

मध्यमा बुद्धि रूप अन्तः संकल्प है, क्योंकि बुद्धि ही वाच्य, वाचक का निर्धारण करती है तथा पश्यन्ती निर्विकल्पक बुद्धि का पर्याय है, वह वाणी कैसे हो सकती है।[1] अतः बुद्धि द्वारा विषयीभूत किये गये वर्ण ही पद, वाक्य का रूप धारण करते हैं, वे ही वाचक हैं। वर्णातिरिक्त स्फोट नामक कोई तत्त्व कर्णगोचर नहीं होता, तब वह बेचारा अर्थ-बोध में कैसे समर्थ हो सकता है। न्यायदर्शन का स्फोट विषयक निष्कृष्ट मत न्यायमंजरी मे जयन्तभट्ट ने निम्नलिखित श्लोकों में व्यक्त किया है—

इति विततया वर्णा एते धिया विषयीकृताम्,
दधति पदतां वाक्यत्वं वा त एव च वाचकाः।
न च तदपरः स्फोटः श्रोत्रे विभात्यवबोधने,
न च विधिहतो वाच्ये बुद्धि त्रिधातुमसौ क्षमः॥[2]

व्याकरण दर्शन में स्फोट विचार

वैयाकरणों में सर्वप्रथम स्फोटायन महर्षि ने स्फोट पर विचार किया है। उनका यह नाम सम्भवतः स्फोट-प्रतिपादक होने से ही प्रसिद्ध हुआ है। हरदत्त का कथन है—**स्फोटः अयनम् —परायणं यस्य सः, स्फोट-प्रतिपादको वैयाकरणः**।[3] नागेशभट्ट ने स्वरचित स्फोटवाद ग्रन्थ के अन्त मे स्फोट को स्फोटायन ऋषि का मत बताया है—

इत्थं भट्टनागेशः स्फोटायन ऋषेर्मतम्,
परिष्कृत्योक्तवांस्तेन प्रीयताम् परमेश्वरः।[4]

महर्षि पाणिनि ने इन ऋषि का उल्लेख **'अवङ्०-स्फोटायनस्य'** (अष्टा० ६।१।१२३) में किया है। इससे इनकी प्राचीनता तथा शाब्दिकता सिद्ध होती है। वैयाकरणों में अन्य किसी ने स्फोटायन नाम की व्याख्या या स्फोट मत के प्रतिपादक के रूप में इनका नाम नहीं लिया। स्वयम् पदमंजरीकार हरदत्त ने आगे लिखा है—**'ये स्वौकारम् पठन्ति ते नडादिषु**

---

१. न्यायमंजरी, पृ० ३५५
२. ,, ,, ३६३
३. काशिका ६।१।१२३ की वृत्ति पदमंजरी
४ स्फोट वाद पृष्ठ १०२

अश्वादिषु वा पाठं मन्यन्ते ।' (जो स्फोटायन पाठ मानते हैं, वे स्फोट से अपत्यार्थक फक् या फञ् प्रत्यय करने के लिए इसका पाठ नडादिगण या अश्वादिगण में मानते हैं।) यद्यपि महर्षि पाणिनिकृत गणपाठ में स्फोट का पाठ नहीं है। महाभाष्य में शाकल्य एवं चाक्रवर्मण आचार्यों का क्रमशः **इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य** (६।१।१२७), **ई चाक्रवर्मणस्य** (६।१।१३०) सूत्रों के भाष्य में यथा उल्लेख है तथा स्फोटायन का नहीं। स्फोट सिद्धान्त समर्थक भर्तृहरि तथा कैयट ने भी स्फोटायन की यह व्याख्या नहीं प्रस्तुत की। **स्फोट-सिद्धि** के रचयिता **मण्डन मिश्र** तथा **भरत मिश्र** ने स्फोटायन का नाम भी नहीं लिया, प्रत्युत भरत मिश्र ने स्फोट का उपदेशक **औदुम्बरायण** नामक महर्षि को बताया है स्फोटायन को नहीं।

भट्टोजिदीक्षित प्रभृति वैयाकरणों ने भी स्फोटायन की स्फोटप्रतिपादक वैयाकरण के रूप में चर्चा नहीं की। क्या हरदत्त एवं नागेश की यह अपनी कल्पना है, जो स्फोट शब्द-साम्य से व्युत्पन्न हुई है। रामायण की तरह स्फोटायन शब्द नहीं है तथा दूसरा शब्द इस प्रकार का नहीं मिलता। या तो **रामायण**, **उत्तरायण**, **दक्षिणायन** शब्द मिलते हैं, जिनमें उत्तरपद **'अयन'** है अथवा अपत्यार्थक **गार्ग्यायण**, **बौधायन** इत्यादि, जिनमें 'फ' प्रत्यय का **'आयन'** आदेश होता है, परायणार्थक अयन शब्द का प्रयोग अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। स्फोट से अपत्यार्थक प्रत्यय मानकर पूर्व अच् की वृद्धि होने से **स्फोटायन** रूप बनेगा। स्फोट शब्द तत्प्रतिपादक ऋषिवाचक भी नहीं मिलता, स्फोट के केवल ध्वन्यर्थक, शब्दार्थक प्रयोग उपलब्ध होते हैं। अतः यह स्फोट पद यौगिक होते हुए भी महर्षि विशेष का नाम कथंचित् रहा हो, ऐसा प्रतीत होता है। स्फोट या स्फोटन ध्वनि के एक भेद के रूप में प्रातिशाख्य में माना गया है, जो पूर्ववर्ती व्यंजन के उच्चारण को व्यक्त करती है, इसका काल ह्रस्व का १/८ माना गया है। इसके लिए व्यंजक का भी प्रयोग किया गया है।[1] अन्यत्र संयोग के पृथक्-पृथक् उच्चारण को स्फोटन कहा गया है—

'स्फोटनं नाम पिण्डीभूतस्य संयोगस्य पृथगुच्चारणम् ।'[2]

स्फोट प्रतिपादक दूसरे वैयाकरण औदुम्बरायण हैं उनके कथन का यास्क

ने निरुक्त में इस प्रकार उल्लेख किया है—**इन्द्रियनित्यंवचनम् औदुम्बरायणः।**[1] यहाँ 'इन्द्रिय' शब्द का अर्थ बुद्धि है (**इन्द्रियति=प्रकाशयति आत्मानम् लिंगत्वेन इति इन्द्रलिंगार्थे घञ्**)। **उच्यते=व्यक्तम् अभिव्यज्यते तत्सद् वचनम् शब्दः।** शब्द वक्ता तथा श्रोता दोनों को बुद्धि में नित्य रूप से समवस्थित रहता है। यह 'वचन' वाक्यपरक है, जैसा कि भर्तृहरि ने स्पष्ट किया है—बुद्धि में वाक्य की नित्य स्थिति तथा उसका अर्थ से सम्बन्ध देखकर वार्ताक्ष तथा औदुम्बरायण आचार्यों का कथन है कि वाक्य में पद, पदार्थ की कल्पना की जाती है, वस्तुतः नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात रूप पदचतुष्टय उसमें नहीं है।[2] अर्थात् वाक्य के पदों का अलग-अलग अर्थ नही होता, बल्कि उनका समुच्चयात्मक बोध होता है। भाषा का आश्रय बुद्धि है, उसमें वाक्यरूप बोधक शब्द नित्यरूप से रहता है।

पदवाद तथा वाक्यवाद पर विचार

वैयाकरणों के दो सम्प्रदाय पाणिनि के पूर्वकाल से चले आ रहे है—(१) वाक्यवादी वैयाकरण जिनके समर्थक **औदुम्बरायण, वार्ताक्ष** तथा **वार्ष्यायणि** हैं।

(२) पदवादी वैयाकरण जिसके प्रवर्तक कोई प्राचीन वैयाकरण थे। उनके मत का उल्लेख यास्क के निरुक्त में है। सम्भव है कि ये दोनों सम्प्रदाय इनके भी पहले रहे हों, परन्तु उनका कोई उल्लेक नहीं मिलता।

पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि ये मुख्यतया पदवादी थे या वाक्यवादी, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। महर्षि पाणिनि के **'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा'** (१।१।६८) सूत्र में **'शब्देन संज्ञाकरणं लोके'**[3] इस यास्क वचन की छाया प्रतीत होती है। निरूक्तकार यास्क पदवादी वैयाकरण सम्प्रदाय के समर्थक थे। कात्यायन ने इसी सूत्र पर दो वार्तिक लिखे हैं। अतः उनके वार्तिकों में प्रयुक्त '**शब्द**' भी पाणिनि का अनुसारी होना चाहिए, परन्तु इसके भाष्य में महर्षि पतंजलि ने लिखा है कि शब्द के उच्चारण से अर्थ-प्रतीति होती है, जैसे 'गाय लाओ' तथा 'दही खाओ' (**गामानय, दध्यशान**) पदार्थ (अर्थ) ही लाया जाता है तथा पदार्थ ही खाया

---

१. **निरूक्त** १।१।२ (प्र० अ० प्र० पा० द्वि० सं०)

२ **वाक्य०** २ ३४७

३ **निरूक्त** १ १ २

अश्वादिषु वा पाठं मन्यन्ते ।' (जो स्फोटायन पाठ मानते हैं, ये स्फोट से अपत्यार्थक फक् या फञ् प्रत्यय करने के लिए इसका पाठ नडादिगण या अश्वादिगण में मानते हैं।) यद्यपि महर्षि पाणिनिकृत गणपाठ में स्फोट का पाठ नहीं है। महाभाष्य में शाकल्य एवं चाक्रवर्मण आचार्यों का क्रमशः **इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य** (६।१।१२७), **ई चाक्रवर्मणस्य** (६।१।१३०) सूत्रों के भाष्य में यथा उल्लेख है तथा स्फोटायन का नहीं। स्फोट सिद्धान्त समर्थक भर्तृहरि तथा कैयट ने भी स्फोटायन की यह व्याख्या नहीं प्रस्तुत की। **स्फोट-सिद्धि** के रचयिता **मण्डन मिश्र** तथा **भरत मिश्र** ने स्फोटायन का नाम भी नहीं लिया, प्रत्युत भरत मिश्र ने स्फोट का उपदेशक **औदुम्बरायण** नामक महर्षि को बताया है स्फोटायन को नहीं।

भट्टोजिदीक्षित प्रभृति वैयाकरणों ने भी स्फोटायन की स्फोटप्रतिपादक वैयाकरण के रूप में चर्चा नहीं की। क्या हरदत्त एवं नागेश की यह अपनी कल्पना है, जो स्फोट शब्द-साम्य से व्युत्पन्न हुई है। रामायण की तरह स्फोटायन शब्द नहीं है तथा दूसरा शब्द इस प्रकार का नहीं मिलता। या तो **रामायण**, **उत्तरायण**, **दक्षिणायन** शब्द मिलते हैं, जिनमें उत्तरपद **'अयन'** है अथवा अपत्यार्थक **गार्ग्यायण, बौधायन** इत्यादि, जिनमें **'फ'** प्रत्यय का **'आयन'** आदेश होता है, परायणार्थक अयन शब्द का प्रयोग अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। स्फोट से अपत्यार्थक प्रत्यय मानकर पूर्व अच् की वृद्धि होने से **स्फोटायन** रूप बनेगा। स्फोट शब्द तत्प्रतिपादक ऋषिवाचक भी नहीं मिलता, स्फोट के केवल ध्वन्यर्थक, शब्दार्थक प्रयोग उपलब्ध होते हैं। अतः यह स्फोट पद यौगिक होते हुए भी महर्षि विशेष का नाम कथंचित् रहा हो, ऐसा प्रतीत होता है। स्फोट या स्फोटन ध्वनि के एक भेद के रूप में प्रातिशाख्य में माना गया है, जो पूर्ववर्ती व्यंजन के उच्चारण को व्यक्त करती है, इसका काल ह्रस्व का १/८ माना गया है। इसके लिए **व्यंजक** का भी प्रयोग किया गया है।[1] अन्यत्र संयोग के पृथक्-पृथक् उच्चारण को स्फोटन कहा गया है—

'स्फोटनं नाम पिण्डीभूतस्य संयोगस्य पृथगुच्चारणम् ।'[2]

स्फोट प्रतिपादक दूसरे औदुम्बरायण हैं उनके कथन का यास्क

ने निरुक्त में इस प्रकार उल्लेख किया है—**इन्द्रियनित्यंवचनम् औदुम्बरायणः**।[1] यहाँ 'इन्द्रिय' शब्द का अर्थ बुद्धि है (**इन्द्रियति = प्रकाशयति आत्मानम् लिंगत्वेन इति इन्द्रलिंगार्थे घच्**)। **उच्यते = व्यक्तम् अभिव्यज्यते तत्तद् वचनम् शब्दः**। शब्द वक्ता तथा श्रोता दोनों की बुद्धि में नित्य रूप से समवस्थित रहता है। यह 'वचन' वाक्यपरक है, जैसा कि भर्तृहरि ने स्पष्ट किया है—बुद्धि में वाक्य की नित्य स्थिति तथा उसका अर्थ से सम्बन्ध देखकर वार्ताक्ष तथा औदुम्बरायण आचार्यों का कथन है कि वाक्य में पद, पदार्थ की कल्पना की जाती है, वस्तुतः नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात रूप पदचतुष्टय उसमें नहीं है।[2] अर्थात् वाक्य के पदों का अलग-अलग अर्थ नहीं होता, बल्कि उनका समुच्चयात्मक बोध होता है। भाषा का आश्रय बुद्धि है, उसमें वाक्यरूप बोधक शब्द नित्यरूप से रहता है।

पदवाद तथा वाक्यवाद पर विचार

वैयाकरणों के दो सम्प्रदाय पाणिनि के पूर्वकाल से चले आ रहे हैं—(१) वाक्यवादी वैयाकरण जिनके समर्थक **औदुम्बरायण, वार्ताक्ष** तथा **वार्ष्यायणि** हैं।

(२) पदवादी वैयाकरण जिसके प्रवर्तक कोई प्राचीन वैयाकरण थे। उनके मत का उल्लेख यास्क के निरूक्त में है। सम्भव है कि ये दोनो सम्प्रदाय इनके भी पहले रहे हों, परन्तु उनका कोई उल्लेक नहीं मिलता।

पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि ये मुख्यतया पदवादी थे या वाक्यवादी, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। महर्षि पाणिनि के '**स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा**' (१।१।६८) सूत्र में '**शब्देन संज्ञाकरणं लोके**'[3] इस यास्क वचन की छाया प्रतीत होती है। निरूक्तकार यास्क पदवादी वैयाकरण सम्प्रदाय के समर्थक थे। कात्यायन ने इसी सूत्र पर दो वार्तिक लिखे हैं। अतः उनके वार्तिकों में प्रयुक्त 'शब्द' भी पाणिनि का अनुसारी होना चाहिए, परन्तु इसके भाष्य में महर्षि पतंजलि ने लिखा है कि शब्द के उच्चारण से अर्थ-प्रतीति होती है, जैसे 'गाय लाओ' तथा 'दही खाओ' (**गामानय, दध्यशान**) पदार्थ (अर्थ) ही लाया जाता है तथा पदार्थ ही खाया

१. निरूक्त ३।१।२ (प्र० अ० प्र० पा० द्वि० सं०)

२. वाक्य० २।३४७

१ निरूक्त १ १ २

जाता है, शब्द नहीं। पर व्याकरण में अर्थ का कोई कार्य नहीं होता। अतः सूत्र में उल्लिखित शब्द के पदार्थ का ग्रहण न हो, इसलिए स्वरूप की संज्ञा का विधान आवश्यक है।[१] इस भाष्य के 'गाय लाओ, दही खाओ' इन उदाहरणों में शब्द का अर्थ वाक्य लिया गया है। सूत्र में प्रायः पदों का ही उल्लेख होता है, वाक्य का नहीं। अतः शब्द से पद का ग्रहण भी भाष्यकार को अभीष्ट लगता है। इस भाष्य से यह भी ध्वनित होता है कि सूत्रकार, वार्तिककार द्वारा प्रयुक्त शब्द का अर्थ वाक्य एवं पद दोनों है। प्रत्युत भाष्यकार के 'कृत्तद्धितसमासाश्च' में समास ग्रहण को नियमार्थक मानकर वाक्यवाद को सुदृढ़ कर दिया है।[२]

उपलब्ध विचारों के आधार पर वाक्य स्फोट की मान्यता वार्ष्यायणि से प्रारम्भ होती है, उन्होंने प्रत्येक वस्तु (सत्ता) के ६ भाव माने हैं, **जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते तथा नश्यति**[३] (उत्पत्ति, स्थिति, विकृति, वृद्धि, ह्रास तथा विनाश) संज्ञा, क्रिया, उपसर्ग तथा निपात इन सब में ये ही भाव पाये जाते हैं। भर्तृहरि ने इन भावों का कारण शब्द तत्व ब्रह्म की कालशक्ति को कहा है, जिसकी आज्ञा में सारा विश्व चलता है। यह कालशक्ति ही उत्पत्ति आदि अनेक रूपों के भेद से क्रम युक्त प्रतीत होती है। कारण-शक्तियाँ काल शक्ति के अधीन होकर ही कार्य करती हैं, अतः समस्त कार्य क्रमानुसार होते हैं।[४] इस प्रकार अखण्ड वाक्य स्फोट का यह रूप प्रत्यक्ष होता है। पारमार्थिक सत्ता (भाव) नित्य, विनाश तथा विकार से रहित है। सम्पूर्ण क्रिया-कलाप उसी सत्ता का विवर्त है। भाव विकार से उसकी ६ अवस्थायें केवल अवभासित होती हैं। सत्ता स्थूल रूप में अपना माहात्म्य प्रकाशन के लिए प्रादुर्भूत होती है। उसी को '**जायते**' कहते हैं। बाद में स्थिति को '**अस्ति**'। स्थूल रूप में स्थित का विकार अवश्यम्भावी है। विकार को प्राप्त वस्तु की **वृद्धि**, वृद्धि की सीमा के बाद **अपाय** तदनन्तर विनाश ये क्रमशः **विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति** नाम से कहे गये हैं।

---

१. म० भा० १।१।६८

२. म० भा० १।२।४६

३. निरुक्त १।१।३८

४. वाक्य० १ ३

महर्षि पाणिनि को भी वार्ष्यायणि की यह उक्ति मान्य थी। अतएव उन्होंने धातु पाठ में **भू सत्तायाम्, जनी प्रादुर्भावे, णश् (नश्) अदर्शने** धातुओं का उल्लेख किया है, इनसे पदार्थ की सत्ता, उत्पत्ति तथा विनाश प्रतीत होते हैं। इसे भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में अधिक स्पष्ट किया है।[1] सत्ता का यह भेद व्यावहारिक है, इसी प्रकार शब्द भी अखण्ड तथा एक है। वाक्य, पद, वर्ण विभाग काल्पनिक हैं। सत्ता के ही संज्ञा (द्रव्य) तथा क्रिया दो रूप हैं। व्यवहार में दोनों से अर्थ की पूर्णता होती है, अतः वाक्य रूप ही शब्द मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। स्फोट सिद्धि-कार भरत मिश्र ने महर्षि औदुम्बरायण द्वारा अखण्ड स्फोट के उपदेश का उल्लेख कर यह कहा है कि स्फोट विरोधी जनों ने महर्षि उपवर्ष के वर्ण स्वरूप शब्द की व्याख्या को सामने रखकर औदुम्बरायण आदि ऋषियों का अपलाप किया है। इन तथाकथित विद्वानों का विचार है कि व्यंजक ध्वनि में अनिवार्य भेद-क्रम, संयोग-विभाग का आरोप ही उचित है, इसीलिए सभी गकार एक कहे जाते हैं तथा वर्ण ही अर्थ बोध के कारण हैं।[2]

यास्क ने औदुम्बरायण के उक्त वाक्य का इससे भिन्न अर्थ किया है। उनके अनुसार इसका यह अर्थ है—वचन (शब्द) तभी तक नित्य है, जब तक वक्ता की वाणी में उसकी स्थिति है, उससे च्युत होने पर वह नही रहेगा, क्योंकि वाक्य तो पद के रूप में रहेगा तब उसके अवयवभूत नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात पदों का ज्ञान कैसे होगा? एक पद के उच्चारणकाल में पूर्व पद विनष्ट हो जायगा। नष्ट, विद्यमान का सह संबन्ध कैसे होगा? इसी प्रकार एक साथ उत्पन्न न होने वाले पदों में प्राधान्य, अप्राधान्य भाव नही हो सकता जब कि नाम आख्यात का गुण (विशेषण) माना जाता है। तथा शास्त्र में उपसर्ग का धातु से, धातु का प्रत्यय से, प्रत्यय का लोप आगम आदि वर्ण विकारों से जो योग कहा गया है, वह भी उत्पन्न न होगा। वर्णों को युगपत् उत्पन्न माना नहीं जा सकता, क्योंकि उनकी उत्पत्ति में किसी आश्रय की अपेक्षा अवश्य है। वक्ता उनका युगपत् उच्चारण नहीं कर सकता। उन्हें अविचाली, कूटस्थ तथा अविनाशी मानने पर भी अभिव्यक्ति तो क्रम से ही होगी तथा उनमें शास्त्र-प्रक्रिया का निर्वाह कैसे होगा।[3]

१. वा० भ० ३। जाति समुद्देश सत्ताप्रकरण ३३-४०

२ भरत मिश्र कृत स्फोट सिद्धि पृ० १

३ निरुक्त १।१ २ दुर्गाचार्य की टीका

न्याय भाष्यकार वात्स्यायन ने व्याकरण को पद रूप वाणी का अन्वाख्यान कहा है।[1] स्फोट-सिद्धिकार मण्डन मिश्र ने व्याकरण को पददर्शन तथा वैयाकरणों को पददर्शी कहकर उनके विरोधी मीमांसकों के वर्ण-वाचकत्व का खण्डन किया है।[2]

वैयाकरण आचार्यों में मतभेद नहीं

वस्तुतः वैयाकरण-सम्प्रदाय में पदवाद तथा वाक्यवाद, ये क्रमशः प्रक्रिया दशा तथा अर्थबोध दशा में माने गये हैं। वैयाकरणों की पद्धति उभयरूपिणी है, पद-व्युत्पत्ति तथा शाब्द बोध। निरुक्तकार यास्क ही नहीं, प्रत्युत सभी वैयाकरण पद व्युत्पत्ति काल में पदवादी हैं, परन्तु पदों की पारमार्थिक सत्ता नहीं है, वाणी की व्याकृति अर्थात् पद-पदार्थ व्युत्पादन एवं उसके द्वारा असाधु शब्दों से साधु शब्दों का पृथक्करण ही व्याकरण है। अर्थ का बोधक पद नहीं, अपितु वाक्य है। वाक्य अनन्त हैं, अतः व्युत्पत्ति द्वारा पदों का ज्ञानकर उनके माध्यम से भाषाविद् को अर्थ ज्ञान सुकर होता है। वाक्य का ज्ञान करने में समय, शक्ति अधिक लगेगी, अतः व्याकरण को पदज्ञान का उपाय कहा गया एवं वैयाकरण पददर्शी कहलाये।

यह भी अत्युक्ति न होगी कि इन आचार्यों ने पद-दर्शन पर अपनी अधिक आस्था रखी, पारमार्थिक शब्द-विचार तो प्रसंगतः कर दिया। सम्भवतः इसीलिए स्फोट-सिद्धिकार मण्डन मिश्र तथा न्याय भाष्यकार ने वैयाकरणों को पददर्शी कहा है, परन्तु भर्तृहरि ने पद तथा वाक्य में वाक्य की श्रेष्ठता मानी है। अतएव उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'वाक्यपदीय' रखा है। इसमें वाक्य तथा पद का द्वन्द्व समास होने पर '**अभ्यर्हितं च**' वार्तिकानुसार[3] श्रेष्ठ होने का कारण वाक्य का पूर्व प्रयोग हुआ है, अन्यथा पद में लघु अक्षर होने के कारण '**लघ्वक्षरं पूर्वम्**'[4] वार्तिकानुसार पद का ही पूर्व प्रयोग होना चाहिये। जैसा कि भवभूति ने '**पदवाक्यप्रमाणज्ञः**'[5] में किया है। सम्भवतः उन्होंने पद, वाक्य दोनों को समान स्तर का मानकर लघु

---

१. वात्स्यायनभाष्य २।१।५५
२. स्फोट सिद्धि (मण्डन) श्लोक २
३. अष्टाध्यायी २।२।३४ के ऊपर वार्तिक
४ ,, ,, ,,
५. उत्तर रामचरित

अक्षर होने से पद का पूर्व प्रयोग किया है। पद-वाक्य विभाग के कारण ही स्फोट में काल्पनिक भेद करना पड़ा है। (यह आगे दशम परिच्छेद में स्पष्ट होगा।

यास्क को कोरा पदवादी कहना उनके कथन का अज्ञान ही कहा जायगा। प्रत्युत उन्होंने औदुम्बरायण के मत को उपस्थित कर उसमें नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात की अनुपपत्ति, पदों के प्राधान्य, गौणभाव की अप्राप्ति तथा शास्त्र-प्रक्रिया की अप्रवृत्ति रूप तीन दोष दिखाकर शब्द की व्यापकता की मान्यता द्वारा उनका भी परिहार किया है। वह इस प्रकार है—शब्द सर्वत्र व्याप्त है। शरीर में हृदय के अन्तर्वर्ती आकाश में प्रतिष्ठित बुद्धि के अभिधान तथा अभिधेय दो रूप हैं। अभिधान रूप बुद्धि के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ पुरुष के प्रयत्नपूर्वक उच्चारित वर्ण रूप को प्राप्त शब्द श्रोत्र के द्वार से श्रोता के हृदय में प्रवेश कर उसकी सर्वशब्दमयी, सर्वार्थ रूप बुद्धि में व्याप्त होकर उसे अर्थबोध कराता है बिना व्याप्त हुये शब्द अर्थ-बोध नहीं करा सकता तथा अनित्य पदार्थ की व्याप्ति सम्भव नहीं है। वक्ता पुरुष के प्रयत्न से जनित ध्वनियाँ श्रोता को अर्थ-बोध कराकर तिरोभूत होती हैं। शब्द (स्फोट) तो अभिधा शक्ति से अपने अर्थों को प्रकाशित करता हुआ स्थित ही रहता है।

वही शब्दार्थ रूपा (अभिधानाभिधेयरूपा) बुद्धि ही धातु, प्रातिपदिक इत्यादि रूपों में परिणत होती हुई व्याकरण द्वारा संस्कृत की जाती है। अतः शब्दों में विशेषण, विशेष्यभाव तथा शास्त्र-प्रक्रिया का निर्वाह (लोप, आगम, आदेश इत्यादि के द्वारा वर्ण विकार) सब कुछ सम्भव है।[1]

इस प्रकार औदुम्बरायण के **'इन्द्रियनित्यं वचनम्'** की व्याख्या यास्क द्वारा की गई है, उसका खण्डन नहीं। भाष्यकार ने बौद्ध शब्दार्थों को मान कर शब्द, अर्थ की नित्यता की आधार शिला में व्याकरण शास्त्र के निर्वाह का उल्लेख **'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'** के भाष्य में किया है तथा नागेशभट्ट ने मंजूषा में इसका विशद विवेचन किया है।

स्फोट-सिद्धान्त वैयाकरणों का मुख्य प्रतिपाद्य

स्फोट-सिद्धान्त वैयाकरणों का विज्ञान, कला के आगे एक नवीन आध्यात्मिक दर्शन है। यह उच्चार्यमाण क्षण स्थायी ध्वनि रूप वर्ण से

1. निरुक्त १।१।२ तथा उसकी टीका (पृ० १८-२२)

प्रारम्भ होकर शब्दब्रह्म में पर्यवसित होता है। इस सिद्धान्त की मान्यता तथा स्फोट विरोधी मीमांसक, नैयायिकों के तर्कों का खण्डन करने के अनन्तर व्याकरण दर्शन की स्थापना हुई है। शब्द की व्युत्पत्ति कर वाणी का अर्थ-ज्ञानार्थ प्रयोग करने वाले, अपनी अनुसंधित्सा से शब्द-ब्रह्म विचार पर्यन्त पहुँचने वाले, ये तपस्वी श्लाघ्य हैं।

मीमांसक वर्णवाद तक, नैयायिक पदवाद पर्यन्त तथा दोनों ही वर्ण, पद-समूह रूप वाक्य वाद तक ही पहुँचे। वैयाकरणों ने इसके आगे अखण्ड नित्य आन्तर स्फोट का दर्शन किया, सम्पूर्ण विश्व में शब्द का अनुगम (व्याप्त होना) प्रमाणित किया, क्योंकि समस्त व्यवहार का मूल शब्द है। यदि पदार्थ शब्द स्वरूप न होते तो शब्द से उनकी प्रतीति न होती। अतः नैयायिकों के मतानुसार जिन वाक्यों का ('अग्निना सिंचति इत्यादि) कोई अर्थ नहीं होता, वैयाकरणों ने 'अग्निना' का '**अग्निसदृशेन जलेन**' अर्थ कर उनका भी बोध कराया, क्योंकि उनके मत में शब्द में विचित्र-कार्य-जनन-शक्ति स्वीकार की गई है।

वैयाकरण सम्प्राय में श्रूयमाण ध्वनि रूप शब्दों को निमित्त मानकर उनसे भिन्न परन्तु उन्हीं से व्यंग्य पारमार्थिक आन्तर वाचक रूप शब्द की सत्ता मानी जाती है। यह भी शब्द-विषयक उनका अपूर्व अनुसन्धान है। इसीलिए भाष्यकार ने शब्दज्ञान का प्रयोजन लोक, स्वर्ग दोनों की प्राप्ति कहा है। भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में यहाँ तक कह दिया है कि कौड़ी खोजने (लौकिक शब्दार्थज्ञान के लिए) में प्रवृत्त वैयाकरणों ने चिन्तामणि (शब्द ब्रह्म) को प्राप्त कर लिया। यह वैयाकरणों की सर्वश्रेष्ठ सिद्धि है, अतः भर्तृहरि ने अद्वैत वेदान्त सम्मत उपनिषत्प्रतिपाद्य शब्द-स्वरूप अनादि निधन ब्रह्म तथा उस ब्रह्म के विवर्त स्वरूप जगत् की व्युत्पत्ति की है।[1]

१, शब्दकौस्तुभ १।१।१ स्फोट सिद्धान्त पृ० १२)

सप्तम परिच्छेद

पाणिनीय-व्याकरण-पद्धति में स्फोटवाद का क्रमिक विकास

स्फोट विषयक संक्षिप्त प्रस्तावना
वाद का अर्थ
पाणिनीय-व्याकरण सम्प्रदाय में स्फोटवाद का प्रचलन
भाष्यकार के स्फोट सम्बन्धी विचार
वाक्यपदीय में स्फोट सिद्धान्त का विकसित रूप
स्फोट सिद्धान्त के खण्डन-मण्डन का प्रारम्भ
दार्शनिक विकास के तीन चरण
स्फोट प्रतिपादक मण्डन मिश्र तथा भरत मिश्र
शेषकृष्ण तथा भट्टोजिदीक्षित की स्फोट विषयक विचार-सरणि
कौण्डभट्ट एवं मौनिश्रीकृष्ण भट्ट के विचार
नागेशभट्ट के स्फोट सम्बन्धी नवीन विचार

स्फोट विषयक संक्षिप्त प्रस्तावना

पूर्व परिच्छेदों में वैयाकरण सम्मत स्फोट पर विचार करते हुए, शब्द, अर्थ तथा दोनों के सम्बन्ध की नित्यता, ब्रह्म रूप शब्द का एकत्व, विभुत्व, आद्यन्त-राहित्य, शब्दार्थमयी सृष्टि की प्रक्रिया, वाणी के चतुर्विध रूप तथा परा की नित्यता एवं शैवागमानुसार मध्यमा वाणी के नादांश की शब्दात्मकता पर प्रकाश डाला गया है। शक्त्याश्रय के रूप में स्फोट की स्थापना तथा उसके एकत्व, अक्रमत्व का समर्थन कर व्याकरण-प्रक्रिया निर्वाह का उल्लेख किया गया है। पाणिनीय व्याकरण-पद्धति की तो मूल भित्ति ही स्फोट है।

इस पद्धति में शब्दानुशासन के पदव्युत्पादन तथा पारमार्थिक शब्द (स्फोट) निरूपण दोनों पक्षों पर आचार्यों की विचार-परम्परा उत्तरोत्तर विकसित होती गई। भाषा के स्वाभाविक प्रवाह के कारण उसमें नूतन शब्दों के प्रयोग बढ़ते तथा प्राचीन प्रयोग छूटते जाते हैं। वैयाकरण पुनः इन नूतन शब्दों को मान्यता देने के लिए नियम बनाते हैं। महर्षि पाणिनि के बाद कात्यायन, तदनन्तर पतंजलि के द्वारा सम्मानित नवीन शब्द विद्वत्समाज में मान्य हुये हैं। स्वयं पाणिनि ने व्याकरण की अपेक्षा व्यवहार को अधिक मान्यता दी है।[1]

अष्टाध्यायी में बहुल, निपातन, आकृतिगण तथा आर्ष प्रयोग के आश्रय से नियमों की उपेक्षा कर व्यावहारिक प्रयोग को मान्यता दी गई है। परन्तु वैयाकरण सम्प्रदाय में शब्द के आन्तर-स्वरूप तथा अर्थबोध की पद्धति पर सदा ऐकमत्य रहा है। भाष्यकार ने शब्द-नित्यत्व में भी व्यवहार को प्रमाणभूत माना है।[2] व्याकरण प्रक्रिया तथा अर्थवाद की आधार-शिला यही है। क्रमशः दर्शनिकों के द्वारा वैयाकरण सम्मत स्फोट सिद्धान्त के निराकरण करने पर उन्होंने इस पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया तथा अनेक आचार्यों ने स्फोट पर वैयाकरण सिद्धान्त के प्रतिपादक ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थों को वाद ग्रन्थ कहा जाता है। स्फोट तत्त्व निरूपण, स्फोट चन्द्रिका, स्फोटवाद इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं।

वाद का अर्थ

वाद की परिभाषा वैयाकरण सम्प्रदाय में इस प्रकार की गई है— **'यः शास्त्रप्रसिद्धं यं कंचिदेकमेवार्थमुपादाय तद्विचारपरो ग्रन्थः प्रवर्तते स वादार्थपदाभिधेयः।'**[3] (जो ग्रन्थ शास्त्र में प्रसिद्ध किसी एक विषय के विचारार्थ लिखा जाता है, उसे वाद ग्रंथ कहते हैं।) वाद ग्रन्थ की रचना के प्रयोजन निम्नलिखित हैं :—

(१) आकर ग्रन्थों, महान् ग्रन्थों में इधर उधर बिखरे हुए उस विषय का संकलन।

(२) सूचना मात्र द्वारा ग्रन्थों में प्रतिपादित विषय का व्यक्तीकरण।

---

१. तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् १।२।५३

२. म० भा० पस्पशा०, पृ० ५०

३. स्फोट तत्त्व निरूपण, पृ० १

(३) सूक्ष्म रूप से उल्लिखित विषय का विस्तृत विवेचन।
(४) विरोधी विचारों का निराकरण कर विषय का व्यवस्थापन।

इन वाद ग्रन्थों के द्वारा उन पाठकों को भी लाभ होता है, जो आकर-ग्रन्थों के अध्ययन में परिश्रम नहीं कर सकते तथा जो आकर-ग्रन्थों का परिशीलन करते हैं, उन्हें भी वह विषय एकत्र मिल जाता है। सामान्यतः वाद की यह परिभाषा भी मिलती है—**'गुरु शिष्यों, सहाध्यायियों या वीतराग जनों द्वारा बोध बढ़ाने के लिए, स्पर्द्धा के भाव से रहित, निर्णय फल वाली परिचर्चा (बातचीत)** वाद है।[1]

पाणिनीय व्याकरण सम्प्रदाय में स्फोटवाद का प्रचलन

पाणिनीय व्याकरण सम्प्रदाय में स्फोटवाद का सर्वप्रथम उल्लेख महाभाष्यकार ने किया है। स्फोट सिद्धान्त का प्रचलन व्याकरण में, तथा शब्दार्थमयी सृष्टि के प्रसंग में पहिले से चला आ रहा है, परन्तु वेद, महाभारत, श्रीमद्भागवत में तथा आगम ग्रंथों में स्फोट का उल्लेख प्रायः सूक्ष्म, परश्रोत्रागोचर एवं स्वमनोवेद्य वाक् तत्त्व या शब्दतत्त्व के रूप में हुआ है। आगम ग्रंथों में इसे ध्वनि का एक भेद भी माना गया है।

भाष्यकार के स्फोट सम्बन्धी विचार

महाभाष्य में स्फोट का उल्लेख इस रूप में किया गया है—(१) यदि वर्ण में वर्ण के अवयव का ग्रहण नहीं किया जाता तो जहाँ पर 'र्' के स्थान में 'ल्' का विधान किया गया है, उस नियम में 'ऋ' का ग्रहण न होगा, क्योंकि 'र्' 'ऋ' का अवयव है अतः **कृपो रो लः** (८।२।१८) सूत्र में ऋ' का भी उल्लेख करना चाहिए, जिससे **क्लृप्तः** में भी यह नियम लग सके, इसका समाधान करते हुये भाष्यकार ने कहा है—**अथवा 'उभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते— र-श्रुतेर्ल-श्रुतिर्भवतीति**।'[2] (कृपो रो लः सूत्र के 'र्' तथा 'ल्' दोनों में वर्ण का निर्देश नहीं है, किन्तु स्फोट का निर्देश है (रत्व तथा लत्व) इससे जहाँ रत्व होगा उसके स्थान में लत्व होगा। 'ऋ' में रत्व जाति है, अतः वहाँ भी सूत्र की प्रवृति होगी।)

इस भाष्य की व्याख्या में कैयट ने स्फोट का अर्थ जाति स्फोट किया है तथा उसे व्यक्ति-व्यंग्य मानकर अर्थ किया है—जहाँ 'र्, ल्; ऋ तथा ऌ'

---

१. भारतीय व्याकरण प्रमाण समीक्षा (भूमिका)
२. म० भा० एओङ्० पृ० ८४

के अन्तर्भूत हैं या जहाँ पृथक् हैं दोनों ही 'र्' तथा 'ल्' व्यक्तियों से रत्व, लत्व जाति व्यंग्य होती है, उसी का सूत्र में निर्देश है।[1] परन्तु नागेशभट्ट ने उद्योत में इस व्याख्या का प्रतिवाद किया है, उन्होंने श्रोत्र-ग्राह्य (अर्थ-बोधक शब्द) को ही स्फोट माना है तथा वर्णों (ध्वनियों) से उसकी अभि-व्यक्ति बताई है। अतः जहाँ पर रेफ (र) से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ लकार (ल) से हो। यह भाष्य का तात्पर्य है। क्लृप्तः में रेफ का अव-भास है, अतः वहाँ भी सूत्र की प्रवृत्ति होगी। इसीलिये भाष्यकार ने आगे कहा है—जहाँ 'र्' का श्रवण हो वहाँ 'ल्' का श्रवण हो जाय। स्पष्ट ही इस **'वाक्य-शेष'** से ध्वनि-व्यंग्य स्फोट की प्रतीति होती है। नागेश का व्याख्यान युक्ततर प्रतीत होता है। साथ ही इसका प्राचीन वैयाकरण सम्प्रदाय से वैमत्य भी स्पष्ट हो जाता है।[2]

(२) तपरस्तत्कालस्य (१।१।७०) सूत्र में द्रुत, मध्यम तथा विलम्बित वृत्तियों के कारण स्वरों में भेद न हो इस शंका के समाधान में भाष्यकार ने लिखा है कि—**'स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः।'**[3] (जैसे कोई नगाड़ा बजाने वाला उस पर चोट कर उसकी अनुरणन स्वरूप ध्वनि को सुनता हुआ २० पग जाता हैं, दूसरा ३० पग, तीसरा ४० पग। इसमें स्फोट तो समान रहता है ध्वनि के कारण ही सुनने में कम या अधिक काल लगता है।) भाष्यकार ने यहाँ स्फोट तथा ध्वनियों में भेद स्पष्ट कर दिया है। जैसे नगाड़े की ध्वनि की विभिन्न काल पर्यन्त उपलब्धि होती है। वैसे ही द्रुत उच्चारण में शब्द की उपलब्धि एक सेकेण्ड, मध्यम में दो तथा विलम्बित में तीन या अधिक समय तक होती है। यहाँ के भाष्य की शब्दा-वली एवम् प्रदीप तथा उद्योत के अवगाहन से निम्नलिखित निष्कर्ष सामने आते हैं :—

(१) शब्द स्फोट रूप है। वह ध्वनि से भिन्न एवं ध्वनि-व्यंग्य है। ध्वनि स्फोट की व्यंजक होने के कारण उसकी ग्राह्यता का हेतु है।

(२) स्फोट की व्यंजक प्राकृत ध्वनि होती है। उसके रूप से रूषित (रंजित) ही स्फोट का भान होता है। अल्पत्व तथा महत्त्व वैकृत

१. म० भा० एओङ्० पृ० ८४ (प्रदीप)

२. ,, ,, पृ० ८४-८५ (उद्योत)

३. ,, तपरस्तत्कालस्य पृ० ३७१-३७४

ध्वनि के गुण हैं। भाष्यकार ने दोनों (प्राकृत, वैकृत) ध्वनियों के लिए ध्वनि का प्रयोग किया है।

(३) जैसे पुनः पुनः दिखाई पड़ने वाला घट पूर्व घट से भिन्न नहीं होता, वैसे ही देर तक सुनायी पड़ता हुआ 'अकार' भी एक है। वृत्ति-भेद से वर्ण-भेद नहीं होता। परन्तु स्फोट रूप शब्द की व्याख्या उन स्थलों पर भाष्यकार ने न करके अन्यत्र इस प्रकार की है[1]—**'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकाशदेशः शब्दः'**। कैयट तथा नागेश के व्याख्यानों मे इसके स्फोट-स्वरूपत्व का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है, वह इस प्रकार है—

(क) **श्रोत्रोपलब्धिः**—श्रोत्र में जिसकी सम्प्राप्ति हो। यहाँ श्रोत्र का अर्थ श्रोत्रवर्ती आकाश है। आकाशवर्ती शब्द का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रियवर्ती आकाश से होता है।

(ख) **बुद्धिनिर्ग्राह्यः**—इसका अर्थ कैयट ने इस प्रकार लिखा है—**पूर्वपूर्वध्वन्युत्पादिताभिव्यक्तिजनितसंस्कार - परम्पराप्राप्त - परिपाकान्त्य-बुद्धिनिर्ग्राह्यः इत्यर्थः**।[2]

शब्द (स्फोट रूपवाचक) वर्ण-व्यंग्य होता है, अर्थात् वर्णों के द्वारा (स्फोट रूप) शब्द की अभिव्यक्ति होती है, परन्तु वर्ण उच्चरित होते ही नष्ट हो जाते हैं। तब उनका समुदाय हो नहीं सकेगा। ऐसी स्थिति मे वर्ण समूह से शब्द की अभिव्यक्ति कैसे होगी, इसके लिए कैयट ने यह उत्तर दिया है—पूर्व पूर्व ध्वनियों से जो शब्द रूप की अभिव्यक्तियां होती है, उनसे संस्कारों की एक परम्परा बनती है। उस समूह रूप परम्परा के परिपाक (बुद्धि में स्थिरता) के सहित अन्तिम वर्ण के ज्ञान से गृहीत होने वाला (शब्द है।) इसका यह भाव है कि शब्द को ग्रहण करने वाली बुद्धि है। निर्ग्राह्य का तात्पर्य निःशेषेण ग्राह्य है, वह निःशेष ग्रहण अन्तिम वर्ण से ही होता है, परन्तु उसमें पूर्व वर्णजनित संस्कार सहकारी होते हैं।

(ग) **प्रयोगेणाभिज्वलितः**—इसका अर्थ 'प्रयोग के द्वारा प्रकाशित' है। शब्द के नित्य होने से वह यद्यपि सर्वदा विद्यमान रहता है, परन्तु उसकी उपलब्धि तभी होती है, जब उसका उच्चारण किया जाय।

---

१. म० भा०, पृ० ७०

२. ,, ,, (प्रदीप)

यहाँ प्रयोग का अर्थ ध्वनि है, क्योंकि उच्चारण ध्वनि रूप वर्णों का ही होता है, अभिज्ज्वलितः-अभिव्यङ्ग्यः। भाष्यकार ने ध्वनि को शब्द का गुण कहा है--

स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः,[1] (ध्वनि ही स्फोट का प्रकाशक है।)

(घ) आकाश देशः—आकाशः--तत्रासकं द्रव्यम् देशः—आधारः यस्य सः। (आकाश जिसका आधार है।) आकाश एक है। अतः तदाश्रित शब्द भी एक है, जैसे घट, गृह, मन्दिर आदि उपाधि के भेद से घटाकाश, गृहाकाश इत्यादि भिन्न-भिन्न आकाश की प्रतीति होती है, तथैव शब्द मे भी उच्चारणकर्ता पुरुष, बालक व स्त्री के भेद से, देश के भेद से अनेक भेद प्रतीत होते हैं। 'आकाश देशः' कहकर महाभाष्यकार ने शब्द को गुण माना है।

(ङ) 'शब्दः' में एक वचनत्व उनकी एकता तथा अखण्डता सिद्ध करता है। **गौरित्यत्र कः शब्दः** में भी एक वचन है। यदि यह वर्ण परक होता तो भाष्यकार बहुवचन निर्देश करते। जहाँ पर '**नित्याः शब्दाः नित्येषु नाम शब्देषु** ....'[2] में बहुवचन है, वहां शब्द का अर्थ प्रकृति, प्रत्यय, पद तथा वाक्य है। इन चारों को शब्द मानकर उसमे बहुवचन का प्रयोग संगत होता है।

वाक्यपदीय में स्फोट सिद्धान्त का विकसित रूप

यद्यपि पाणिनि के सम-सामयिक व्याडि ने वैयाकरण सिद्धान्तों का संग्रह कर यथार्थनामा 'संग्रह' ग्रन्थ लिखा था तथापि वह पठन-पाठन परम्परा में शैथिल्य आ जाने से नष्ट हो गया,। उसके सिद्धान्तों का उल्लेख महाभाष्य में यत्र-तत्र किया गया है। महाभाष्य के बीज स्वरूप विचारो का आगमानुसारी व्याख्यान भर्तृहरि कृत वाक्यपदीय में प्राप्त होता है।[3] कैयट आदि ने उसी का अनुसरण किया है।[4] महाभाष्य में जिसे शब्द कहा गया है (**अथ गौरित्यत्र कः शब्दः** .... **येनोच्चारितेन** ......

१. महाभाष्य १।१।६७

२. महाभाष्य, पृ० १२

३ 　,　　१।१।२०

४ वाक्य० काण्ड २ श्लोक ४८४ ४६०

स शब्दः ।[१] उसको भर्तृहरि ने सूक्ष्म, आदि अन्त रहित, अक्रम शब्दतत्त्व मानकर विश्वप्रपंच के व्यवहार को उसी का विवर्त (अवास्तविक अन्यथा रूप) कहा है। भर्तृहरि ने उस शब्द को ब्रह्माभिन्न मानकर ब्रह्म की शक्ति (माया) की तरह शब्द की भी विभिन्न घट पट आदि पदार्थों का निर्माण करने वाली शक्ति मानी है। आगे उनका कथन है कि शब्द ही ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान रूप से अवस्थित रहता है। वेद शब्द ब्रह्म की प्रतिमा तथा उसकी प्राप्ति का उपाय है तथा वेद की अनेक शाखाओं में शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध स्पष्ट दृश्यमान है ।[२]

यद्यपि लोक-व्यवहार निर्वाहार्थ शब्द के वर्ण-पद-वाक्य रूप कल्पित विभाग माने जाते हैं तथापि शब्दतत्त्व एक ही है, वह ज्योतिः स्वरूप है। जैसे विभिन्न घटों में रहने वाला घटत्व एक है, तथैव घट शब्दत्व भी एक ही है। व्यवहारोपयोगी वैखरी वाङ्मय की अभिव्यंजक वैकृत ध्वनि के भीतर शब्द ज्योति छिपी है, वही अर्थतत्त्व को प्रकाशित करती है।[३] प्राकृत ध्वनि अर्थबोधक शब्द (स्फोट) को व्यक्त करती है तथा वैकृत ध्वनि उसे चिरकाल पर्यन्त स्थायी रखती है। प्राकृत ध्वनि प्रकाश तथा वैकृत अन्धकार है। शब्द (स्फोट) इन दोनों से भिन्न है, परन्तु प्राकृत ध्वनि स्फोट की प्रकृति है। बिना उसके स्फोट की अभिव्यक्ति नहीं होती।[४] भर्तृहरि ने स्फोट का नामोल्लेख प्रथम काण्ड के ४९वें श्लोक में किया है। इसके पूर्व उन्होंने शब्द का ही नाम लिखा है तथा वक्ता एवं श्रोता के अनुसार उसकी अभिव्यक्ति एवं श्रुति पर विचार किया है। यहाँ आकर उन्होंने स्फोट एवं नाद (ध्वनि) का सम्बन्ध इस प्रकार बताया है—जैसे जल में जो चन्द्र प्रतिबिम्ब का हिलना-डुलना दीख पड़ता है, वह जल की क्रिया के कारण, चन्द्र प्रतिबिम्ब नहीं हिलता। तथैव ध्वनि के धर्म (ह्रस्वत्व, दीर्घत्व कत्व, खत्व आदि) स्फोट के धर्म न होने पर भी उसके प्रतीत होते हैं।[५] इसके आगे पुनः उन्होंने स्फोट को नित्य मानकर कहा है—

---

१. म० भा० १।१।१ (पस्पशाह्निक) प्रदीप मंगलाचरण, श्लोक ७
२. वाक्य० १।१-६
३. वाक्य० १।१४-१८
४ ,, १।४९
५ , २० २१

काल की परिधि से रहित स्फोट को व्यक्त करने वाली वैकृत ध्वनि मे काल का सम्बन्ध रहता है। अतः उसी के भेद से स्फोट में वृत्ति भेद भले ही प्रतीत हो, परन्तु उसकी नित्यता में बाधा नहीं पड़ती।[1] परन्तु प्राकृत ध्वनि तो स्फोट का बाह्य रूप ही है। अतः उसका एकमात्रिक, द्विमात्रिक तथा त्रिमात्रिक काल स्फोट में आरोपित ही रहता है। यहाँ स्फोट के लिए शब्द का प्रयोग किया गया है। वैकृत ध्वनि स्फोट की अभिव्यक्ति के बाद होती है तथा उसी के कारण स्फोट की कम या अधिक समय तक उपलब्धि होती है। स्फोट का स्वरूप उससे भिन्न नहीं होता तथा देर तक सुनाई पड़ने पर भी 'यह वही अकार है', ऐसी प्रतीति होती है, जैसे देर तक दिखाई देने पर भी 'यह वही घड़ा है' ऐसा ज्ञान होता है।[2] जैसे प्रकाश उत्पन्न होते ही अपने से भिन्न घट पट आदि वस्तुओं को प्रकाशित करता है। वह प्रथम प्रकाशित घट से एक घण्टे या उससे अधिक समय तक प्रकाशित घट में भेद नहीं उत्पन्न करता, वैसे ही प्राकृत ध्वनि अपने से भिन्न स्फोट (शब्द) को अभिव्यक्त करती है। तदनन्तर उत्पन्न वैकृत ध्वनि केवल उसकी उपलब्धि कराती है, भेद नहीं।

स्फोट स्वरूप का प्रकाशन पूर्व ध्वनियों से उत्पन्न बोध के साथ अन्तिम ध्वनि से होता है, जैसे कोई मन्त्र या काव्य कई बार रटने से धीरे-धीरे बुद्धि में संस्कार उत्पन्न करता है। क्रमशः रटते-रटते अन्तिम आवृत्ति में उसका ज्ञान हो जाता है, इस ज्ञान में पूर्व आवृत्तियाँ निरर्थक नहीं होतीं, वरन् सहायक होती हैं तथैव पूर्व-पूर्व ध्वनियों से शब्द (स्फोट) स्पष्ट नहीं होता, अन्तिम में स्पष्ट प्रतीत होता है। अथवा अन्तिम के साथ पूर्व पूर्व ध्वनि से उत्पन्न बुद्धि में शब्द का निर्धारण होता है। इसे अधिक स्पष्ट रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है—वक्ता '**देवदत्तः गच्छति**, का अर्थ बोध श्रोता को कराता है—वह दे, व, द, त्तः, ग, च्छ, ति इन सात (स्वर व्यंजन मिलित) वर्णों को क्रम से बोलता है। श्रोता दे के बाद देहि, देव, देय, व के अनन्तर देवता, देवना, देवकी, देवर, द कहने से देवदया, देवदण्ड, देवदत्त, त्तः जोड़कर सुनने से देवदत्तः (**देवों का दिया गया**), देवदत्त नामक पुरुष या बालक, इसके आगे ग उच्चारण से देवदत्तः गतः, गन्ता, गर्दभः, च्छ जोड़ने से गच्छ, गच्छतु, गच्छति आदि बोध

१. वाक्य० १।७५

२. ,, १।७६-७७

करता जाता है। ति के साथ वक्ता का अर्थ स्पष्ट रूप से श्रोता को प्रतीत होता है। तथा उच्चरित पूर्वकालिक सभी वर्ण इसी में सहायक होते हैं एव अन्य बोधों की निवृत्ति हो जाती है।

प्रथम ध्वनि की उत्पत्ति तथा अन्तिम ध्वनि द्वारा अभिव्यक्त शब्द यद्यपि एक, क्रमरहित तथा अखण्ड है, परन्तु उसके मध्य जो अनेक वर्ण, पद तथा अवान्तर वाक्यों की प्रतीति होती है, वह बोध करने वाले की समग्र बोध में असमर्थता या समग्र बोध करने का उपाय ही कहा जायगा। जैसे घटज्ञान, पटज्ञान, गोज्ञान में ज्ञान एक है, परन्तु ज्ञेय (घट, पट, गौः) के भेद से व्यवहार में भिन्न प्रतीत होता है, तथैव एक अखण्ड, अक्रम, अद्वितीय स्फोट भी व्यंजक ध्वनियों के भेद से व्यवहार में भिन्न प्रतीत होता है। यद्यपि वाक्य पदों से तथा पद वर्णों से भिन्न हैं, परन्तु जैसे सौ, एक दोनों संख्यायें परस्पर भिन्न हैं, लेकिन एक संख्या का ज्ञान सौ के ज्ञान में सहायक होता है, तथैव वाक्य के ज्ञान में उसके अवान्तर पद, वर्ण नामक भेद सहायक होते हैं।[1]

जैसे दूर से देखने में वृक्ष हाथी की तरह, अन्धकार में रस्सी सर्प की तरह प्रतीत होती है, पुनः ध्यान से देखने पर वृक्ष की डालों तथा रस्सी की निश्चेष्टता को समझकर पूर्व बुद्धि नष्ट हो जाती तथा वास्तविकता उत्पन्न होती है वैसे ही पहिले अखण्ड वाक्य स्फोट में वर्ण, पद भाग वाली बुद्धि प्रवृत्त होती है। पुनः समग्र रूप से समझने पर अखण्ड बोध होता है। पदार्थों की शक्तियां तथा उनके क्रम निश्चित होते है। दूध का विकार दही है तथा बीज का विकार वृक्ष, जैसे उनका क्रम निश्चित है, दही बनने के पूर्व दूध गाढ़ा होता जाता है वृक्ष बनने से पहिले बीज अंकुर के रूप में परिणत होता है, क्रमशः उसमें पत्तियाँ, डालें आदि निकलती हैं, उसी तरह ज्ञान प्राप्त करने वालों की बुद्धि भी क्रमशः वर्ण, पद, तदनन्तर वाक्य का ज्ञान करती है। इसी कारण अखण्ड स्फोट के वर्ण, पद तथा वाक्य विभाग माने गये हैं (यह क्रम बोध-कर्ता की बुद्धि में वर्तमान रहता है।) स्फोट के व्यंजक वर्णों का क्रम-नियम व्यंग्य स्फोट में भी उपचरित हो जाता है।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में जाति, व्यक्ति विषयक विचार तथा शब्द के व्यापकत्व का विशद विवेचन किया है। इसका उल्लेख आगे परिच्छेद

---

१ वाक्य० १।८६-८७

मे यथास्थान किया जायगा। उन्होंने वैशेषिक मतानुसार अनित्य ध्वनि को भी स्फोट कहा है। वह कार्य शब्द है तथा वह कभी थोड़ी दूर तक सुनाई पड़ता है कभी अधिक दूर तक। संक्षेप में नित्य शब्द तथा कार्य शब्द के विषय में विभिन्न दार्शनिकों का यह विचार है—

वैयाकरण	नैयायिक	मीमांसक
नित्य शब्द (स्फोट रूप)	—	नित्य शब्द वर्ण रूप
प्राकृत ध्वनि	वाचक, शब्द	व्यंजक ध्वनि (वायु-गुण)
वैकृत ध्वनि	ध्वनि	—

वाक्यपदीयकार ने ब्रह्म, शब्द तथा स्फोट का इस प्रकार मिला हुआ प्रयोग किया है, कि तीनों स्वतः पर्याय सिद्ध हो जाते हैं।
उदाहरणार्थ—

ब्रह्म शब्द तत्त्वं यदक्षरम् (१)
आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य (११)
यदेकम् प्रक्रियाभेदैः (२२)
स धर्मः स्फोटनादयोः (४६)
स्फोटस्याभिन्नकालस्य (७५)
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्य (७६)
शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेः ......
.... स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते (७७)
स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहणम् (८१)
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे (८३)
बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते (८४)
न भेदो ध्वनिशब्दयोः (९६)
स्फोटनादयोः (९७)
शब्दस्य परिणामोऽयम् (१२०)
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते (१२३)
...... यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः (१३२)

उपर्युक्त कारिकाओं में तत्, यत् सर्वनामों द्वारा ब्रह्म, शब्द तथा स्फोट तीनो का यथास्थान परामर्श होता है। आचार्य भर्तृहरि का लक्ष्य शब्दब्रह्म की सिद्धि था, अतएव उन्होंने वेद-उपनिषद् एवं महाभारत आदि ग्रन्थों का प्रमाण देते हुये महाभाष्य के वार्तिकों को आधार बनाकर अपने सिद्धान्त की पुष्टि की। शैवागमों तथा व्याकरण दर्शन पर उनका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। प्रायः सभी ने भर्तृहरि की कारिकाओं को उद्धृत कर स्वमत का समर्थन किया है। पुण्यराज तथा हेलाराज ने वाक्यपदीय की ... में बड़े कौशल से मतान्तरों का निराकरण करते हुये एक **अखण्ड वाक्य स्फोट की सिद्धि मे योग दिया।**

स्फोट-सिद्धान्त के खण्डन-मण्डन का प्रारम्भ

भर्तृहरि के अनन्तर स्फोटविषयक विवाद उत्तरोत्तर बढ़ता गया। विशेष रूप से वैयाकरण तथा मीमांसकों के मध्य स्फोट की मान्यता पर शास्त्रार्थ होते थे। दोनों दार्शनिक अपने पक्ष को प्रबल सिद्ध करने के लिए अपर पक्ष पर कठोर वाक्-प्रहार करते थे। वेदान्ती स्फोट के सम्बन्ध में मीमांसकों के अनुगामी थे। वैशेषिक, नैयायिक तथा सांख्य शब्द को अनित्य मानकर मीमांसक तथा वैयाकरण दोनों के सिद्धान्तों के विरोधी थे। इनके अतिरिक्त द्वैतवादी सभी दार्शनिक भी स्फोट सिद्धान्त के विरोधी थे। तत्त्वमुक्ता-कलाप में प्रबल तर्कों द्वारा स्फोट का खण्डन किया गया है।

दार्शनिक विकास के तीन चरण

प्रत्येक नूतन दर्शन का प्रथम चरण दार्शनिक के अनुभव का प्रत्यक्ष स्वरूप होता है, उसके हृदय में प्रकाशित भाव ही शब्द का रूप धारण करते है। द्वितीय चरण में समन्वयात्मक बुद्धि होती है। अपने समान विचारकों के मत का उल्लेख कर स्वमत की पुष्टि की जाती है। प्रत्येक नूतन दर्शन अपने पूर्ववर्ती दर्शन की पृष्ठभूमि में पनपता है। व्याकारण दर्शन अद्वैत-शैवागम तथा ब्रह्माद्वैतवाद की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ है। यही कारण है कि मण्डन मिश्र ने अद्वैतवेदान्ती होकर भी स्फोट का पक्ष लेकर भट्ट कुमारिल (मीमांसक) को **'दुर्विदग्ध'** कहकर उनके मत का खण्डन किया है।[1] दर्शन का तृतीय चरण खण्डन-मण्डन का होता है। एक दार्शनिक ग्रन्थकार पर-पक्ष का खंडन तथा स्वमत का मण्डन कर प्रबल-प्रमाणो से अपने सिद्धान्त की पुष्टि करता है। व्याकरण दर्शन के प्रतिष्ठापको में महाभाष्यकार तथा भर्तृहरि ने अपने पक्ष की पुष्टि ही की। प्रसंगतः पर-पक्ष के सिद्धान्तों का भी उल्लेख कर दिया। इस कारण वैयाकरण-सम्मत सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए, उन्होने इष्टम्, इष्यते, मतस्थितिः इत्यादि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, जिससे सम्प्रदायानुसारी बुध जन इसे समझ लें। कहीं पर अपने सिद्धान्त को अन्त में कहा है, जैसे— **'अथायमान्तरो ज्ञाता ...'** (शब्द ज्ञान का परिणाम है।)[2] या **'विषयेन्द्रिययोरिष्टः संस्कारः'** (ध्वनि श्रोत्र, विषय दोनों का संस्कार करती है।)[3]

---

१ स्फोट सिद्धि (म० मि०) श्लोक २ २ वाक्य० १।१११

३ वाक्य० १।८०

स्फोट प्रतिपादक मण्डन मिश्र तथा भरत मिश्र

स्फोट सिद्धान्त के मण्डन के लिए भर्तृहरि के अनन्तर **मण्डन मिश्र** का नाम प्रसिद्ध है। इनका काल आठवीं शताब्दी माना जाता हैं। ये दाक्षिणात्य विद्वान् प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट के शिष्य तथा वृद्धावस्था में आद्य शंकराचार्य के शिष्य थे।[1] परन्तु इन्होंने अपने 'स्फोटसिद्धि' ग्रन्थ में कुमारिल को दुर्विदग्ध कहकर मुख्य रूप से उनके विचारों का खण्डन किया है। अतः इनका कुमारिल का समकालिक ब्रह्माद्वैतवादी होना अधिक संगत जान पड़ता है।[2] स्फोटसिद्धि में ३७ कारिकायें हैं। इन्होंने वैयाकरणों को पददर्शी कहकर दुर्विदग्धों (मीमांसक शिरोमणि कुमारिल भट्ट प्रभृति) के द्वारा स्फोट-सिद्धान्त का खंडन करने पर आगम तथा बुद्धि-बल से उनके तर्कों को काट कर स्फोट सिद्धि का यथार्थ नाम चरितार्थ किया है।

दूसरे आचार्य **भरत मिश्र** हैं। इनके समय तथा स्थान के विषय मे कोई भी तथ्य ज्ञात नही है। उन्होंने दस कारिकाओं तथा उनकी स्वोपज्ञ वृत्ति में स्फोट का समर्थन किया है। उनका कथन है 'स्फोट सिद्धान्त का प्रतिपादन वाक्यपदीय आदि ग्रंथो में दिया गया है, परन्तु उसका स्वरूप बिखरा है, एतदर्थं उसके संक्षिप्त किन्तु पूर्ण समर्थन की आवश्यकता है। अतः प्रस्तुत निबन्ध (स्फोट सिद्धि ग्रन्थ) में केवल दस सूत्रों में प्रत्यक्ष, अर्थापत्ति एवम् शास्त्रीय प्रमाणों से वर्णातिरिक्त पदतत्व (स्फोट) की व्यवस्था कर रहा हूँ।'[3] इस ग्रन्थ में प्रत्यक्ष, अर्थापत्ति एवम् आगम, ये तीन परिच्छेद हैं। भरत मिश्र ने स्फोट का प्रतिपादक **औदुम्बरायण** ऋषि को मानकर महर्षि **उपवर्ष** के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुये भी उनके व्याख्याकारों (शबर स्वामी इत्यादि) के विचारों का खंडन किया है।[4] जैसा कि उनके ग्रन्थ के अन्त में प्रकट किये गये विचारों से स्पष्ट होता है—महर्षि उपवर्ष ने 'गकार, औकार विसर्जनीय (मिलकर) गौः शब्द है'—यह वाक्य व्यावहारिक (कार्य) शब्द के लिये कहा है, पारमार्थिक शब्द के लिये नही, क्योंकि मीमांसा व्यवहार शास्त्र है। अतः महर्षि ने व्यावहारिक शब्द का

---

१. सं० भा० सा० का इति० (भाग २), पृ० ३५७
२. स्फोट सिद्धि (मण्डन) (प्रास्ताविकम्, पृ० २)
३. ,, ,, (भरत), पृ० १
४. ,, ,, ,, ,,

विवेचन करना ही उचित समझा है। ऋषियों के कथन में भ्रम सम्भव नही है।[1]

मण्डन मिश्र तथा भरत मिश्र के बाद एक **'स्फोट सिद्धि न्यायविचार'** ग्रन्थ उपलब्ध होता है। ग्रन्थकर्ता का नाम अज्ञात है। इस ग्रन्थ में २४५ कारिकायें हैं, जो भरत मिश्र की दस कारिकाओं की व्याख्या के रूप में लिखी गई हैं। इस ग्रन्थ में मण्डन तथा भरत दोनों मिश्रों की पद्धति का अनुसरण किया गया है। इसका खण्डन-मण्डन प्रकार ऐसा है, जैसे शास्त्रार्थी विद्वान् अपने पक्ष की पुष्टि तथा इतर पक्ष की अवहेलना करते है। इस ग्रन्थ में विरोधी (मीमांसक) के तर्कों को **अविचारित चारु,** (खण्डन करने के पहिले ही सुन्दर) **महामोहविलासविजृम्भित** (अज्ञान की अधिकता का प्रदर्शन) कहा गया है।

शेषकृष्ण तथा भट्टोजिदीक्षित की स्फोट विषयक विचार सरणि

स्फोट के विषय में चिन्तन करने वाले तथा विरोधी मीमासक एवं नैयायिकों के तर्कों का खण्डन करने वाले विद्वानों की परम्परा में विक्रम की पन्द्रहवीं शती के **शेषकृष्ण** का नाम उल्लेखनीय है। ये विद्वद्वर भट्टोजिदीक्षित के गुरु थे। इनका ग्रंथ **'स्फोट तत्त्व निरूपण'** है। इन्होंने अपने ग्रंथ में महाभाष्य तथा वाक्यपदीय का आश्रय लिया है। स्फोटतत्त्व निरूपण में १६ कारिकायें तथा उनकी स्वोपज्ञ वृत्ति है। इसमें मुख्य रूप से मीमांसकों के मत का खण्डन किया किया गया है। शेषकृष्ण ने वर्णवाद का खण्डन किया है, परन्तु पद, वाक्य दोनों प्रकार के स्फोट (पद स्फोट, वाक्य स्फोट) माने हैं। प्रसंगतः आपने न्यायमत से पद प्रक्रिया, वाक्य प्रक्रिया का उल्लेख कर उसका खण्डन भी किया है। संक्षेप में इनके विचार निम्नलिखित हैं—

(१) स्फोट की कल्पना नहीं की जाती बल्कि वर्ण, पद तथा वाक्य में एकत्व के अनुभव से वह प्रत्यक्ष होता है।

(२) वर्ण व पद विभाग अविद्याकल्पित है, अर्थ का बोधक अनवयव स्फोट ही वास्तविक है।

(३) वर्ण न नित्य हैं न अनित्य, वरन् नित्यानित्यविलक्षण हैं तथा शब्दब्रह्म के विवर्त हैं।[2]

---

१. स्फोट सिद्धि (भरत) पृ० २८

२ स्फोट त० नि० कारिका १०

(४) जैसे एक ही मुख मणि, कृपाण, दर्पण में प्रतिबिम्बित होने से उनके भेद से भिन्न प्रतीत होता है तथैव एक ही स्फोट उच्चारण स्थान एवम् प्रयत्न के भेद से अनेक (वर्ण-पद-वाक्य) रूप प्रतीत होता है।

(५) अर्थबोध के चार सोपान हैं—ईषत्त्व, सन्दिग्धत्व, निश्चितत्व एवं स्फुटतरत्व। स्फुटतर अभिव्यक्ति की दशा में शब्द को स्फोट कहा जाता है। जैसे वक्ता के द्वारा कमल के 'क' कहने से कमल, कमनीय, कम इन सभी का थोड़ा बोध हुआ, 'म' जोड़ने से तथा आगे बोलने का उपक्रम करते हुये देखकर कमल, कमन आदि में सन्देह हुआ। 'ल' कह देने से निश्चित हो गया, परन्तु कमला न कह दिया जाय, अतः अधिक स्पष्टता नहीं आई। वक्ता के रुक जाने पर, श्रोता की अन्तिम वर्ण के सहित पूर्ववर्ण जनित-संस्कार-सहकृत बुद्धि में स्पष्टतर अर्थबोध होता है, उसी का नाम स्फोट है।

शेषकृष्ण के शिष्य भट्टोजिदीक्षित ने **शब्दकौस्तुभ** में 'स्फोटवाद' नामक एक प्रकरण लिखा। इसमें उन्होंने अष्टविध स्फोटों का उल्लेख कर प्रकृति-प्रत्यय विभाग को काल्पनिक बताकर आदेशों का वाचकत्व निश्चित किया। इस प्रकार उन्होंने प्रक्रिया को गौण तथा अर्थबोध को मुख्य निरूपित किया। दीक्षित जी ने **वैयाकरण-सिद्धान्त कारिकावली** लिखी तथा कारिकाओं में स्फोटवाद का निरूपण भी किया। कुछ कारिकायें तो भर्तृहरि की ही ले लीं। इन कारिकाओं की व्याख्या उनके भतीजे कौण्डभट्ट ने की। उनके ग्रंथ 'वैयाकरण भूषण' तथा 'वैयाकरण भूषण सार' हैं। दोनों में केवल आकार का ही अन्तर है। इसके अन्तिम अध्याय में स्फोट निरूपण किया गया है। कौण्डभट्ट ने अखण्ड वाक्य स्फोट को अन्तिम निष्कर्ष मानकर पद प्रक्रिया को बाल-शिक्षण-विधि मात्र बताया है। इसी समय में **मौनि श्रीकृष्णभट्ट** ने **'स्फोट चन्द्रिका'** लिख कर कुछ नवीन विचार प्रस्तुत किये।

कौण्डभट्ट एवं मौनि श्रीकृष्णभट्ट के विचार

श्री कौण्डभट्ट तथा मौनि श्रीकृष्ण भट्ट ने इस रूप में आठ स्फोट माने हैं।

५ व्यक्तिस्फोट—वर्ण स्फोट, पद स्फोट, वाक्य स्फोट, अखण्ड पद स्फोट तथा अखण्ड वाक्य स्फोट।

३ जातिस्फोट—वर्ण जाति स्फोट, पदजाति स्फोट, वाक्यजाति स्फोट। इन्होंने यह विवेचन नहीं किया कि जाति स्फोट मुख्य है या व्यक्तिस्फोट, केवल वाक्य स्फोट को अन्तिम, वास्तविक माना है। न इन दोनों विचारकों ने आन्तर स्फोट पर ही विचार किया है।

श्रीकृष्णभट्ट की नवीन मान्यतायें ये हैं, जिनके कारण इनके विचार दीक्षित-सम्प्रदाय की अपेक्षा अग्रगामी प्रतीत होते हैं—

(१) स्फोट शब्द योगरूढ़ है। इसकी व्युत्पत्ति **'स्फुटति अर्थः यस्मात्'** है। अतः शास्त्रीय व्युत्पत्ति के अनुसन्धान पूर्वक समुदाय शक्ति से पंकज का तरह यहां भी बोध होता है।

(२) भूषणकार ने वाचक शब्द को स्फोट माना है। उससे असाधु शब्द भी वाचक होने से स्फोट के अन्तर्गत आ जायँगे तथा लाक्षणिक, व्यंजक शब्दों का ग्रहण स्फोट के अन्तर्गत न होगा। यह विचार भर्तृहरि के अनुसार है, उन्होंने असाधु शब्दों को साक्षात् वाचक नहीं माना है।[1] प्राचीन वैयाकरण लक्षणा, व्यंजना नहीं मानते, परन्तु इन्होंने स्वीकार किया है।

(३) इन्होंने शब्द, अर्थ के अनादि सम्बन्ध को शक्ति स्वीकार किया है, आगे नागेश भट्ट ने इसे ही मानकर प्राचीन वैयाकरण-सम्मत विचारों का खण्डन किया है।

(४) इन्होंने स्फोट मानने पर शाब्द बोध में निम्नलिखित लाघव दिखाये हैं—

(अ) वर्णों के अनित्य पक्ष में उनके अनन्त प्रागभाव, ध्वंस की कल्पना नहीं करनी पड़ती है।

(आ) नदी, दीन, जरा तथा राज में भिन्न अर्थ बोध के लिए, आनुपूर्वी को कारण नहीं मानना पड़ता।

(इ) शाब्द बोध में योग्यता ज्ञान को कारण नहीं मानना पड़ता, क्योंकि वैयाकरण के मत में **'वह्निना सिंचति'**। (आग से सींचता है) जैसे वाक्यों को सुनकर 'अग्नि तुल्य गरम जल से सींचता है।' बोध होता है।

(ई) शाब्द बोध में अयोग्यता निश्चय को प्रतिबन्धक नहीं मानना पड़ता अन्यथा समूचा अलंकारशास्त्र ही अनर्थक हो जायगा, क्योंकि

१. वाक्य० ३।१४० तथा स्फो० च०, पृ० ६

अस्य क्षोणिपतेः श्लोक में उल्लिखित शब्दों के अर्थ-बोध में अयोग्यता का निश्चय स्पष्ट है।[1]

(उ) भ्रमात्मक बोध की कल्पना नहीं करनी पड़ती, क्योंकि शब्द से उत्पन्न कोई ज्ञान भ्रम नहीं है, वस्तु का ज्ञान भले भ्रम हो।

नागेशभट्ट के स्फोट सम्बन्धी नवीन विचार

स्फोट सिद्धान्त पर नागेशभट्ट ने नवीन वैज्ञानिक ढंग से विचार कर भाषाविज्ञान के आधार पर उसे प्रतिष्ठित किया। भर्तृहरि ने व्याकरण दर्शन के अनुसार स्फोट सिद्धान्त को शब्दाद्वैतवाद के आधार पर खड़ा किया था, यद्यपि उनके पूर्वकालिक महर्षियों का कोई स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता। नागेशभट्ट ने आन्तर अर्थबोध तथा आन्तर शब्दतत्त्व के आधार पर स्फोट का निरूपण किया। उन्होंने अनेक प्राचीन विचारों का खण्डन कर नये विचारों की उद्भावना की तथा स्फोट वाद नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा। संक्षेप में स्फोट के सम्बन्ध में नागेश के विचार निम्नलिखित है—

(१) निराकांक्ष अर्थबोधक होने के कारण वाक्यस्फोट मुख्य है, यही शक्ति (शब्द, अर्थ का वाच्य वाचक सम्बन्ध) का आश्रय है। अपभ्रंशो मे शक्ति होने से वे भी शब्द (स्फोट) के अन्तर्गत हैं, भले ही उनका विद्वत्समुदाय में प्रयोग न हो।

(२) वाणी के परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी इन चार भेदो में जब मध्यमा की कोटि में वाणी की स्थिति होती है उसको ही स्फोट कहते है। वहीं पर शब्द से अर्थ पृथक् होता है तथा दूसरे को समझाने के लिए उसका स्फुटीकरण (प्रकाशन) किया जाता है।

---

१. स्फो० च० पृ० १४ में उद्धृत

अस्य क्षोणिपतेः परार्धपरया लक्षीकृताः संख्यया,
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणबधिरैराकर्णिताः कीर्तयः।
गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरा-
न्मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधे रोधसि॥

इस श्लोक में परार्धपरा संख्या, अन्धों का दर्शन, बधिरों का श्रवण, अष्टम स्वर, वन्ध्यापुत्र, मूकों का कथन तथा कच्छपी के दूध का समुद्र ऐसे पद **हैं, जो संसार में देखे ही नहीं गये। नैयायिकों के मत में इनका अर्थ ही न होगा**

(३) मध्यमावस्था में शब्द, उसका अर्थ एक, अखण्ड रहता है। यह बुद्धिगत स्थिति है। वहीं पर सभी वर्णों का पूर्वापर क्रम निरूपित होता है। जब तक श्रोता को उसका अर्थबोध हो, तब तक उसकी स्थिरता अक्षुण्ण रहती हैं।

(४) सम्पूर्ण ज्ञान में शब्द का भान होता है, जैसे घट के ज्ञान मे घड़ा (वस्तु) का ज्ञान होता है तथैव घट शब्द का भी, वही वाचक है।

(५) वाक्य एवं वाक्यार्थ लाक्षणिक नहीं वरन् वाचक तथा अखण्ड हैं। प्रकृति-प्रत्यय तथा पद विभाग तो प्रक्रिया के निर्वाहार्थ किये गये हैं।

(६) कत्व खत्व जाति व्यंजक-ध्वनि में रहती है, स्फोट में नही, इसीलिए 'क एक है,' 'ख एक है,' ऐसी प्रतीति होती है।

(७) स्फोट वस्तुतः आन्तर होता है, ध्वनि तो उसकी अभिव्यक्ति का हेतु है। प्राकृत ध्वनि स्फोट के साथ अभिन्न रूप से रहती है, वैकृत ध्वनि उसके बाद स्फोट के अनुरणन का काल निर्धारित करती है।

(८) इस प्रणव स्वरूप आन्तर स्फोट का श्रोता परमात्मा है तथा वही शब्द (स्फोट) परमात्मा को बताने वाला है। क्योंकि जब निद्रावस्था मे जीव सुप्त हो जाता है, उसकी इन्द्रियाँ शून्य (विषयबोधहीन) हो जाती है तब अन्तःस्थित परमात्मा ही 'उठो' 'जागो' इत्यादि शब्दों को सुनकर जीव को जगाता है। इसका विवेचन श्रीमद्भागवत में किया गया है।[1]

(९) शब्द की व्यापकता वक्ता एवं श्रोता दोनों की बुद्धि में स्थित है। ध्वनियां नष्ट हो जाती हैं, परन्तु शब्द (वाचक) बिना अर्थ बोध कराये नहीं रहता।

(१०) आन्तर स्फोट ही कार्य शब्द के रूप में परिणत होता है।

(११) जाति भी अनित्य है, केवल एक प्रकार के पदार्थों में समान धर्म देखकर लाघवार्थ उसकी मान्यता है। अतः व्यवहार पर्यन्त की उसकी नित्यता माननी चाहिए। यह शब्द ब्रह्म ही घटत्वावच्छिन्न होने पर व्यक्ति, स्फोट तथा घटत्व उपाध्यवच्छिन्न होने पर जाति स्फोट नाम धारण करता है।

---

१. भागवत १२।६।३७-४१ मंजूषा में उद्धृत पृ० २७१-७३

अष्टम परिच्छेद

स्फोट समर्थक एवं उसके विरोधी दार्शनिकों के विचार

स्फोट समर्थक दार्शनिक

(अ) वैयाकरण—

वैयाकरणों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय शब्द-साधुत्व है। इसलि[illegible] व्याकरण शास्त्र को शब्दान्वाख्यान शास्त्र कहते हैं, परन्तु शब्द के सा[illegible] अर्थ का सहज सम्बन्ध होने से उस पर विचार करना अनिवार्य हो जात[illegible] है, इसीलिये महाभाष्यकार ने पहले ही शब्द का निर्णय करने के लिये प्रश्न[illegible] किया—'गौः इस पद में शब्द क्या है ?' शब्द के उच्चारण में तीन विभि[illegible] वस्तुओं की प्रतीति होती है—ध्वनि स्वरूप एवं बाह्य अर्थ। घट श[illegible] करने पर 'घ, अ, ट, अ' ये चार वर्ण, घट रूप शब्द, जिसे [illegible]

कर श्रोता अपने मन में स्थित घट स्वरूप का बोध करता है, तथा (घड़ा) पदार्थ। अर्थ-बोध के प्रश्न पर वैयाकरण तथा अन्य दार्शनिक स्फोट को मानते हैं। संक्षेप में वैयाकरणों के तर्क निम्नलिखित हैं। ये महाभाष्य, वाक्यपदीय तथा स्फोट-विचार परक सभी ग्रन्थों में शब्दान्तर तथा प्रकारान्तर से कहे गये हैं—

(१) वर्ण अर्थ के बोधक नहीं हो सकते, क्योंकि वर्णों की बोधकता स्वीकार करने पर दो विकल्प हो सकते हैं। यदि प्रत्येक को बोधक माना जाय तो घ से ही घड़ा का बोध हो जायगा, ट का उच्चारण व्यर्थ होगा। यदि समुदाय को बोधक मानें, तो ध्वनि रूप वर्ण उच्चारण के बाद ही नष्ट हो जाते हैं, तब उनका समुदाय कैसे सम्भव होगा।

(२) वर्णों को नित्य मानने पर भी, उच्चरित होने पर ही अर्थ-प्रतीति होती है, सर्वदा नहीं, तथा नित्यत्व पक्ष में वे वाक्य के अवयव कैसे हो सकते हैं, तब उनकी नित्यता नहीं रह सकती। (नित्य वस्तु में अवयव-अवयवी भाव नहीं रहता।) उत्पत्ति या अभिव्यक्ति दोनों ही क्रमिक होती, है, नित्य वर्णों का क्रम कैसे हो सकता है।

(३) 'गौः' यह एक पद है, 'गाम् आनय' यह एक वाक्य है, इसमें एकत्व-प्रतीति का आश्रय वर्ण नहीं हो सकते, क्योंकि वर्ण अनेक हैं।

(४) अर्थबोधक सभी वर्णों को एक स्मृति में लाकर उनका समुदाय नहीं हो सकता, क्योंकि अनुभवजन्य ज्ञान संस्कार तथा संस्कार जन्य ज्ञान स्मृति कहलाता है। वर्णों का पृथक्-पृथक् अनुभव हुआ, तदनुसार ही सस्कार होगा तथा उसी रूप में स्मृति भी होगी। एक साथ ज्ञान न होने से समुदित स्मृति भी न होगी।

(५) वर्णों के समुदित ज्ञान से समुदित स्मृति हो जायगी, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वर्णों का समुदित ज्ञान होता ही नहीं है। गौः' इस पद का ज्ञान एक समुदित ज्ञान है, उससे वर्णो का ज्ञान कैसे हो सकता है, इसीलिये पद एवं वाक्य वर्णों से अतिरिक्त माने जाते हैं। शाब्द बोध में पद-ज्ञान कारण होता है, वर्ण-ज्ञान नहीं।

(६) शब्द अनादि-निधन, ब्रह्म का प्रतिपादक एवं ब्रह्म स्वरूप है। जैसे यह समस्त संसार ब्रह्म का अन्यथाभास है तथैव नाना प्रकार के गद्य-पद्यात्मक वाग्विलास एक ही सूक्ष्मतम शब्द तत्त्व के विवर्त हैं।

(७) शब्द समस्त संज्ञाओं के मूल में वर्तमान है, वह बुद्धिगत है। विश्व के समस्त प्राणी स्वयं उसे समझते हैं तथा दूसरों को समझाने के लिये ध्वनियों के रूप में उसकी अभिव्यक्ति करते हैं।

(८) जैसे कई सूत मिलकर एक वस्त्र बनते हैं, कई रेखायें तथा रंग मिलकर एक चित्र कहलाते हैं तथैव कई ध्वनियों से एक शब्द की अभिव्यक्ति होती है। जैसे वस्त्र एक है, चित्र एक है, यह सूतों या रंगों का समुदाय नहीं, वरन् उनसे भिन्न है, तथैव शब्द भी ध्वनियों से भिन्न, एक है।

(९) यदि किसी तरह वर्ण-समुदाय-रूप पद तथा पद-समुदाय-रूप वाक्य मान भी लें, तो नदी, दीन तथा जरा, राज में भिन्न अर्थ की प्रतीति न होगी, क्योंकि दोनों में समुदाय के अवयवभूत वर्ण एक ही हैं। अतः क्रम मानना अनिवार्य है। वैसी स्थिति में उत्पत्ति, अभिव्यक्ति—दोनों पक्षों में वर्ण-समुदाय नहीं मिलेगा।

(१०) स्फोट की कल्पना नहीं होती वरन् उसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। वाक्य में एकत्व बुद्धि का अपलाप नहीं हो सकता। वाक्य के अन्तर्गत पदों को चाहे जिस क्रम में रखा जाय, अर्थ-बोध में अन्तर नहीं होगा। इस सामूहिक एकत्व-बुद्धि का आधार स्फोट रूप शब्द तत्त्व है। वाक्य रूप शब्द तत्त्व (स्फोट) मानने से ही '**शब्दादर्थम् प्रतिपद्यामहे**' (शब्द से अर्थ का ज्ञान करते हैं) यह प्रतीति होती है।

इसी दिव्य ज्ञान के कारण वैयाकरण के सामने वाणी स्वयं अपने शुद्ध स्फोट स्वरूप को व्यक्त करती है यह वेद का सिद्धान्त है, जिसे महाभाष्यकार ने व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों में उद्धृत किया है।[1]

(आ) पातंजल योग

पातंजल योगदर्शन में यद्यपि स्फोट का नाम नहीं लिया गया है, परन्तु एक बुद्धि-निर्भास, अवयव रहित, अक्रम, वर्ण हीन बुद्धिस्थ शब्द को ही वाचक माना गया है।[2] **वाचस्पति मिश्र** ने इस भाष्य की **तत्त्व वैशारदी** टीका में लिखा है—दूसरों को बोध कराने के लिए शब्द का प्रयोग होता है। दूसरों को वही बोध होगा, जो उन शब्दों से अभिव्यक्त किया जायगा,

---

१ म० भा० १।१।१ पृ० ३४

२ पा० यो० द० भाष्य सूत्र ३।१७

जिस अर्थ के बोध के लिए वक्ता शब्द-प्रयोग करता है। शब्द-प्रयोग सम्पूर्ण वाक्य के बोधार्थ होता है, पदार्थ मात्र के बोधार्थ नहीं ; अतः शब्दों का अर्थ वाक्यार्थ ही है। अतः जहाँ पर केवल पद का प्रयोग होता है, वहाँ भी पदान्तर का अध्याहार करने पर ही अर्थ स्पष्ट होता है। केवल 'गाम्', 'घटम्' इत्यादि पद वाचक नहीं है। वाक्य की ही वाचकता लेकर पदों तथा वर्णों में वाचकता मानी जाती है।[1] योग दर्शनकार ने वैयाकरणों की तरह शब्द, अर्थ तथा दोनों के सम्बन्ध को नित्य माना है तथा स्फोट की तरह ही अर्थ बोध प्रकार का उल्लेख किया है!

(६) अद्वैतवादी शैव तथा शाक्त

अद्वैतवादी शैव तथा शाक्तमत में न केवल वाच्यवाचक भाव की अप्रसिद्धि से, अपितु समस्त विश्व प्रपंच को शब्दार्थ-रूप माना गया है। पार्वती परमेश्वर का वाणी और अर्थ के रूप में चित्रण इसी सिद्धान्त को व्यक्त करता है।[2] दुर्गा शप्तशती में देवी को शब्द स्वरूपा, वेदत्रयी का मूल कारण माना गया है।[3] विशेष रूप से वर्णों की अभिव्यक्ति के प्रकार का वर्णन करते हुए आगमविदों (शास्त्रकारों) ने तन्त्र शास्त्रों में परा वाणी को नित्य तथा वाङ्मय जगत् का उपादान कहकर शब्द-नित्यत्व में उसे अद्वैतवेदान्ति-सम्मत ब्रह्म के समकक्ष प्रतिष्ठापित किया है। परा वाणी का स्थान मूलाधार, (कुण्डलिनी चक्र) पश्यन्ती का नाभि, (स्वाधिष्ठान चक्र) मध्यमा का हृदय, (मणिपूरक चक्र) तथा वैखरी का कण्ठ (अनाहत चक्र) माना जाता है। प्रपंचसार, प्रत्यभिज्ञाहृदय तथा शारदातिलक ग्रन्थों में परा को श्रवणयोग्य समस्त वैखरी का मूल कारण कहा गया है। परावाणी का उद्भव स्थान परमात्मा है।

सांख्य मत में जिसे प्रधान कहा जाता है, तन्त्रों में वही पराशक्ति है, भूमि इत्यादि तो भगवान् की अपरा (प्रत्यक्ष-स्थूल) प्रकृतियाँ हैं उनका कारण परा शक्ति है, वही चराचर जगत् तथा वाङ्मय जगत् का उपादान कारण है। अपना परिस्फुरण देखती हुई यह शक्ति पश्यन्ती कहलाती है। पाणिनीय शिक्षा में जो वर्णो की अभिव्यक्ति बताई गई है, वह तन्त्रानुसृत

---

१. पा० यो० द० तत्व, पृ० १२५

२ रघुवंश १।१ तथा शारदा तिलक प्रथम पटल

३ दुर्गा स० ४ १०

ही है। आत्मा, मन, बुद्धि तथा मुख, ये चारों क्रमशः चतुर्विध वाग्रूपों के अधिष्ठान हैं। यहाँ मन का अर्थ अन्तःकरण है क्योंकि वाक्यपदीय में उसी को पश्यन्ती वाणी का आश्रय माना गया है तथा मुख कण्ठ से ऊपर का भाग है। इससे स्पष्ट है कि वर्ण शब्दतत्त्व से पृथक् है। चैतन्य ही वर्णों को आधार बनाकर अपने बाह्य स्वरूप (घट-पट आदि) को प्रकट करता है।[1]

शारदातिलक में परा को नित्यानन्द स्वरूप अन्तर्गत चैतन्य, पश्यन्ती को शब्द ब्रह्म, मध्यमा को शब्दार्थ रूप विश्व, एवं वैखरी को वर्ण रूपा माना गया है।[2] तन्त्रों की साधना शब्द साधना ही है, जिसमें स्थूल वर्णों से प्रारम्भ कर योगी सूक्ष्मतम शब्द का ज्ञान करता है। परा का प्रत्यक्ष ब्रह्म-साक्षात्कार है। यह सिद्धि ज्ञान-क्रियोभय मार्ग से होती है। अतएव इसमें ज्ञानमार्गी वेदान्ती व सांख्य तथा कर्ममार्गी मीमांसक एवं योगी दोनों की साधनाओं का समन्वय है। शब्द-सिद्धि कर लेने वाले योगी को, भेद रहित वाणी के शुद्ध रूप का दर्शन होता है। एक बात यहाँ उल्लेखनीय है कि अद्वैतशैव सम्प्रदाय तथा तन्त्रों में शब्द तत्त्व के लिए स्फोट का कथन नहीं हुआ है। स्वच्छन्द तन्त्र में कई श्लोकों में स्फोट को ध्वनि का भेद कहा गया है।[3] महाभाष्यकार पतंजलि तथा भर्तृहरि ने शब्द तथा स्फोट का एकार्थक प्रयोग कर दोनों में एकता स्थापित की है। बाद के व्याख्याकारों ने स्फोट का शब्द, अर्थ उभय परक व्याख्यान कर स्फोटवाद नाम से स्वतन्त्र वैयाकरण-सिद्धान्त की ही स्थापना कर दी।

(ई) आलंकारिक

भामह को छोड़कर सभी आलंकारिक (भरतमुनि, वामन, आनन्दवर्धन, सम्मट, राजशेखर, पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति) वैयाकरण-सम्मत-स्फोट-सिद्धान्तानुयायी हैं। आलंकारिकों का रस-सिद्धान्त स्फोट-सिद्धान्त से सर्वथा प्रभावित है। दोनों नित्य, अभिव्यक्त माने गये हैं, जैसे वर्णों से चैतन्यरूप स्फोट अभिव्यक्त होता है तथैव विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों से स्थायीभाव की रस रूप में अभिव्यक्ति होती है। मम्मट ने

१. पाणिनीय शिक्षा श्लोक ६
२. शारदातिलक मंगलाचरण
३ स्वच्छन्द तन्त्र च० पटल

वैयाकरण को प्रथम (मुख्य) विद्वान् कहा है।[1] आनन्दवर्धन काव्य में प्रतीयमान को ही मुख्यवस्तु मानते हैं, श्रूयमाण वर्णों को नहीं।[2]

आलंकारिकों में आचार्य मम्मट ने वैयाकरण-सम्मत प्रधानीभूत स्फोट रूप व्यंग्य की व्यंजक ध्वनि को मानकर केवल व्यंजकत्व की समता से काव्य की आत्मा को ध्वनि कहा है।[3] आचार्य आनन्दवर्धन ने भी वैयाकरणों को प्रथम विद्वान् कहकर तथा उनके द्वारा श्रूयमाण वर्णों में ध्वनि पद का प्रयोग देखकर व्यंजकत्व के साम्य से ध्वनि स्वरूप काव्य को माना है। इनका ध्वनिपद वैयाकरण सम्मत स्फोट के समान ही है, क्योंकि इनके मत में जहाँ शब्द, अर्थ उपसर्जन (विशेषण) होकर अपने से अतिरिक्त वस्तु की अभिव्यक्ति करते है, वह ध्वनि काव्य है।[4] स्फोट भी वर्णातिरिक्त, वर्ण-व्यक्त होता है। ध्वनिवाद में वाचक, वाच्य, व्यंग्य तथा व्यापार एवं इनसे युक्त काव्य को ध्वनि माना जाता है।[5] आलंकारिकों द्वारा प्रयुक्त 'शब्द' वैयाकरण-सम्मत अखण्ड-वाक्य-स्वरूप है। देखिये—

यत्रार्थः शब्दो वा ......(आनन्दवर्धन) **तददोषौ शब्दार्थौ** ......(मम्मट) **रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः** ....(पण्डितराज जगन्नाथ) विश्वनाथ ने शब्द के स्थान पर वाक्य का ही प्रयोग किया है। **वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**। राजशेखर ने प्रतिभा का लक्षण करते हुए कहा है—जो (शक्ति) वर्ण-समूह, उनके अर्थ, अलंकार, शैली तथा काव्योपयोगी अन्य वस्तुओं को हृदय में प्रतिभासित करती है, वह प्रतिभा है। प्रतिभा-सम्पन्न कवि परोक्ष पदार्थ को भी प्रत्यक्ष की तरह देखता है।[6] प्रतिभा की यह परिभाषा बौद्ध शब्द, बौद्ध अर्थ को मानने पर ही संगत होती है।

काव्यालंकार सूत्रवृत्ति के रचयिता आचार्य वामन ने भी शक्ति का लक्षण-निरूपण करते हुए कहा है—**एकाग्रचित्त में अर्थ का सदा अनेक**

---

१. काव्यप्रकाश १।४
२. ध्वन्यालोक १।४
३. काव्य प्रकाश १।४
४. ध्वन्यालोक १।१३
५. ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ११४-११५
६. काव्य मीमांसा अध्याय ४

रूपों में विस्फुरण (स्फोट) होता हैं तथा अखण्ड पद प्रकाशित होते हैं, वही (रचनात्मिका) शक्ति है।[1] उन्होंने वर्ण-पद से भिन्न वाक्यस्फोट रूप पदानुपूर्वी को माना है जिसमें असत् भी वर्ण, पद रहते हुए जैसे प्रतीत होते हैं। वही कर्ण-पथ के द्वार से सहृदयजनों के चित्त में पहुँचकर उन्हे आनन्दित करती है। वैखरी वाणी में जिस स्फोट स्वरूप शब्दतत्त्व को प्राप्त होकर उसकी (वाक्य की) अर्थाभिधायिनी शोभा विलसित होती है, ऐसा अनिर्वचनीय रस-परिपाक वैदर्भी रीति में अभिव्यक्त होता है।[2] इसी भाव को आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में इस प्रकार व्यक्त किया है--जैसे अंगनाओं में अवयवों से अतिरिक्त ही लावण्य प्रतीत होता है, यद्यपि उसकी अभिव्यक्ति अवयवों के माध्यम से होती है, तथैव महाकवियों की वाणी में वर्णों-पदों-वाक्यों से अतिरिक्त ही वस्तु (आलंकारिक सम्मत ध्वनि या वैयाकरण सम्मत स्फोट) की प्रतीति होती है।[3]

आचार्य भरत के 'नहि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' सूत्र (नाट्य शास्त्र ६/३१) में एक वचनत्व की उपपत्ति के लिए अभिनवभारती व्याख्या में कहा गया है--जैसे स्फोटवाद में एक अखण्ड नित्य तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। वर्ण, पद तथा वाक्य रूप अवयवों की प्रतीति असत्य; तथैव नाटक में एक ही प्रधान महारस होता है, उसमें अन्य गौण रसों की स्थिति असत्य है।

> 'ततश्च मुख्यभूतान्महारसात् स्फोटस्येव शीव असत्यानि ....
> ......रसान्तराणि भागाभिनिवेश-दृष्टानि रूप्यन्ते।'[4]

आचार्य भामह ने स्फोटवादी की बात को शपथपूर्वक कहने पर भी माननीय नहीं कहा, क्योंकि 'आकाश कुसुम' है इस पर कौन बुद्धिमान् विश्वास करेगा। (स्फोटवादी आकाश कुसुम, वन्ध्यापुत्र जैसे व्यवहारातीत पदों का भी अर्थ करते हैं, जैसे आकाश का फूल धरती के फूल से अधिक श्रेष्ठ होता है या वन्ध्या सुन्दरी का पुत्र भी कुरूप पुत्रवती नारियों के पुत्रों से कहीं अधिक सुन्दर होता है आदि।) परन्तु वे शब्द को वर्णातिरिक्त,

---

१. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति १।१५
२. ,, ,, ,, १।२।२२-२३
३. ध्वन्यालोक ५।४
४. भरतमुनि नाट्यशास्त्र ६।१५ अभिनवभारती पृ० ४२८-४२६

ध्वनि-व्यंग्य मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि वे शब्द-नित्यत्व के विरोधी नहीं, अपितु अननुभूत शब्दार्थ के विरोधी हैं।

'शपथैरपि चादेयं वचो न स्फोटवादिनाम्,
नभ कुसुममस्तीति श्रद्दध्यात् कः सचेतनः।[1]
स कूटस्थोऽनपायी च नादादन्यश्च कथ्यते,
मन्दाः सांकेतिकानर्थान्मन्यन्ते पारमार्थिकान्।[2]

स्फोट सिद्धान्त मानने में दोष तथा उनका निराकरण

जिन दार्शनिकों ने स्फोट का खण्डन किया है, उन्होंने स्फोट के मानने पर कई दोष प्रदर्शित कर, उसे मानने में गौरव दिखाया है तथा पद, वाक्यगत एकत्व, अर्थबोध को दूसरी तरह से सिद्ध कर स्फोटवाद को अनावश्यक कहा है। संक्षेप में उन सभी के विचारों का उल्लेख कर उनका निराकरण किया जायगा।

(अ) स्फोट की अप्रतीति

सांख्यों का तर्क है कि शब्द, अर्थ का वाच्यवाचक-भाव सम्बन्ध है। पद या वाक्य के रूप को प्राप्त होकर वर्ण-समुदाय ही वाचक होता है, उससे अर्थ का बोध होता है। जो दार्शनिक वर्णों से अतिरिक्त एकात्मक पद को वाचक मानते हैं, जैसे कोई अवयवों को मिलाकर तदतिरिक्त एक घट रूप अवयवी ही जल भरने में उपयोगी होता है, तथैव वर्णों का समुदाय, वर्णातिरिक्त एक पद ही वाचक हो सकता है, वर्ण नहीं। उनकी एकात्मक पद, वाक्य रूप स्फोट कल्पना अप्रामाणिक है। क्योंकि यदि उनकी प्रतीति मानते हो तो जिस आनुपूर्वी-विशिष्ट-वर्ण-समुदाय से स्फोट की अभिव्यक्ति मानी जाती है, उसी को क्यों न अर्थ का प्रत्यायक मान लिया जाय। यदि स्फोट की प्रतीति नहीं मानते तो अज्ञात स्फोट में अर्थ बोधकता भी नहीं हो सकती। ज्ञात वर्ण रूप शब्द को ही वाचक कहा जायगा, अज्ञात स्फोट को नहीं, अतः स्फोट की कल्पना व्यर्थ है।[3]

उत्तर—वैयाकरण-सम्मत-स्फोट-सिद्धान्त अनुमान पर आधारित न होकर प्रत्यक्ष पर आधारित है। न केवल स्फोटवादी, अपितु वर्णवादी

---

१. काव्यालंकार (भामह) ६।१२
२ ६ १४
३ सांख्य सूत्र ५ ५७

दार्शनिक भी वाक्य से ही अर्थ-प्रतीति मानते हैं। यह तर्क नहीं, अपितु अनुभव-सिद्ध है. इसीलिए अर्थ बोध में समर्थ पदों का समूह वाक्य माना जाता है।[१] यदि उसे वर्ण समुदाय मात्र मान लेंगे तो जो बोध नदी से होता है वही दीन से भी होने लगेगा। अतः वर्णों की अव्यवहितोत्तरत्व-विशिष्ट आनुपूर्वी को वाचक मानना पड़ेगा, परन्तु सांख्यों के मत में वर्ण रूप शब्द नित्य माने नहीं जाते तब उनका क्रम कैसे सिद्ध होगा। आनुपूर्वी तो तब होगी, जब सभी वर्ण विद्यमान हों। बोलते समय एक एक कर वर्णों का उच्चारण होता है और उच्चारणान्तर वे उसी क्रम से नष्ट होते जाते हैं। अतः समुदाय की सिद्धि के लिए किसी नित्य आधार को मानना पड़ेगा, अन्यथा अर्थ बोध न होगा। शब्द से अर्थ का बोध ही उसकी वाचकता को सिद्ध करता है। वाचकता बिना समुदाय के हो नहीं सकती और समुदाय बिना स्फोट को माने अर्थ बोधक हो नहीं सकता, अतः स्फोट की मान्यता अनिवार्य है। स्फोट की कल्पना नहीं होती, वरन् वर्ण, पद, वाक्य में एकत्व की प्रतीति से उसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, क्योंकि पद, वाक्य में एकता तभी मानी जायगी जब वर्णों से भिन्न कोई एकत्व संख्या का आधार हो। वाचकता वाक्य रूप शब्द में है, अतः वही (स्फोट रूप) बुद्धिगत एकात्मक वाक्य वाचक होता है, यह विचार समीचीन प्रतीत होता है।

(आ) दृष्ट का त्याग तथा अदृष्ट की कल्पना

भगवान् शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र भाष्य के देवताधिकरण में वैदिक शब्द से सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति मानी है। इसी प्रसंग में उन्होंने पूर्वपक्ष के रूप में स्फोटवाद को उपस्थापित कर भगवान् उपवर्ष के वर्ण रूप शब्द को मान कर स्फोटवाद का खण्डन किया है। उन्होंने कहा है कि स्फोट मानने पर प्रत्यक्ष (दृष्ट) वर्णों की वाचकता का त्याग तथा अदृष्ट स्फोट की कल्पना करनी पड़ती है। उनका यह विचार मीमांसक-मतानुगामी है, अतः मीमांसकों के तर्कों का उल्लेख करने से इनकी भी सहमति सिद्ध हो जायगी। मीमांसकों के विचारों का सार यह है—सुने गये वर्ण रूप शब्दों से अर्थबोध होता है, अतः उनमें ही शक्ति माननी चाहिये। यदि वर्णों की अर्थबोध में शक्ति न होती तब इनसे अतिरिक्त स्फोट माना जाता। न कोई आनुपूर्वी है न अवयवी, क्योंकि वर्ण नित्य हैं, सत्ता के कारण युगपद् मि

---

१ न्या० भा० २।१।५५

सकते हैं, उपलब्धि के द्वारा नहीं। जैसे एक सूत तन ढकने में समर्थ नहीं होता, परन्तु सूतों के समुदाय रूप वस्त्र से वह कार्य सम्पन्न होता है। तथैव वर्ण-समुदाय ही वाचक होता है, अकेला वर्ण नहीं। पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से जन्य संस्कार के सहित अन्तिम वर्ण से अर्थ की प्रतीति होती है। वर्ण प्रत्यक्ष हैं, और प्रत्यक्ष का अपलाप नहीं किया जा सकता। अतएव वर्णों को अर्थ-बोधक मानना चाहिये। 'गौः' इस पद में तथा 'गामानय' इस वाक्य में एकत्व-बुद्धि एकार्थ बोधक होने के कारण हैं। वस्तुतः 'गौः' में एकत्व प्रतीति एक जन्तु विषयक होती है, एक पद विषयक नहीं।[1]

उत्तर—मीमांसकों के विचारों के खण्डन में वैयाकरणों को बड़ी युक्ति करनी पड़ी है, क्योंकि दोनों शब्द को नित्य मानने वाले हैं। मीमांसक अर्थ बोध के प्रकार में ही वैयाकरणों से वैमत्य रखते हैं। इसका मुख्य कारण है कि वैयाकरण अर्थबोधक को शब्द मानते हैं तथा मीमांसक श्रोत्र-ग्राह्य को। यहीं से मत भेद प्रारम्भ होता है। अर्थ का वाचक शब्द वैयाकरण मत में श्रोत्रग्राह्य (कानों से सुनाई पड़ने वाले) ध्वनि रूप शब्द से भिन्न तथा उन्हीं से अभिव्यक्त होता है। श्रोत्रग्राह्य वर्ण रूप शब्द अनित्य हैं, ये केवल अर्थबोध शब्द की अभिव्यक्ति करते हैं। अर्थबोधक शब्द ही स्फोट है।[2] यहाँ मीमांसक इस बात को भूल जाते हैं कि कान से सुनाई पड़ने वाले ध्वनि रूप शब्द अनेक हैं, परन्तु अर्थ-बोधक शब्द एक होता है। इस कारण वाक्यपदीयकार ने दो वाचक शब्द माने हैं—निमित्त एवम् अर्थ बोध की इच्छा से उच्चरित। निमित्त शब्द वक्ता तथा श्रोता के अनुसार भिन्न प्रकार का होता है। वक्ता की बुद्धि में स्थित वाचक शब्द वैखरी रूप उच्चरित शब्द का निमित्त है तथा वही वैखरी शब्द श्रोता की बुद्धि में स्थित वाचक शब्द का निमित्त होता है। इसलिए वैयाकरण एक (वर्ण, पद तथा वाक्य रूप) शब्द को स्फोट मानते हैं।

मीमांसक वर्ण समुदाय में अन्तिम वर्ण को वाचक मानते हैं। उसमें पूर्व वर्ण के अनुभव-जन्य संस्कार सहकारी होते हैं, परन्तु उच्चरित शब्दों का समुदाय मिल कैसे सकता है। सुने गये शब्दों से अर्थ प्रतीति होती ही नहीं, अन्यथा किसी व्यक्ति को सभी भाषाओं के शब्दों को सुनने से अर्थ-प्रतीति होनी चाहिये। अतः श्रोता की बुद्धि में स्थित एक अक्रम शब्द ही अर्थ का

---

१ श्लोक वा० स्फोटवाद तथा उसकी —— टीका

२ श्लोक वा० श्लोक ३६६

प्रत्यायक होता है, उसे उसी से अर्थ प्रतीति होती है, चाहे स्वयं बोले तथा सुने, या दूसरे कहें और सुने। इसीलिए यदि कोई हिन्दी भाषाभाषी मनुष्य है तो उसे उसी भाषा के शब्द की बोधकता का ज्ञान है। अतः ध्वनि रूप शब्दों के एक होने पर भी दूसरी भाषा के वाचक शब्द का ज्ञान न होने से उससे अर्थ प्रतीति नहीं होती है। वैखरी शब्दों की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति के क्रम से ही उनकी आनुपूर्वी मानी जाती है। जैसे वर्ण प्रत्यक्ष है तथैव वाचक शब्द (स्फोट) भी प्रत्यक्ष हैं। क्योंकि जैसे वर्ण सुनाई पड़ते हैं, तथैव अर्थ-बोध का अनुभव होता है। यदि 'गौः' पद में एकार्थ बोधक होने के कारण एकत्व बुद्धि मानते हो तो उसमें शब्दगत एकत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है, क्योंकि अर्थबोध किसी एक वर्ण से न होगा। उनका समुदाय मिल न पायेगा तथा एक वर्ण से अर्थ बोध होगा नहीं, क्योंकि बोधक शब्द एक ही होगा, वही वैयाकरण-सम्मत स्फोट है।

(ङ) पदों की मान्यता

नैयायिक पद को शक्त (बोधक) मानते हैं तथा ऐसे ही पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। वे पदों के यौगिक, योगरूढ, यौगिकरूढ तथा रूढ़ भेद मानकर उनमें ही वाचकता को सुस्थिर मानते हैं। सम्भवतः वैयाकरणो ने इन्हीं नैयायिकों के अभिमत का समन्वय करने के लिए सखण्ड पद स्फोट को माना है। यद्यपि वैयाकरण-सम्मत तो अखण्ड वाक्य स्फोट ही है, क्योंकि निराकांक्ष अर्थ-प्रतीति वाक्य से ही होती है। वाक्य पदों का समूह मात्र नहीं है, अन्यथा गाय, हाथी, पुरुष आदि पद समूह वाक्य हो जायेंगे। इसके लिये नैयायिक आकांक्षा-बोध को भी शाब्द-बोध में कारण मानते हैं। अखण्ड वाक्यवादी को यह नहीं मानना पड़ता। नैयायिक के मत में वर्ण ही एक बुद्धि के विषयीभूत होकर पद तथा वाक्य का स्वरूप धारण करते हैं तथा वे ही वाचक हैं, उससे अतिरिक्त कोई स्फोट नामक शब्द न तो कान से सुनाई पड़ता है, न अर्थ बोध कराने में समर्थ ही होता है।

(ई) वाणी वैखरी मात्र है

मीमांसक वर्णात्मक पद मानते हैं; वर्णों का अवयवी नहीं। क्योंकि 'गौः' के गकार, औकार तथा विसर्ग युगपत् उपलब्ध नहीं रह सकते, अतः उनसे अवयवी कैसे बन सकता है। अतः यही मानना उचित है कि वर्ण ही समुदित होकर पद बनते हैं। जैसे पूरा हवन एक काल में न होकर

अपूर्ववश स्वर्ग-फल का दाता होता है तथैव वर्ण भी मिलकर अन्तिम वर्ण के उच्चारण के अनन्तर अर्थबोध कराते हैं। मीमांसक इसलिए पद को मानते हैं कि उसे न मानने पर पद के आश्रित जो कार्य है, वे न होंगे जैसे--

१-प्रतिनिधि कल्पना—'व्रीहिभिर्यजेत' में व्रीहि (धान) द्वारा यज्ञ का विधान किया गया है, यदि व्रीहि न हो तो उसके स्थान पर उसके सदृश नीवार आदि का प्रयोग कर विधि का पालन करना चाहिए। अखण्ड वाक्य मानने पर व्रीहियाग से नीवार-याग के भिन्न होने से वह अभीष्ट-फलप्रद न होगा।

२-नियत प्रश्न की अनुपपत्ति---स्वामी ने 'वनात् पिकः आनीयताम्' वाक्य द्वारा किसी सेवक को कोयल लाने का आदेश दिया, उसे 'पिक' पद का अर्थ ज्ञान नहीं है तब वह पूछता है 'कः पिकः?' अखण्ड वाक्य मानने पर यह प्रश्न अनुपपन्न होगा।

३-'श्रुति, वाक्य के परस्पर विरोध में श्रुति की प्रबलता' न्याय की असंगति--श्वेतं छागमालभेत' वाक्य में छाग का आलम्भन क्रिया से सम्बन्ध कर्मकारक की श्रुति से साक्षात् कहा गया है, श्वेत गुण का छाग से सामानाधिकरण्यवश वाक्य द्वारा, क्योंकि निर्गुण द्रव्य हो नहीं सकता। श्रुति का सम्बन्ध बलवान् मानने के कारण वाक्य सम्बन्ध दुर्बल हो जाता है। अतः श्वेत छाग न मिलने पर दूसरे रंग के छाग का आलम्भन होता है। अखण्ड वाक्य मानने पर लाल या काले छाग का आलम्भन दूसरी क्रिया हो जाती।

मीमांसा शास्त्र में जिन पदार्थों के ज्ञान से वाक्यार्थ का निश्चय किया जाता है, उन्हें लक्षण कहते हैं, ये लक्षण ही सम्पूर्ण शास्त्रीय लौकिक व्यवहार के कारण है। इनकी संख्या २४ तक मानी गई है, जिनमें ३ का ऊपर उल्लेख किया गया गया है। पद, पदार्थ न मानने पर इन लक्षणों की अनुपपत्ति होगी। वाक्यपदीय में पदवाद का उपसंहार करते हुए कहा गया है—

इतिवाक्येषु ये धर्माः पदार्थोपनिबन्धनाः,
सर्वे ते न प्रकल्पेरन् पदं चेत्स्यादवाचकम्।

पद को वाचक न मानने पर पदार्थ के कारण वाक्यों में जो धर्म (गौण, मुख्य विशेष्य-विशेषण, श्रुति-वाक्य न्याय, प्रतिनिधि-प्रदान इत्यादि है वे नहीं सम्भव हो सकते हैं।) यही कारण है कि वैयाकरणों का एक

सम्प्रदाय पद-स्फोट तथा अखण्ड वाक्य-स्फोट मानता है। अखण्ड वाक्य वाद में उपर्युक्त सभी दोषों का परिमार्जन इस प्रकार किया जा सकता है—वाक्य तथा वाक्यार्थ अखण्ड, अविभक्त है। जैसे निर्विभाग पानक रस (आम का पना) में विश्लेषण बोध की दशा में विभिन्न रसों की कल्पना होती है तथा यह बोध होता है कि इसमें खट्टा, कड़ुवा, कसैला, नमकीन तथा मधुर रसों की स्थिति विशेष मात्रा में है। तथैव वाक्य के काल्पनिक विभाग कर पद, पदार्थ कल्पना में कोई विरोध नहीं है। जैसे पुष्पों की माला तथा चन्दन में एक ही सुगन्धि है, परन्तु गन्ध के आश्रय पुष्प तथा चन्दन के विभाग का आधार लेकर पुष्पगन्ध, चन्दनगन्ध यह व्यवहार होता है, तथैव वाक्य में 'अपोद्धार' के द्वारा पदार्थ भेद हो सकता है। भर्तृहरि ने ऐसे पदार्थ, जो विभाग द्वारा निश्चित होते हैं, उन्हें अपोद्धार पदार्थ कहा है। जैसे 'रामः' में राम का अर्थ दशरथ नन्दन तथा विसर्ग का प्रातिपदिकार्थ, पुंल्लिंग एकवचन।[1] अपोद्धार जब वाक्य में किया जाता है तो उसे प्रकृत्यर्थ-प्रत्ययार्थ-विभाग कहते हैं। इस प्रकार प्रतिनिधि कल्पना तथा श्रुति की प्रबलता उपपन्न हो जायगी। 'बनात् पिकः आनीयताम्।' जैसे संदिग्ध स्थल में सम्पूर्ण वाक्य ही, अज्ञात माना जाना चाहिए। इसी प्रकार 'श्वेतो धावति' में 'श्वेत' यह अखण्ड संश्लिष्ट पद तन्त्र (आवृत्ति) के द्वारा श्वा+इतः—कुत्ता इधर तथा श्वेतः—श्वेतवर्ण पुरुष, दो अर्थों का प्रत्यायक होता है। अतः पदों की मान्यता के बिना ही अखण्ड वाक्यार्थ बोध होगा। पद-पदार्थ सम्बन्धी वैशिष्ट्य उस पक्ष में भी उपपन्न हो जायगा।

(ई) वाणी वैखरी मात्र स्वरूपा है, तद्व्यतिरिक्त परा-पश्यन्ती भेद निर्मूल

वर्णों को अनित्य मानने वाले दार्शनिक, विशेष रूप से नैयायिक वाणी को वैखरी मात्र मानते हैं। उनका विचार है कि वैयाकरण प्रभृति जो वाणी के परा, पश्यन्ती, मध्यमा, तथा वैखरी ये चार रूप मानते है, उनमें से केवल वैखरी ही वाणी है। मध्यमा बुद्धि रूप, पश्यन्ती निर्विकल्पक बुद्धि तथा परा विज्ञान स्वरूप है। यदि बोध (विज्ञान) को वाणी का आश्रय न मिलता तो वह वक्ता से श्रोता तक न पहुँचकर मध्य में ही विलीन हो जाता।[2]

---

१. वाक्य० १।२५

२. न्याय मंजरी, पृ० ३५५

वैशेषिक दर्शन में भी उच्चरित वर्णों को ही अर्थ का वाचक माना गया है। वर्णों के उत्पत्ति-विनाश शाली होने से उनमें ही कालकृत देशकृत क्रम हो सकता है। जैसे जल में एक लहर से दूसरी लहर उत्पन्न होकर तट तक जाती है। तथैव एक शब्द से दूसरा शब्द उत्पन्न होकर श्रोता के कान तक पहुँचता है।[1] महर्षि औदुम्बरायण के 'इन्द्रियनित्यं वचनम्' कथन का भी यही तात्पर्य है कि वाणी केवल इन्द्रिय (जिह्वा) में ही नित्य (स्थिर) रहती है अर्थात् जब तक उसका उच्चारण होता है, तभी तक उसकी नित्यता है।[2]

महाभाष्यकार पतंजलि ने भी 'अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः' कहकर प्रकारान्तर से शब्दानित्यत्ववाद का प्रतिपादन किया है।[3] उपर्युक्त कथन का सीधे शब्दों में यह उत्तर है कि जिसे नैयायिक, वैशेषिक तथा सांख्य वैखरी रूप शब्द कहते हैं, उसे ही स्फोटवादी ध्वनि मानते हैं।

औदुम्बरायण के वाक्यगत इन्द्रिय शब्द का 'बुद्धि' अर्थ है, जैसा कि उसके व्याख्याकारों का उल्लेख मिलता है। महाभाष्यकार ने भी वहाँ ध्वनि को शब्द माना है, वह तो सभी के मत में अनित्य है। अतः नैयायिक प्रभृति दार्शनिकों का कथन स्थूल विचार परक है। स्वयं नैयायिको ने बुद्धि, निर्विकल्पक मति तथा विज्ञान नामों से क्रमशः मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा वाणियों के स्वरूप को माना है। वाणी का चतुर्विध रूप उसके सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर, सूक्ष्म तथा स्थूल रूपों का परिचायक है। यह गहन विवेचन है तथा तर्क गम्य नहीं, वरन् अनुभव गम्य है।

(३) श्रोत्रगृहीत ही शब्द है, तदतिरिक्त में कोई प्रमाण नहीं।

नैयायिक तथा मीमांसक दोनों दार्शनिकों का विचार है कि कान से सुनाई पड़ने वाले वर्ण ही शब्द हैं। नैयायिकों के कथन का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। मीमांसक भी श्रोत्रग्राह्य को ही शब्द मानते हैं 'श्रोत्रग्रहणाः शब्दाः'।[4] श्लोक वार्तिककार का कथन है—श्रोत्र से गृहीत ही शब्द है, अर्थ की प्रतीति करावे अथवा नहीं, परन्तु उसका शब्दत्व तो

१. वैशेषिक दर्शन भाष्य न्यायकंदली, पृ० ६५०-६५७
२. निरुक्त १।१।१
३. म० भा० १।१।१
४ शाबर भाष्य, पृ० १३

रहेगा ही।[1] अतः इसे ही शब्द मानना चाहिए, अर्थ बोधक को नहीं। यदि कान से सुनाई पड़ने वाले प्रत्यक्ष शब्द में अर्थ-बोध कराने की शक्ति न होती तब इससे अतिरिक्त शब्द माना जाता। यदि अर्थ प्रत्यायक को शब्द मानते हों तो अनुमान द्वारा अग्नि की प्रतीति कराने वाले धूम को भी शब्द मानना चाहिए। तथा जिन शब्दों से श्रोता को अर्थ बोध नहीं होता, वे शब्द न कहलायेंगे। अतः अतिव्याप्ति, अव्याप्ति दोष होंगे। लक्षण सदा इन दोषों से मुक्त होता है।

उत्तर—वैयाकरण बोध-प्रक्रिया में दो शब्द मानते हैं। इसका उल्लेख किया जा चुका है। ध्वनि रूप शब्द तो श्रोत्रग्राह्य होता है तथा अर्थ बोधक शब्द उससे अभिव्यक्त होकर अर्थ का बोध कराता है। महाभाष्यकार ने भी अर्थ बोधक तथा प्रत्यायक दो शब्दों को माना है। उन्होंने दोनों का समन्वय करते हुए शब्द की परिभाषा इस प्रकार की है कानों में पहुँचता हुआ, बुद्धि से गृहीत, ध्वनि से अभिव्यक्त होकर अर्थ बोध कराने वाला तथा आकाश देश में स्थित शब्द है। (श्रोत्रोपलब्धिः, बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्ज्वलितः, आकाशदेशः शब्दः।[2]) इस लक्षण से धूम को शब्द नहीं कहा जायगा, क्योंकि धूम कान से नहीं सुना जाता। तथा जिन शब्दों से अर्थ प्रतीति नहीं होती, वे भी ध्वनिरूप शब्द की श्रेणी में आयेंगे, क्योंकि कान से सुने जाते है। बुद्धि उनका ग्रहण तो करती है परन्तु अभ्यास न होने से स्पष्ट बोध नहीं कर पाती। कुछ बोध तो होता ही है। रह गई बात अतिरिक्त शब्द मानने की, उस विषय में तो पूरा शास्त्रार्थ ही है। उस पर आगे के परिच्छेद में विचार होगा।

(ऊ) स्फोट मानने में गौरव

स्फोट को न मानने वाले सभी दार्शनिक स्फोट सिद्धान्त में गौरव दिखाकर कहते हैं कि जब प्रत्यक्ष सुने गये वर्णों से ही अर्थ बोध हो जाता है तब अतिरिक्त स्फोट क्यों माना जाय। स्फोट मानने में दो प्रकार के गौरव होते हैं[3]—

(१) वर्ण द्वारा स्फोट की तथा स्फोट से अर्थ की अभिव्यक्ति, यह बीच की स्फोट-कोटि मानने से कल्पना गौरव।

---

१. श्लोक वार्तिक स्फो० वा० श्लोक ५

२. म० भा० १।१।१ पृ० ७०

३. शांकर भाष्य देवताधिकरण

(२) प्रत्यक्ष का त्याग कर परोक्ष स्फोट की अतिरिक्त कल्पना का गौरव।

इसलिए शबर स्वामी ने कहा है—'स्फोट मानने पर वर्ण तथा स्फोट दोनों को मानना पड़ता है।[1] उसका समाधान यह है कि वर्णों की शक्ति जब अर्थ बोध कराने में समर्थ नहीं होती, क्योंकि अनित्य पक्ष में अर्थबोध पर्यन्त वे रहते ही नहीं, तथा नित्य पक्ष में उनका समुदाय नहीं हो सकता, अतः अनिवार्यतः स्फोट मानना पड़ता है। वर्णों के वाचकत्व का खण्डन पहिले कई स्थलों पर प्रसंगानुसार किया जा चुका है। स्वयं स्फोट विरोधियों में नैयायिक वर्णों को वाचक नहीं मानते। प्रत्युत स्फोट मानने पर ही लाघव है, जैसे—

(१) वर्ण समुदाय के एक होने पर नदी, दीन जरा तथा राज में भिन्न अर्थ-प्रतीति के वारणार्थ आनुपूर्वी को कारण नहीं मानना पड़ता।

(२) वाक्यार्थ बोध में योग्यता, आसक्ति तथा आकांक्षा ज्ञान को कारण नहीं मानना पड़ता। पदार्थ की उपस्थिति में स्फोट रूप वाक्य द्वारा इन सब का ज्ञान हो जाता है, अन्यथा अर्थबोध ही न होता।

(ए) स्फोट की व्यंग्यता में आपत्ति

तार्किक तथा वेदान्तियों की ओर से ध्वनि-व्यंग्य स्फोट में यह आपत्ति उठाई जाती है, कि यदि स्फोट को वर्ण रूप ध्वनियों से व्यंग्य माना जाता है तो उसमें तीन विकल्प ही हो सकते हैं।

(१) 'स्फोट सभी वर्णों से व्यंग्य है।' परन्तु वर्ण तो ध्वनि रूप होने से आशुविनाशी हैं, अतः वे मिल ही नहीं सकते, तब सभी वर्णों से स्फोट कैसे व्यंग्य होगा।

(२) 'स्फोट यत्किंचिद् वर्ण व्यंग्य है।' यह विकल्प भी समुचित नहीं है। पट के 'प' वर्ण से कपड़ा अर्थ की अभिव्यक्ति होने पर 'ट' व्यर्थ हो जायगा।

(३) 'स्फोट चरम वर्ण व्यंग्य है।' ऐसा मानने पर पूर्वपूर्व वर्णानुभव-जन्य संस्कार सहित चरम वर्ण से ही अर्थबोध हो जायगा, तब स्फोट मानने की क्या आवश्यकता है।

---

१ शाबरभाष्य, पृ० १४

वैयाकरण ध्वनि-व्यंग्य स्फोट को मानते हुए उपर्युक्त त्रिविध शंकाओं का समाधान इस प्रकार करते हैं—वर्ण नित्य हैं, उत्पत्ति, विनाश का अर्थ क्रमशः आविर्भाव, तिरोभाव है। अतः उत्पन्नो गकारः, नष्टो गकारः का अर्थ 'ग' का आविर्भाव, उसका तिरोभाव होता है। वर्णों को अनित्य मानने पर भी वर्णानुभवजन्य संस्कार से जन्य स्मृति में उनका मिलना तो सम्भव है जैसा कि तार्किक तथा वेदान्ती मानते हैं। प्रथम वर्ण से भी स्फोट की अभिव्यक्ति मानने पर दूसरे वर्ण सन्देह-निवर्तन में तो सार्थक हो सकते है। जैसे पट के 'प' वर्ण से पट, पथ, पयः इत्यादि स्फोट की अभिव्यक्ति होगी, परन्तु ट उच्चारण से केवल पट स्फोट की ही अभिव्यक्ति होगी, अन्य की नहीं। तृतीय विकल्प में यद्यपि स्फोट की अभिव्यक्ति चरम वर्ण से ही होती है, परन्तु पूर्व वर्ण जन्य संस्कार उनकी निःसंदिग्ध अभिव्यक्ति में सहकारी होते हैं, जैसे द्वितीय विकल्प में अन्तिम वर्ण अभीष्ट अर्थबोध में सहयोग करते हुए माने गये हैं।[१] स्फोट इसलिए माना जाता है कि वही अखण्ड, एक तथा नित्य हो सकता है वर्ण तो उसकी सत्ता में अन्तर्भूत रहते हैं।

(ऐ) समुदित वर्णों में स्वतः वाचकतोपपत्ति

वेदान्त मत में अर्थबोध प्रक्रिया पर विचार करते हुए कहा गया है कि जैसे पंक्ति, वन, सेना, दश, शत इत्यादि में एकबुद्धि विषयता के कारण सहज रूप में एकत्व व्यवहार होता है, तथैव एक बुद्धि के विषयीभूत वर्णों में एकार्थ बोधकता स्वतः हो जाती है। जैसा कि न्याय सूत्र में कहा गया है 'ते विभक्त्यन्ताः पदम्' वर्ण ही विभक्त्यन्त होने पर पद (अर्थबोधक) हो जाते हैं।[२] इसी प्रकार नैयायिक पद-समूह को ही वाक्य मानते हैं। वैयाकरणों का एक यही उत्तर उपर्युक्त तर्क का खण्डन करने के लिए पर्याप्त है कि वर्ण-समुदाय नित्य, अनित्य दोनों पक्षों में उपलब्ध नहीं हो सकता। पूर्वोक्त सभी दृष्टान्त वर्तमान पदार्थों में ही संगत होते हैं, ऐसा नहीं कि कुछ बीती कुछ वर्तमान तथा शेष भविष्य वस्तुभूत इकाइयों को लेकर पंक्ति, वन, सेना आदि व्यवहार हो सके। नित्यपक्ष में यद्यपि वर्णों की सत्ता है, परन्तु उनका समुदाय कैसे होगा। नित्य में अवयव-अवयवी भाव ही कैसे हो सकता है तथा एक बुद्धि विषयता होने पर भी नित्य वर्णों की

---

१. स्फोट चन्द्रिका पृ० ६

२ न्याय सूत्र २ २ ६०

इकाई पृथक् पृथक् ही रहेगी उनमें एकत्व नहीं रह सकेगा। अतः श्रूयमाण शब्दों में अर्थ बोधकता नहीं हो सकती है।

(ओ) वर्ण-ज्ञान बाधा के बिना मिथ्या नहीं हो सकता

यह तर्क भी मीमांसकों का है तथा पूर्वोक्त वाद-विवाद प्रक्रिया में स्फोट खण्डन के प्रमुख दोष के रूप में इसका उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ इस विषय पर चर्चा करनी है कि जब वर्ण ज्ञान बाधित नहीं है तो वह असत्य नहीं हो सकता। स्फोट की मान्यता तभी स्थिर हो सकती है, जब प्रत्यक्ष सुने गये वर्णों द्वारा अर्थ बोध न हो सके। वैयाकरण स्फोट इसी लिए मानते हैं कि सुने गये वर्णों से अर्थबोध नहीं हो सकता, अतः 'देवदत्त मोटा है पर दिन में नहीं खाता' इससे रात्रि भोजन का अनुमान होता है। इसी प्रकार सुने गये वर्णों से अर्थबोध नहीं होता, परन्तु श्रोता कहे गये 'गाय लाओ' वाक्य के अनुसार कार्य करता हुआ देखा जाता है।

प्रश्न यह है कि वर्णों से अर्थबोध कहाँ बाधित है। इसका उत्तर है कि बाधित तो है ही। वक्ता यदि अंग्रेजी में कहे, श्रोता वर्ण सुनेगा ही, परन्तु अर्थबोध नहीं होगा। यदि वक्ता उन वर्णों का प्रयोग करे जिनसे अभिव्यक्त शब्द का श्रोता को ज्ञान है, तब उसे अर्थबोध होगा। तथा वक्ता जिस अर्थ को कहना चाहता है उसके लिए जो वाक्य बोलता है, उसमें कई वर्ण होते हैं। उसका उच्चारण क्रमशः होता है। उच्चरित वर्ण उच्चारण के बाद विलीन होते हुए देखे जाते हैं। श्रोता उन्हें उसी क्रम से सुनता है तथा समझता चलता है एवम् पूर्व अर्थों को त्याग कर नये अर्थ को ग्रहण करता तथा अन्त में समूचे वाक्य का अर्थ समझता है। इसे मीमांसक दृढ़ स्मृति कहते हैं।[1] वही वैयाकरणों का सम्मत स्फोट है। वर्ण की वाचकता में 'देवदत्त गाय लाओ' वाक्य में क्रमशः इतने विकल्प होंगे दे—दो, देव—देवता देवद—देव को देने वाला, देवदत्त—देवता का दिया हुआ, देवदत्त (पुरुष) देवदत्त! गाओ, देवदत्त गाय—विना क्रिया के अर्थबोध नहीं····, इत्यादि। स्फोट वादी को अर्थों के ये त्याग नहीं स्वीकार करने पड़ते।

*

१ शास्त्रदीपिका, पृ० ३८६

नवम परिच्छेद

स्फोट विषयक शास्त्रार्थ तथा वैयाकरण-सिद्धान्त की स्थापना

स्फोट के मुख्य आधार

(क) वर्ण, पद तथा वाक्य में एकत्व की प्रतीति।

(ख) वर्णातिरिक्त पदार्थ में बोधशक्ति की स्थिति।

(ग) अवयव रहित, क्रमहीन नित्य शब्द का पदार्थ के साथ सीधा सम्बन्ध।

(घ) उच्चरित ध्वनि रूप शब्द से अभिव्यक्त शब्द ही बोधक है।

(ङ) वृत्ति विशिष्ट अन्तःकरण की शब्द रूप में अभिव्यक्ति।

(च) शब्दार्थ तादात्म्य।

(छ) ध्वनि शब्द की अभिव्यंजक है।

आगम का समर्थन

स्फोट को न मानने वाले दार्शनिकों द्वारा अर्थ-बोध तथा एकत्व का निर्वाह

(अ) सांख्य (आ) मीमांसक (इ) वेदान्ती (ई) नैयायिक
(उ) वैशेषिक (ऊ) शिवदृष्टिकार (ए) विशिष्टाद्वैतवादी वैष्णव
(ऐ) बौद्ध तथा जैन।

स्फोट विरोधी दार्शनिकों की हठवादिता तथा पारस्परिक राग-द्वेष

वाग्विलास के स्थान पर वाक् प्रहार का प्रचलन

स्वमत की रक्षा के लिए स्फोट-सिद्धान्त का विरोध

पाणिनीय व्याकरण दर्शन में सभी के विचारों को अपनाने की क्षमता

दार्शनिक विद्वानों द्वारा सभी दर्शनों का अवगाहन

अनेक दार्शनिकों की व्याकरण दर्शन में आस्था तथा स्फोटवाद में सहमति

स्फोट सिद्धान्त मन्थन

वैयाकरणों द्वारा शास्त्रार्थ पद्धति से स्फोट का समर्थन

स्फोट के मुख्य आधार

पूर्व परिच्छेदों में प्रसंगानुसार स्फोट के आधारों का उल्लेख किया जा चुका है, उनका यहाँ संक्षिप्त संकलन किया जा रहा है—

(क) वर्ण, पद तथा वाक्य में एकत्व की प्रतीति

'अ' यह एक वर्ण है, 'गौः' यह एक पद है, 'गाम् आनय' यह एक वाक्य है। इन तीनों में एकत्व प्रतीति से यह ज्ञात होता है कि यदि केवल वर्ण-समूह पद तथा पद-समूह वाक्य होता, तो पद व वाक्य में कई वर्ण होते हैं, तब पद तथा वाक्य में एकत्व का व्यवहार न होता। '**शब्दात् अर्थं प्रतिपद्यामहे**' तथा 'एकः **शब्दः सम्यक् ज्ञातः**··· कामधुक्भवति' भाष्य के वाक्यों में एक वचन का ही प्रयोग किया गया है। अतः इस एकत्व का आधार वर्ण-पद-वाक्यातिरिक्त कोई नित्य तत्त्व है, जो उच्चरित प्रध्वसी वर्णों से अभिव्यक्त होकर अर्थ-बोधक होता है, वही स्फोट है।

(ख) वर्णातिरिक्त पदार्थ में बोध-शक्ति की स्थिति

वर्णों की नित्यता, अनित्यता ये दो पक्ष हैं। नित्य-पक्ष में भी उनकी अभिव्यक्ति क्रम से होती है, अतः सभी वर्ण एक साथ नहीं मिल सकते। अनित्य पक्ष में तो उनकी युगपत् स्थिति हो ही नहीं सकती, तब उनसे अर्थ-बोध कैसे होगा। परन्तु वर्णों के सुनने से अर्थबोध होता है, अतः उसके लिये वर्णातिरिक्त वर्ण व्यंग्य दूसरा तत्त्व मानना चाहिए, वही स्फोट है।

(ग) अवयव रहित, क्रमहीन नित्य शब्द का अर्थ के साथ सीधा सम्बन्ध

व्यवहार में देखा जाता है कि वक्ता के द्वारा शब्द का उच्चारण होते ही श्रोता बिना विभाग किये अर्थ बोध करता है। उस समय न तो क्रम की चर्चा होती है, न वर्णों की। शब्द से यह सीधा अर्थ-बोध उसका वर्णों से पृथक् अस्तित्व निर्धारित करने में साधक होता है। यह अर्थ-बोधकता वर्ण, पद, तथा वाक्य इन तीनों में अनुस्यूत है तथा उनमें एकत्व-प्रतीति का माध्यम है।

(घ) उच्चरित ध्वनि रूप शब्द से अभिव्यक्त शब्द ही बोधक है

मीमांसक तथा नैयायिक उच्चरित शब्द को ही अर्थबोधक मानते हैं। अतः वे उसी में बोधकता शक्ति भी मानते हैं, परन्तु उस मान्यता मे उपर्युक्त दो (क, ख) आपत्तियाँ हैं। अत उच्चरित शब्द को अर्थ का वाचक

नहीं माना जा सकता, वरन् इससे अभिव्यक्त वक्ता तथा श्रोता दोनों की बुद्धि में अवस्थित शब्द ही वाचक है, वह शब्द स्फोट है, क्योंकि उससे अर्थ का प्रकाशन होता है।

(ङ) वृत्ति विशिष्ट अन्तःकरण की शब्दरूप में अभिव्यक्ति

पद-पदार्थ का सम्बन्ध-विशेष ही वृत्ति है (अर्थे **वर्तते सम्बन्धोऽनया सम्बन्धव्यवस्तया इति वृत्तिः**, वृत्+क्तिन् प्रत्यय) इस प्रकार शब्द व अर्थ का सम्बन्ध अन्तःकरण में ही होता है, वहाँ दोनों अक्रम तथा एकरूप रहते हैं। दोनों में पृथक्त्व वैखरी वाणी के द्वारा केवल भासित होता है, वस्तुतः है नहीं। अतः अर्थ-वाचकता सूक्ष्म शब्द में ही है, वही स्फोट है। जब उसका स्फुरण होता है, तब श्रोता के कान में वैखरी रूप शब्द पहुँच कर, उसके वृत्तिविशिष्ट अन्तःकरण को अभिव्यक्त कर, अर्थ-प्रतीति मे साधक होता है। वहाँ भी वाचक शब्द वही एक, अक्रम ही है।

(च) शब्दार्थ का तादात्म्य

भेद पूर्वक अभेद-प्रतीति ही तादात्म्य है। बुद्धि से ग्रहण किये गये अर्थ के प्रतिपादन के लिये शब्द का प्रयोग होता है। अतः अर्थ शब्द का निमित्त हुआ। कार्य, कारण में अभेद माना जाता है। शब्द ही अर्थ है तथा अर्थ ही शब्द है, ऐसी प्रतीति को तादात्म्य कहते हैं। शब्द, अर्थ का तादात्म्य स्फोट रूप शब्द तथा अर्थ मानने पर ही सम्भव है। वैखरी रूप 'घट' शब्द से स्थूल रूप घड़ा एकदम भिन्न है, वहाँ कैसे तादात्म्य होगा। परन्तु बुद्धिस्थ शब्द से बुद्धिस्थ अर्थ व्यवहार में भिन्न होते हुये भी अभिन्न है।

(छ) ध्वनि शब्द की अभिव्यंजक

नैयायिक ध्वनि को ही शब्द मानते हैं, उनके मत में वाणी वैखरी रूप ही है, परा-पश्यन्ती तथा मध्यमा, तीनों भेद निर्मूल हैं। मीमांसक ध्वनि को वायु का गुण मानकर वैखरी शब्द को नित्य, विभु सिद्ध करते हैं। विचार करने पर ये दोनों विचार स्थूल दृष्टि के सूचक हैं क्योंकि शब्द ध्वनि रूप में आने के पूर्व वक्ता की बुद्धि में रहता है, अतः उसे ध्वनि रूप नहीं कहा जा सकता। सुना गया शब्द नित्य, विभु हो नहीं सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष ही उसका विनाश होता है, एवं कम या अधिक क्षेत्र तक ही वह सुनाई पड़ता है। ध्वनि के क्रम, ह्रस्व आदि मात्रायें स्फोट में आरोपित भले हों, उसमे वस्तुत नहीं रहतीं

आगम का समर्थन

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि स्फोट-सिद्धिकारों ने स्फोट-सिद्धान्त के समर्थन में वेद मन्त्रों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है। महाभाष्यकार ने पस्पशाह्निक में **चत्वारि वाक्**…… तथा '**उत त्वः**……' ऋचाओं को उद्धृत किया है। आचार्य भरतमिश्र तथा स्फोट-सिद्धि-न्याय-विचारकर्ता ने 'उतत्वः………' ऋचा की महाभाष्य सम्मत विशद व्याख्या द्वारा इस प्रकार स्फोट-सिद्धि की है—

> **उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचम् उतत्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।**
> **उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥**[1]

ये सरित्-समुद्र-शैल-क्षेत्र-वन-घट-पट वाणी के विवर्त हैं। उनके रूप में वाणी को देखता हुआ भी कोई अज्ञानी असंस्कृत पुरुष 'यह पृथ्वी, यह पर्वत, यह नदी है ऐसा भ्रम करता हुआ यह समझता है कि मैं वाणी को नहीं देखता, बल्कि उससे भिन्न पृथ्वी आदि को देखता हूँ।

यद्यपि पदार्थ मात्र वाणी के विवर्त हैं तथा प्राणी स्वतः वाणी का ही दर्शन करता है, परन्तु वाक्तत्त्व के अज्ञान से वस्तुतः उसे नहीं देख पाता। जैसे सर्प के आकार में स्थित रज्जु को देखता हुआ भी कोई पुरुष सर्प की भ्रान्ति होने के कारण रज्जु को रज्जु के रूप में न जानता हुआ परिणामतः उसे नहीं देख पाता, इसी तरह वाणी को वाणी रूप में नहीं देखता, बल्कि उसके विवर्तों के रूप में देखता है। तथा जैसे कोई पुरुष शीघ्र ही अर्थ को प्रकट करने वाली, पूर्व ध्वनि जनित अस्फुट ज्ञान संस्कार सहकृत उत्तरवर्ती ध्वनियों से उसी क्रम में स्फोट भाव को प्राप्त एक पद, एक वाक्य, महावाक्य इत्यादि रूप में वाणी को सुनता हुआ भी भ्रम से व्यंजक ध्वनियों के भेद, क्रम तथा अवयवों का आरोप कर व्यवहार की उपयोगिता से वाणी को वर्ण रूपिणी कहने वाले महर्षि उपवर्ष के मत को स्वतः न जानता हुआ उसे वर्ण रूप ही जानता है। फलतः उसे नहीं सुनता।

वाणी स्वयं शब्दशास्त्रादि के से ज्ञान उत्पन्न संस्कारशाली, योगाभ्यास से विशुद्ध अन्तःकरण वाले आत्मज्ञ महात्मा के प्रति व्यंजकगत तत्त्व बुद्धि

---

१ ऋग्वेद १०।१२५

के अपनयन के द्वारा, स्वविवर्त रूप वर्णादि भ्रम से समाच्छादित आत्मीय तात्त्विक तनु को विवृत करती है। जैसे कोई ऋतुस्नाता अंगना, रज से लिप्त, गन्दे पूर्ववस्त्र का परित्याग कर, मनोहर द्वितीय वस्त्र पहन कर, प्रणय के उत्कर्ष-क्रम से लज्जा रहित होकर, धीरे-धीरे उस वस्त्र के भी खिसकने पर, अत्यधिक कामाकुल, रमणाभिलाषिणी होकर, अपने सम्पूर्ण शरीर को स्पष्ट रूप से पति के प्रति प्रकट कर देती है। तथैव यह वाणी शब्द-शास्त्र (व्याकरण) रूपी महातीर्थ में स्नान से पूत, अपशब्द रूपी दुष्ट वस्त्र के आच्छादन को हटा देने से कमनीय, प्रयोगार्ह सद्वर्ण-पद-वाक्य स्वरूप शोभन वस्त्र से युक्त होकर, योगाभ्यास रूपी प्रेम से अज्ञान रूप लज्जा का परित्याग कर, वर्णाकार विपर्यास रूप बसन के धीरे-धीरे हट जाने से, विद्वान् के सम्मुख अपने तात्त्विक शब्द (स्फोट) रूप शरीर को विवृत कर देती है।[1]

इस मन्त्र में 'पश्यन् न ददर्श' से वाणी को चक्षु से ग्राह्य कहा गया है। वह इस दृश्यमान जगत् को वाणी का विवर्त माने बिना नहीं सिद्ध होता। इसी प्रकार 'शृण्वन् ...... न शृणोति, से एक ही श्रुत वस्तु में सुनने, न सुनने, का उल्लेख किया गया है, वह वाणी के वर्णाकार तथा वर्णातिरिक्त दो रूपों को प्रकट करता है। अर्थात् सभी साधारण श्रोताओं के समक्ष वाणी का वर्णरूप शरीर स्पष्ट होता है, परन्तु विशिष्ट विद्वानों के आगे उसका वास्तविक (वाचक) रूप स्फुट होता है। वही वाक्तत्त्व है। जैसा कि महाभाष्यकार ने कहा है—'वाङ्नो विवृणुयादात्मानमित्यध्येयं

---

१. इस सन्दर्भ में स्फोटसिद्धिन्याय विचार की निम्नलिखित कारिकायें द्रष्टव्य हैं—

> ......तद्वदियं वाणी शाब्दिकाय महात्मने ॥२३२
> शब्द शास्त्र महातीर्थ स्नान पूता शुभा सती।
> अपनीताऽपशब्दाख्य-दुष्टाच्छादनबन्धुरा ॥२३३
> प्रयोगार्ह-सद्वर्णशोभना-च्छादनाञ्चिता ।
> योगाभ्यासमयप्रेमश्लथदाऽज्ञमयत्रपा ॥२३४
> वर्णाकार विपर्यास वसनेऽपि शनैः शनैः ।
> असमाने परामेकां तनूं विवृणुते निजाम् ।२३५

व्याकरणम् ।'[1] (वाणी हमारे (वैयाकरण के) समक्ष अपने दिव्य-स्वरूप को प्रकट करे, इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिए।)

स्फोट को न मानने वाले दार्शनिकों के द्वारा अर्थ-बोध तथा एकत्व का निर्वाह

जो दार्शनिक स्फोट को नहीं मानते हैं, वे उसके मुख्य आधारभूत सिद्धान्तों का प्रकारान्तर से निर्वाह करते हुए स्फोट के मुख्य प्रतिपाद्य अर्थ-बोध की सिद्धि करते हैं। षष्ठ परिच्छेद में इन दार्शनिकों के मुख्य विचारों का उल्लेख किया जा चुका है। इस अध्याय में इस विषय पर विचार किया जायगा कि ये दार्शनिक कैसे अर्थ बोध करते तथा वर्ण, पद तथा वाक्य में एकत्व-प्रतीति का निर्वाह करते हैं। स्फोट सिद्धान्त के उपर्युक्त आधारों में दो मुख्य हैं—

प्रथम) एकत्व प्रतीति

स एवायं गकारः (यह वही गकार है, जो गौः, गमन, गर्दभ, गीत में सुनाई पड़ता है।) इस प्रतीति से ग नित्य, एक माना जाता है, अतः इसका आश्रय कोई नित्य निरवयव एक पदार्थ होना चाहिए तथा इदम् एकम् पदम्, इदम् एकं वाक्यम् में एकत्व प्रतीति का आश्रय वर्ण नहीं हो सकते, क्योंकि वे अनेक हैं। इस एकत्व प्रतीति का आधार नित्य स्फोट शब्द है।

(द्वितीय) अर्थ बोध

यह भी सुने गये वर्णों से जिस प्रकार नहीं हो सकता, इसका निरूपण किया जा चुका है। इन दोनों का निर्वाह स्फोट विरोधी दार्शनिक करते हैं। क्रमशः उनके विचारों का उल्लेख किया जा रहा है—

(अ) सांख्य

सांख्य मतावलम्बी शब्द को अनित्य मानते हैं, क्योंकि यह प्रतीति होती है कि गकार शब्द उत्पन्न हुआ, गकार नष्ट हो गया। यह वही गकार है या सभी गकार एक हैं, ऐसी प्रतीति तो तज्जातिविषयक है। गत्व जाति की एकता से वर्णों में एकत्व प्रतीति होती है। शब्द, अर्थ का वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध स्वतः होने से शब्द से अर्थ प्रतीति होती है।[2]

---

१ म० भा० पस्पशा०, पृ ३४

२ सांख्य सूत्र (भाष्य सहित) ५।३७, ५।५८

(आ) मीमांसक

मीमांसक श्रोत्रग्राह्य को शब्द मानते हैं तथा उसी को अर्थ बोधक सिद्ध करते हैं। शब्दत्व या कत्व जाति न मानते हुए भी ये वर्ण को नित्य, विभु तथा एक मानते हैं। इनके विचार में ग ध्वनियां अनेक हैं, परन्तु ग वर्ण एक है। ध्वन्यात्मक वायु ही वर्णों को अभिव्यक्त करता हुआ उससे उपश्लिष्ट सा प्रतीत होता है।[१] समुदित वर्ण ही पद, वाक्य के रूप में अर्थ के बोधक होते हैं। वे प्रत्यक्ष हैं।[२] अर्थबोध में क्रम से गृहीत वर्णों से उत्पन्न सस्कार के साथ अन्तिम वर्ण की युगपत् स्थिति को कारण मानना चाहिए। नष्ट, विद्यमान ध्वनि रूप वर्णों की यह युगपत् स्थिति चित्र रूप बुद्धि मे होती है। अर्थात् वर्तमान बुद्धि तो अन्तिम वर्ण का आधार है तथा जो अतीत वर्ण हैं, उनका आधार स्मृति रूप बुद्धि है। इन दोनों को मिलाकर एक सदसद्-वर्ण-गोचरा चित्ररूप बुद्धि होती है, वही वर्णों का आधार-भूत है, जिसमें स्थित वर्ण अर्थ बोध में समर्थ होते हैं। 'गौः' इत्यादि पदो तथा 'गामानय' इत्यादि वाक्यों में एकत्व बुद्धि एक बुद्धि विषयक या एकार्थक होने के कारण है।

अतः वर्ण, पद, वाक्य स्फोट के व्यंजक नहीं, वरन् अर्थ के बोधक है। अदृष्ट, अप्रसिद्ध स्फोट की कल्पना, वर्णों से अतिरिक्त रूप में उसकी मान्यता तथा उससे अर्थबोध का स्वीकार, ये सभी विचार व्यर्थ हैं।

(इ) वेदान्ती

वेदान्त सूत्र भाष्य (देवताधिकरण) में भगवान् शंकराचार्य ने स्फोटवाद के खण्डन में प्रायः मीमांसकों का ही अनुसरण किया है, उनका प्रारम्भ ही उपवर्ष के 'गकारौकारविसर्जनीयाः शब्दः' कथन से होता है। उनका कथन है कि—'गौः' पद तथा 'गाम् आनय' वाक्य में अनेक वर्ण होने पर भी एकत्व-प्रतीति, एकार्थ बोधक सम्बन्ध से औपचारिक है, वास्तविक नहीं। इससे नदी, दीन में एकार्थ बोध न होगा, क्योंकि जैसे क्रमानुसार चींटियों के चलने पर ही उन्हें पंक्ति कहा जाता है तथैव क्रमानुसार वर्ण ही पदबुद्धि में आरूढ़ होते हैं। वर्णों के एक होने पर भी, क्रम-विशेष से ही पद-विशेष की प्रतीति होती है। अतः अर्थबोध में पद रूप क्रम से समुदित वर्ण ही निमित्त होते हैं।

---

१. न्यायरत्नाकर टीका (स्फोटवाद), पृ० ५१६

२. शाबर भाष्य, पृ० ११

(ई) नैयायिक

नैयायिक यद्यपि पद को वाचक मानते हैं, परन्तु उनके मत में वर्ण-समूह की ही पद संज्ञा तथा ऐसे पद-समूह की वाक्य संज्ञा है। जैसे खण्ड-खण्ड कर समूचा श्लोक रटा जाता है, क्रम से सम्पादित की जाने वाली अवान्तर क्रियायें (आग जलाना, चूल्हे पर बटलोई रखना इत्यादि) पाक क्रिया की पूर्ति करती हैं या एक-एक ग्रास कर खाने से तृप्ति होती है, तथैव क्रमवर्ती वर्ण भी अर्थ बोधक होते हैं केवल ध्वनि रूप ही वर्ण से अर्थ-बोध होता है, जहाँ सूक्ष्म उच्चारण होता है या जहाँ वक्ता के अति-शीघ्र उच्चारण से वर्ण-विभाग स्पष्ट नहीं होता, वहाँ अर्थबोध नहीं होता। **'शब्दादर्थम् प्रतिपद्यामहे'** वाक्य में 'शब्द' का अर्थ वर्ण-समुदाय है, इसी कारण 'शब्दात्' में एकवचन है। व्यवहार में भी कोई मनुष्य वर्ण-समुदाय को स्फोट नहीं कहता। वाक्य में पद तथा पद में वर्ण स्पष्ट ही प्रतिभासित होते हैं, उनको मिथ्या कहना उचित नहीं है। यदि पद मिथ्या है तथा पदान्तर्गत प्रकृति-प्रत्यय भी मिथ्या हैं तो पद-सिद्धि के लिए वैयाकरण-सम्प्रदाय में इतना प्रयत्न क्यों किया जाता है।[1]

(उ) वैशेषिक

ये भी वर्णानित्यत्ववादी हैं तथा नैयायिकों की तरह ही अर्थबोध मानते हैं। ये भी **'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे'** में एक वचन को वर्ण-समुदाय-परक मानकर, वर्णों को ही अन्वय-व्यतिरेक से अर्थ बोधक मानते हैं। स्फोट का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है न दूसरे उपायों से, अतः आकाश-कुसुम की तरह सर्वथा स्फोट की कल्पना अनुचित है। जो स्फोट मानते हैं, उन्हें स्फोट कल्पना तथा उससे अर्थ बोध कल्पना, ये दो कल्पनायें करनी पड़ती हैं। वर्णवादियों को वर्णविषयक संस्कार में अर्थविषयक बोध के सामर्थ्य रूप धर्म की एक कल्पना करनी पड़ती है। अतः लाघव की दृष्टि से भी वर्णों से ही उनके संस्कार रूप व्यापार द्वारा अर्थ-बोध सम्भव होने से स्फोट की कल्पना अयुक्त है।[2]

(ऊ) शिवदृष्टिकार

शिवदृष्टिकार सोमानन्दनाथ द्वैत शैवों में मुख्य हैं। इन्होंने परा-पश्यन्ती रूप शब्द-नित्यत्व का खण्डन कर शब्द को अनित्य सिद्ध किया

---

१. न्यायमंजरी, पृ० ३४४-३५०

२ वैशेषिक दर्शन सवमित प्रशस्त पादभाष्य, पृ० ६६०-६६७

है। ये शब्द को इसलिए नित्य नहीं मानते कि नित्य पक्ष में आप्त प्रणीत न होने से वह प्रमाण न होगा तथा नित्य स्फोट असत्य वर्णों से व्यक्त ही कैसे हो सकता है। नादरूप सूक्ष्म शब्द तो शिवरूप है, ध्वनिरूप वाणी नहीं। अर्थबोध प्रकार में इनकी पद्धति नैयायिक जैसी है, क्योंकि इन्होंने भी उच्चरित शब्द को ही अर्थ का प्रत्यायक तथा व्यवहारोपयोगी कहा है।[1]

(ए) विशिष्टाद्वैतवादी वैष्णव

श्री वेंकटनाथ देशिक द्वारा प्रणीत विशिष्टाद्वैतवाद प्रतिपादक ग्रन्थ 'तत्त्वमुक्ताकलाप' के बुद्धि सर में अर्थ बोध पर विचार के प्रसंग में स्फोट का खण्डन किया गया है, इनके संक्षिप्त विचार इस प्रकार हैं—वर्ण ही समुदित पद के रूप में वाचक होते हैं। 'शब्दात् अर्थम् प्रतीम:' में एक वचन समुदाय को मानकर किया गया है। अर्थबोध में बोधक सामग्री कारण होती है, वह वर्ण समूह रूप ही है, तदतिरिक्त नहीं। जिन वर्णों से व्यंग्य स्फोट की कल्पना की जाती है, उन्हीं को क्यों न वाचक मान लिया जाय। यह एक विचित्र बात है कि जिन वर्णों से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है, वे ही स्फोट में काल्पनिक माने जायँ। वर्णातिरिक्त कोई शब्द ब्रह्म रूप स्फोट नहीं है, प्रत्युत श्रोत्र ग्राह्य वर्ण ही शब्द है। वेद में ऋषियों ने जो 'वाग्वै ब्रह्म' कहा है वह सूक्ष्म-शब्दविषयक है। ऐसी सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त शब्द अर्थ बोधक नहीं होता, क्योंकि केवल सत्ता से ही शब्द अर्थ बोधक नहीं होता तथा सूक्ष्म शब्द की उपलब्धि नहीं होती है। महाभारत में 'स्फोटस्त्वं वर्णजुष्ट:' कथन का अभिप्राय है कि अर्थ का स्फोटक=प्रकाशक होने के कारण वर्णों की शक्ति ही स्फोट है, उसी शक्ति से अर्थ अभिव्यक्त होता है। अतः हमारे मत में स्फोट का अर्थ अर्थबोधक शब्द-शक्ति है।[2]

---

1. शिवदृष्टि द्वितीय आह्निक
2. तत्त्वमुक्ताकलाप (बुद्धिसर) ४-८७-८८, पृ० ५२३-५३७

'न ह्यस्मै: केऽपि वर्णाश्रयविकमिह विदुर्वाचकं सावधाना: ;
शब्दादर्थम् प्रतीमस्त्विति च जनवचो नैकमन्यद् व्यनक्ति।
सामग्र्यैक्यादिनीत्या भवति मतिरियं तादृशे वर्णसंघे,
संभेदे वा पदानामिति न तदधिक: कोऽपि शब्दोऽपरोक्ष:।

(ऐ) बौद्ध तथा जैन

बौद्ध दार्शनिकों में विज्ञान वादी बौद्ध आन्तर विज्ञान की ही शब्द तथा अर्थ के रूप में परिणति स्वीकार करते हुये, आन्तर-स्फोटवादी के समकक्ष आते हैं। परन्तु ये बाह्य शब्द तथा बाह्य अर्थ को नहीं मानते, क्योंकि उस पक्ष में वर्ण, पद, वाक्य, आकृति (जाति) तथा व्यक्ति आदि ऐसे विकल्पों की सम्भावनायें उद्भूत होती है, जिनका समाधान नहीं हो पाता। ये शब्द तथा अर्थ का कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध मानते हैं। इसका खण्डन सौत्रान्तिक बौद्धों के द्वारा इस प्रकार किया गया है कि, ज्ञान निर्विषय, निरालम्ब नहीं होता। अतः बिना बाह्य पदार्थ को माने विज्ञान को उसके रूप का परिणाम कैसे स्वीकार किया जा सकता है। साथ ही शब्द, अर्थ का कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि विश्व की भाषाओं में अनेक शब्दों का अनेक विभिन्न अर्थों के साथ बोध्य-बोधक भाव केवल व्यवहार में देखा जाता है तथा वह परिवर्तनशील होता है, इसलिये नित्य सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। बौद्ध सभी पदार्थों को क्षणिक मानते हैं, अतः शब्द को नित्य मानने पर उनका सिद्धान्त ही भग्न हो जाता है।[1] जैन शब्द तत्त्व को परमाणु का परिणाम मानते हुये उसमें महत्त्व तथा अल्पत्व की प्रतीति को स्वीकार कर, शब्द के सामान्य, विशेष दो रूप मानते हैं। इसीलिये शब्द के वर्ण, पद, वाक्य, तीव्र, मन्द, उदात्त-अनुदात्त-स्वरित आदि कई भेद होते हैं। सामान्य शब्द जाति रूप नित्य है तथा विशेष शब्द अनेक विध तथा अनित्य है।[2] ये दोनों दार्शनिक स्फोट को नहीं मानते हैं।

यादृग्भिः स्फोटधीस्ते तदपि खलु तैरर्थधीरेव वर्ण—
र्वर्णैर्व्यक्तो विकल्पः समगतिकमयोर्यौगपद्यक्रमादि ।
वाक्यस्फोटेऽपि तुल्यं तदिदमिह पदैरक्षरैर्वाविगम्ये,
स्फोटे तद्बुद्धिबोध्ये सति न च घटते तत्त्वऽध्यासक्लृप्तिः ।
शब्दो ब्रह्मेति तत्तन्मुनिभिरभिदधे स ह्यविद्भेव इष्टः ,
सूक्ष्माकारस्तु सोऽर्थं न गमयति यतः सत्तया नैव हेतुः ।
'स्फोटस्त्वं वर्णजुष्टस्त्विति' यदभिहितं 'भारते' सापि शक्ति—
र्वर्णानां स्यात्तथार्थः स्फुट इति घटते स्फोट शब्दोऽपि तस्याम् ।।

१. स्फोट दर्शन, पृ० २०१-२०२
२ ,, ,, पृ० १३२

स्फोट विरोधी दार्शनिकों की हठवादिता तथा पारस्परिक रागद्वेष

उपर्युक्त दार्शनिक-सरणि में स्फोट विरोधी विचारकों को मुख्य रूप से तीन वर्गों में इस प्रकार विभक्त किया जा सकता है—

(१) वर्णानित्यत्ववादी (सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक)
(२) वर्णनित्यत्ववादी (मीमांसक, वेदान्ती)
(३) केवल स्फोट विरोधी (द्वैत, शैव, विशिष्टाद्वैतवादी)

जैसा कि इन दार्शनिकों के स्फोट विरोधी विचारों से पता चलता है कि विचार प्रक्रिया में स्वतन्त्र अनुभव को कम, रूखे तर्क को अधिक महत्त्व दिया गया है। उभयपक्षीय लेखों से पता चलता है कि मूलभूत तत्त्वों में ही पर्याप्त मतभेद है। इनको निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है—

वैयाकरण सम्प्रदाय	स्फोट-विरोधी दार्शनिक वर्ग
१. अर्थ वाचक 'शब्द' है।	श्रोत्रगृहीत 'शब्द' है।
२. शब्द (अर्थबोधक) नित्य है।	मीमांसक मत में वर्ण-रूप शब्द नित्य है। नैयायिक मत में वर्ण रूप शब्द अनित्य है।
३. ध्वनि व्यंग्य स्फोट वाचक है।	समुदित वर्ण ही वाचक हैं।
४. स्फोट प्रत्यक्ष प्रतीत होता है।	स्फोट अप्रतीत, अदृष्ट है।
५ स्फोट कल्पना में लाघव है।	स्फोट कल्पना में गौरव है।
६. स्फोट रूप शब्द, अक्रम तथा अनवयव है।	समुदित वर्णों में एकार्थ बोधकता होने से एकत्व प्रतीति होती है।
७. स्फोट ब्रह्म स्वरूप है, समस्त अर्थ रूप जगत् उसका विवर्त है।	ध्वनि रूप वाणी के अतिरिक्त उसका कोई रूप नहीं है (शब्दानित्यत्ववादी)
८. वाणी के परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी चार भेद हैं।	वक्ता के मुख से उच्चरित वैखरी रूप ही वाणी है। चार भेद उसकी उत्पत्ति के क्रमानुसार कल्पित हैं वास्तविक नहीं।
९. अखण्ड स्फोट में वर्ण, पद तथा वाक्य काल्पनिक हैं।	वर्ण, पद तथा वाक्य की कल्पना नही वरन् वे सत्य हैं।
१०. वर्ण समुदाय की अनुपलब्धि से स्फोट रूप नित्य शब्द तत्त्व मानना अनिवार्य है	बुद्धि में वर्ण समुदाय की उपलब्धि सम्भव है।

इन दार्शनिकों के ग्रन्थों से यह भी ज्ञात होता है कि विरोध की भावना बहुत काल से चली आ रही है। वैयाकरण भर्तृहरि ने लिखा है—महाभाष्यकार ने अपने महाभाष्य में सभी आगमों के विचारों का बीज रूप में उल्लेख किया है। मन्दमति, अल्पज्ञ विचारकों की बुद्धि का प्रवेश वहाँ तक नहीं होता। अतः केवल शुष्क तर्क के द्वारा वस्तु का निर्णय करने वाले दार्शनिकों (वैजि-सौभव-हर्यक्ष इत्यादि) ने इस आर्ष ग्रन्थ के सिद्धान्तों का खण्डन कर वैयाकरण-सम्प्रदाय के सम्मत विचारों का उत्तर भारत से उन्मूलन ही कर दिया तथा व्याकरणागम केवल दक्षिण दिशा में बचा ही रह गया परन्तु अध्ययनाध्यापन की परम्परा विलुप्तप्राय हो गई।[१]

स्फोटसिद्धिकार मण्डन मिश्र ने 'स्फोट-सिद्धि' ग्रन्थ लिखने का प्रयोजन निर्देश करते हुये कहा है—'दुर्विदग्धों (कुमारिल भट्ट आदि) ने व्याकरण सम्मत विचारों को आगम विरुद्ध कहकर उनकी अवहेलना की है। अतः इस ग्रन्थ में आगमानुसारी विचारों का उल्लेख स्वबुद्धि के अनुरूप किया जा रहा है।'[२] इसी प्रकार स्फोट सिद्धि की समाप्ति पर उनका कथन है—जो अविद्या के कारण वरमुनिमत (पाणिनीय सिद्धान्त) को नही जानते तथा तर्काभास उपस्थित कर उसका खण्डन करते हैं, उनके अज्ञान को मिटाने के लिए, स्पष्ट न्याय (सरलतम सुग्राह्य विचार) से पूर्ण सन्देह-रहित 'स्फोटसिद्धि' की रचना की गई है।[३] दूसरे स्फोटसिद्धिकार भरत मिश्र का भी ऐसा ही कथन है—'स्फोट की मान्यता के प्रमुख आधार एकत्व-प्रतीति तथा अर्थबोध-कारणत्व को वर्ण समुदायगत मानकर उपवर्ष आचार्य के 'गकार-औकार-विसर्ग ही शब्द हैं' कथन को प्रस्तुत करते हुये मीमांसकों ने एक, अभिन्न तथा अखण्ड स्फोट को अमान्य कर दिया है।'[४] अन्त में उन्होंने भी यह कहकर कि, 'आचार्य उपवर्ष ने मीमांसोपयोगी व्यावहारिक शब्द का निरूपण किया है, पारमार्थिक का नहीं। सभी ऋषियों के कथन में तात्त्विक विरोध नहीं है। उनके व्याख्याता ही विरोधी भावार्थ निकाल कर मूलभुत सिद्धान्तों का अपलाप करते हैं' आचार्यों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है।[५]

---

१. वा० प० २।४८५-४८२
२. स्फोट सिद्धि (मण्डन) श्लोक २
३. ,, ,, ,, ३७
४. ,, (भरत) ,, पृ० १
५. ,, ,, पृ० २८

वैयाकरण भूषण के रचयिता कौण्डभट्ट ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में कहा है—कि 'गौतम (न्याय सूत्रकार) तथा जैमिनि (मीमासा सूत्रकार) के सूत्र रूप वचनों के व्याख्याताओं ने पाणिनीय सिद्धान्तों को दूषित कर दिया है। हम उनका खण्डन कर उपपत्तियों द्वारा अपने (पाणिनीय) सिद्धान्तो का समर्थन कर रहे हैं।[1] इसी प्रकार स्फोट को न मानने वाले विचारको ने भी अपने ग्रंथों में वैयाकरण मत का उपहास किया है—न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने स्फोट को 'विधिहत' (अभागा) कहकर इसे अर्थबोध करने में अशक्त बताया हैं।[2] इन्होंने व्याकरण शास्त्र की बड़ी निन्दा की है। उनके कतिपय विचारों का उल्लेख करना यहां पर समीचीन होगा।[3]

(१) भर्तृहरि ने जो कहा है कि व्याकरण के बिना शब्दों का तत्त्वावबोध नहीं होता। उसके स्थान पर कहना चाहिए, श्रोत्रेन्द्रिय के बिना शब्दों का तत्त्वावबोध नहीं होता। **'तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति श्रोत्रेन्द्रियादृते।'**

(२) व्याकरणाध्ययन रूपी महाव्रत का अनुष्ठान केवल क्लेशप्रद होता है। **'क्लेशायैव व्याकरणाध्ययन-महाव्रतग्रहणम्।**

(३) जो शनि, राहु, केतु जैसे दुष्ट ग्रहों के कोप का भाजन हो गया हो, जिसे राजदण्ड का भय हो या जिसे माता-पिता ने शाप दिया हो, वही मनुष्य व्याकरण में श्रम करे।

'दुष्टग्रहगृहीतो वा भीतो वा राजदण्डतः,
पितृभ्यामभिशप्तो वा कुर्यात् व्याकरणे श्रमम्।'

मीमांसक-शिरोमणि कुमारिलभट्ट ने वैयाकरणों की स्फोट कल्पना को इस तरह बताया है, जैसे कोई प्यासा मृगतृष्णा को ही जल समझकर भूला-भटका करता है, तथैव वैयाकरण दृष्ट वर्णों के बोधकत्व का परित्याग कर अदृष्ट स्फोट के अन्वेषण में लगे रहते हैं। एक स्थल पर उन्होंने स्फोट को बकरी के गले में लटकते हुए स्तन की तरह निरर्थक कहा है। उसका उत्तर भी वैसे ही तीखे शब्दों में दिया गया है।[4] श्लोक वार्तिक में

१. वै० भू० सा० मंगलाचरण श्लोक १
२. न्यायमंजरी स्फोट निराकरणोपसंहार
३. ,, ,, पृ० ३८५-३८६
४ स्फोट सि० न्या० वि० श्लोक १७ ७०

वैयाकरण सम्मत स्फोट को उनका भ्रम बताया गया है।[1] आलंकारिकों ने यद्यपि स्फोट का समर्थन किया है, परन्तु आचार्य भामह ने स्फोट तथा स्फोट वादी वैयाकरणों के कथन को अविश्वसनीय कहा है। अष्टम परिच्छेद में इनके विचारों का उल्लेख किया जा चुका है। शिवदृष्टिकार ने वैयाकरणों को साधु (भोलाभाला, बुद्धू) कह कर उनके विचारों का उपहास किया है।[2] उपर्युक्त कटूक्तियों से पता चलता है कि परवर्ती दार्शनिक अपने हठ की रक्षा के लिए प्रबल तर्क उपस्थित करते हुए पर-पक्षी के विचारों का बड़े कड़े शब्दों में अपलाप करते थे।

वाग्विलास के स्थान पर वाक् प्रहार का प्रचलन

महर्षि पतंजलि के पूर्व उपवर्ष, औदुम्बरायण, स्फोटायन, यास्क, पाणिनि प्रभृति आचार्यों ने अपने गाढ़ अध्ययन द्वारा तत्त्वों का अवगाहन कर जिन सिद्धान्तों को स्थापित किया, वे उच्चकोटि के वाग्विलास के रूप में प्रादुर्भूत हुए। प्रत्येक दार्शनिक ने अपनी अनुभूति के बल पर सुविचारित तत्त्वों को निर्णीत किया। न उसके विचार में कोई प्रतिपक्षी बनकर आया न कोई सिद्धांती। उसने अपने विचारों को भाषा का रूप दिया। परन्तु उसकी शिष्य-परम्परा के सामने वे विचार तर्क के विषय बनकर आये, अतः खण्डन-मण्डन का क्रम चल पड़ा, एवं वाग्विलास का स्थान वाक्-प्रहार ने ले लिया। दार्शनिकों में तर्क के आधार पर प्रतिपक्षी के ऊपर विजय प्राप्त करने की दुर्दान्त इच्छा की वृद्धि हुई। इस कारण आगम की जगह वाद-ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ हुई। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' सूक्ति के अनुसार तत्त्व का निखार तो हुआ, परन्तु विचार सुलझे नहीं, वरन् उलझ कर साधारण जनों की दृष्टि से ओझल होने लगे और दर्शन जीवन से दूर होकर शास्त्रार्थियों की जिह्वा मात्र पर ही रह गया। इसी काल में स्फोट का प्रवचन वैयाकरणों के सम्प्रदाय में विशेष पल्लवित हुआ, जैसा कि त्रिविक्रम ने अपने नलचम्पू में लिखा है **'स्फोट-प्रवादो वैयाकरणेषु।'**[3]

---

१. श्लोक वार्तिक श्लोक ११७

२. शिव दृष्टि २।१, १२

३ नलचम्पू प्रथम उच्छ्वास (आर्यावर्त वर्णनम्)

स्वमत की रक्षा के लिए स्फोट सिद्धान्त का विरोध

अनेक दार्शनिकों ने अपने दर्शनगत सिद्धान्तों की रक्षा के लिए स्फोट सिद्धान्त का विरोध किया, इनमें नैयायिक तथा मीमांसक मुख्य हैं। जयन्तभट्ट ने स्फोटवाद के खण्डन के प्रारम्भ में वैयाकरण मत का उल्लेख करते हुए कहा है—स्फोट को ही अर्थ बोधक मान लें, इसमें नैयायिकों की क्या हानि है ? ...... हानि कैसे नहीं है, वे (नैयायिक) आप्तप्रणीत शब्द को ही प्रमाण मानते हैं । स्फोट तो नित्य है वह आप्तप्रणीत हो नहीं सकता । न्याय सिद्धान्त में अनित्य वर्णात्मक शब्द माना गया है, वह अर्थ बोधक न होने से प्रमाण नहीं होगा, जो स्फोट रूप शब्द अर्थ-प्रतीति का हेतु है, वह न तो अनित्य है न आप्तप्रणीत, अतः अनुचित रूप से नैयायिकों को क्लेश होगा । इस कारण अनित्य वर्णों के वाचकत्व की प्रतिष्ठापना करनी है तथा स्फोट का निराकरण करना है।[1]

इसी प्रकार कुमारिल भट्ट ने भी पदाश्रित कार्यों को सत्य करने के लिए स्फोट खण्डन को अनिवार्य कहा है—

> **वर्णातिरिक्तः प्रतिषिध्यमानः, पदेषु मन्दं फलमादधाति ।**
> **कार्याणि वाक्यावयवाश्रयाणि, सत्यानि कर्तुं कृत एष यत्नः**[2] ॥

(स्फोट पक्ष में अखण्ड वाक्य अखण्ड वाक्यार्थ का वाचक होता है। वर्ण, पद रूप अवयव असत्य, काल्पनिक माने जाते हैं । तब पद, पदावयवाश्रित ऊह, प्रतिनिधि-दान इत्यादि असत्य हो जायेंगे । अतः उनकी सत्यता को सिद्ध करने के लिए स्फोट का निराकरण निष्फल नहीं है।) अष्टम परिच्छेद में पदों की मान्यता शीर्षक में मीमांसक-मत का उल्लेख किया जा चुका है। मीमांसा कर्म-काण्ड-शास्त्र है, अतः उसमें पदों का महत्त्व वाक्य से अधिक है, पदों के अर्थ को मिलाकर ही वाक्यार्थ निश्चित किया जाता है ।

पाणिनीय व्याकरण दर्शन में सभी के विचारों को अपनाने की क्षमता

पाणिनीय व्याकरण दर्शन में हठवादिता को नहीं पनपने दिया गया । जैसे भाषा में प्रचलित सभी मुख्य नियमों का अनुसरण करते हुए

---

१ [illegible] ी, पृ० २२६ २२७

२. श्लो० वा० स्फोटवाद १३७

चिर नवीन बनी रहने की क्षमता होती है तथैव पाणिनीय व्याकरण दर्शन का कलेवर सभी दर्शनों के मूलभूत विचारों को अपना कर समन्वित रूप में निर्मित हुआ। इसमें वर्णवाद मीमांसा दर्शन से, पदवाद न्याय दर्शन से तथा वाक्यवाद व्यावहारिक भाषा-शास्त्र से लिया गया। साथ ही अद्वैत वाद वेदान्त से, सूक्ष्म वाक्तत्त्व तन्त्र शास्त्र से, स्वातन्त्र्य, चैतन्य तथा प्रत्ययवाद शैवागम एवं शाक्त दर्शन से यहां तक कि वैखरी स्थूल वाणी की मान्यता को न्याय, द्वैतशैवागम तथा सांख्य दर्शन से लेकर सभी को इस दर्शन ने आत्मसात् किया। शब्द के अर्थबोधक, श्रोत्र-गृहीत दो रूप अपने तथा मीमांसा दर्शन के समन्वित रूप में माने गये। श्रुति तथा उपनिषत् में प्रतिपादित शब्दाद्वैत तथा महाभारत, हरिवंश एवं श्रीमद्भागवत पुराणों में कथित स्फोट सिद्धान्त को अपने अनुसार भाषा से सम्बद्ध कर व्याकरण दर्शन भाषा के आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक रूपों का ऐक्य सम्पादन करने में समर्थ हुआ। दशम परिच्छेद में इस पर विशद विचार किया जायगा।

दार्शनिक विद्वानों द्वारा सभी दर्शनों का अवगाहन

जैसा कि सातवें परिच्छेद में कहा जा चुका है, प्रत्येक दर्शन के तीन चरण होते हैं, अनुभव, समन्वय, तथा खण्डन-मण्डन प्रक्रिया। सभी भारतीय दर्शन शास्त्र इन तीनों चरणों के क्रम से पुष्पित-पल्लवित हुए हैं। द्वितीय चरण में यह स्थिति होती है कि उच्चकोटि के विचारक सभी प्रचलित दर्शनों का अध्ययन करते हैं, तभी समन्वित भावना का उदय होता है एवं पारस्परिक दृष्टिकोणों को समझकर तदनुरूप तत्त्व निश्चय की प्रेरणा प्राप्त होती है। इससे दो लाभ होते हैं—

(१) सभी दर्शनों की मौलिक एकता के अन्वेषण द्वारा समन्वित भावना का उदय।

(२) विभिन्न दर्शनों के निर्णीत सिद्धान्तों पर निष्ठा का प्रादुर्भाव एवं हठवादिता का त्याग।

अनेक दार्शनिकों की व्याकरण दर्शन में आस्था तथा स्फोटवाद में सहमति

दर्शनशास्त्रियों में कई ऐसे विद्वान् हुये हैं, जिन्होंने अनेक दर्शनों टीकायें लिखी हैं, जिनसे उनके प्रगाढ दार्शनिक पाण्डित्य का बोध होत है उनमे से ऐसे दार्शनिको का नाम निर्देश किया जा रहा है जो अन

दर्शनावलम्बी होते हुए भी स्फोटवाद के पक्षपाती थे। कई ने तो अपने दर्शन के आचार्यों का विरोध भी किया है, उनमें तीन मुख्य हैं।

(१) व्याडि—ये महावैयाकरण तथा मीमांसकशिरोमणि थे। व्याकरण-महाभाष्य इनके संग्रह ग्रन्थ पर आधारित है। इनके विषय में महाराज चन्द्रगुप्त कृत 'कृष्ण चरित' में उल्लेख है कि ये वैयाकरण तथा मीमांसकाग्रणी थे।

'रसाचार्यः कविर्व्याडिः शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः
दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः ।'[1]

व्याकरण सम्बन्धी इनका 'संग्रह' ग्रन्थ प्रसिद्ध था, जिसमें शब्द-तत्त्व का निरूपण किया गया था। महाभाष्य में संग्रह ग्रन्थ के उद्धरणों से पता चलता है कि इसमें शब्द-विषयक सभी सिद्धान्तों पर विचार किया था, जिसमें स्फोट सिद्धान्त अवश्य रहा होगा, तभी इनको **'शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः'** कहा गया है।

(२) मण्डन मिश्र—ये प्रसिद्ध मीमांसक तथा बाद में आचार्य शंकर के शिष्य हो गये थे। इन्होंने स्फोट-सिद्धिकारक यथार्थनामा 'स्फोट-सिद्धि' ग्रन्थ लिखा है, जिसमें भट्ट कुमारिल को दुर्विदग्ध कहकर उनके स्फोट विरोधी विचारों का खण्डन किया गया है।

(३) गदाधर भट्ट—ये प्रसिद्ध नैयायिक थे, परन्तु व्युत्पत्तिवाद ग्रन्थ में उल्लिखित शाब्द बोध प्रकरण में इन्होंने वैयाकरण पद्धति का समर्थन किया है, जैसा कि उसके टीकाकार म० म० जयदेव मिश्र के कथन से ज्ञात होता है—**वैयाकरणमतेनास्य ग्रन्थस्य सत्त्वान्नासंगतिः।**[2] इसीलिए इन्होंने ससर्ग को अभेद-सम्बन्ध कहा है, जो तादात्म्य रूप होने से वैयाकरण-सम्मत है। यद्यपि इन्होंने स्फोट का समर्थन नहीं किया, पर व्याकरण मत का अनुसरण किया है।

स्फोट सिद्धान्त मन्थन

मण्डन मिश्र, भरत मिश्र के 'स्फोट सिद्धि' नामक ग्रन्थों तथा 'स्फोट-सिद्धि न्याय विचार' ग्रन्थ में मीमांसक मत का खण्डन किया गया है तथा

---

१. कृष्ण चरित श्लोक १६ (सं० व्या० शास्त्र इतिहास द्वि० भा० में उद्धृत, पृ० १७८)

२ व्युत्पत्तिवाद (जया पृ० ६

तत्व बिन्दु में वाचस्पति मिश्र ने वैयाकरण मत का खण्डन कर मीमांसक-मत का मण्डन किया है, ऐसा उक्त ग्रंथों के अध्ययन से विदित होता है। जहाँ इन विद्वानों ने पारस्परिक खण्डन-मण्डन कर अपने मत की स्थापना में बड़ा श्रम किया, वहाँ स्फोटवाद का सूक्ष्म विश्लेषण कर प्रकारान्तर से इसकी पुष्टि में भी बड़ा योग दिया। स्फोटवाद की स्थापना कुमारिल भट्ट के समय में हो गई थी, तभी उन्होंने अपने 'श्लोकवार्तिक' नामक ग्रंथ में ४४ वादों पर विचार कर ३८वें स्फोटवाद पर भी विचार किया है। इससे यह भी पता चलता है कि उस समय तक स्फोट ने शब्द का स्थान ले लिया था, तथा शब्द के सम्बन्ध में जो दो सम्प्रदाय चले थे, जिनके उद्भावक महर्षि उपवर्ष तथा पतंजलि थे, उनमें से वाचक शब्द-वाद ही स्फोट-वाद नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा मीमांसक एवं वैयाकरण दोनों ने इसके खण्डन-मण्डन पर अपनी बौद्धिक शक्ति लगाई। यद्यपि अनुभव का स्थान शुष्क तर्क ने ले लिया, परन्तु विचारों में अधिक गम्भीरता आई। आगे शंका, समाधान के रूप में इस पर किये गये विचारों को प्रस्तुत किया जा रहा है—

वैयाकरणों द्वारा शास्त्रार्थ पद्धति से स्फोट समर्थन

जैसा कि अष्टम परिच्छेद में उल्लिखित स्फोट समर्थक एवं तद्-विरोधी विचारों से स्पष्ट होता है कि वैयाकरण सम्मत स्फोट सिद्धान्त का जिस रूप में प्रचार हुआ, उसी के अनुरूप उसका विरोध भी। समर्थक एवं विरोधी दार्शनिकों के दो वर्ग हो गये। स्वमत की पुष्टि तथा परमत के निराकरण की बुद्धि-प्रसूत नवीन युक्तियाँ प्रारम्भ हुईं। अतः स्फोट समर्थन या उसके खंडन के लिए शास्त्रार्थ शैली अपनाई गई, एवम् प्रत्येक पक्ष से उत्तर-प्रत्युत्तर की कोटियाँ प्रयुक्त की गईं! इस विचार-परम्परा में यद्यपि उभय-मत के बलाबल का निर्णय तत्वतः नहीं हो पाता, परन्तु बुद्धि की करामात के निर्णय के साथ दोनों के प्रगतिशील विचारों का पता अवश्य चल जाता है।

इस परिच्छेद में स्फोट विरोधी दार्शनिकों के विचारों का पृथक्-पृथक् संक्षिप्त उल्लेख किया जा चुका है। वैयाकरणों के शास्त्रार्थ-पद्धति पर लिखे गये निम्नलिखित ग्रंथ उपलब्ध होते हैं—

१. स्फोट सिद्धि — (मण्डन मिश्र)   २. स्फोट सिद्धि — (भरत मिश्र)

३. स्फोट तत्त्व न्याय विचार (अज्ञात कर्तृक टी० गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम, संस्कृत ग्रंथमाला १९१७)

४. स्फोट तत्त्व निरूपण (शेष कृष्ण) ५. स्फोट चन्द्रिका (मौनि श्रीकृष्णभट्ट)
६. वैयाकरण भूषण (कौण्ड भट्ट) ७. स्फोट निरूपण (आपदेव)
८. स्फोटवाद (नागेश भट्ट)

इन वाद ग्रंथों में नैयायिक तथा मीमांसक के स्फोट विरोधी विचारों का खंडन कर स्फोट का मण्डन किया गया है। सभी ग्रन्थों में विरोध परिहार के उपाय प्रायः समान हैं। उपर्युक्त प्रथम तीन ग्रन्थों में केवल मीमांसक के विचारों का खंडन तथा अवशिष्ट पाँच ग्रन्थों में नैयायिक तथा मीमांसक दोनों के विचारों का खंडन किया गया है। इसी क्रम से शास्त्रार्थ पद्धति में सिद्धान्ती (वैयाकरण) तथा प्रतिपक्षी (मीमांसक) के विचारों को इस प्रकार समझा जा सकता है—व्याकरण शास्त्र का विषय शब्दसाधुत्व है। शब्द वाक्य स्वरूप है, क्योंकि अर्थ का वाचक शब्द है तथा निराकांक्ष अर्थ का वाचक वाक्य ही होता है। व्यवहार में वाक्य अनन्त है, उनकी गणना नहीं होती, अतः उनके अन्तर्गत पदों की कल्पना की जाती है। उन पदों के प्रकृति प्रत्यय आदि (आगम, आदेश, लोप तथा विकार) के द्वारा साधुत्व का विधान शब्दानुशासन है। प्रक्रिया में इन सब की उपयोगिता होने पर भी वर्णातिरिक्त शब्द वाचक होता है, यह व्याकरण दर्शन का अभिप्रेत सिद्धान्त है। इसको पद, शब्द, वाक्तत्त्व तथा स्फोट नाम से कहा जाता है। महाभाष्य में 'गौरित्यत्र कः शब्दः ?' (गौः इस पद में शब्द क्या है ?) इसका 'उच्चारित जिस (शब्द) से 'गौः' इस पदार्थ का बोध होता है वह शब्द है।' यह समाधान वर्णातिरिक्त वर्ण व्यंग्य स्फोट रूप तत्त्व की सिद्धि करता है। मीमांसक उपर्युक्त भाष्य की संगति को निम्नलिखित प्रकार से करते हुए कहते हैं—लोक में शब्द का अर्थ सुने गये वर्णों का समुदाय माना जाता है तथा शास्त्र में श्रोत्रग्राह्य से भिन्न दूसरा शब्द अप्रसिद्ध है, अतः 'कः शब्दः ?' में शब्द का अर्थ वर्ण ही है।

इसके उत्तर में वैयाकरण अर्थ बोधक नित्य शब्द की मान्यता में दूसरा प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—**शब्दादर्थम् प्रतिपद्यामहे** (हम शब्द से अर्थबोध करते हैं।) यह व्यवहार लोक में होता है। बिना स्फोट रूप शब्द माने यह व्यवहार हो ही नहीं सकता। मीमांसा शास्त्र में ही 'शब्द' का अर्थ स्फोट है। '**भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत एष ह्यर्थो विधीयते**।[1] इस मीमांसा सूत्र में 'भावार्थाः' की व्युत्पत्ति' भावः अर्थ

१ मीमांसा सूत्र २ १।१

येषान्ते (बहु०) तथा 'कर्मशब्दाः' की 'कर्मणः शब्दाः' (ष०, त०) हैं। ये दोनों समस्त पद तभी सिद्ध होंगे, जब शब्द, अर्थ का वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध माना जाय, एवं यह सम्बन्ध स्फोट रूप नित्य शब्द, अर्थ को स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं, क्योंकि ध्वनि रूप शब्द तो अनित्य होता है, वह अर्थबोधक कैसे होगा ?

मीमांसक इसका सीधा उत्तर यह देते हैं कि ध्वनि तो वायु का गुण है, उसकी उत्पत्ति तथा विनाश भले हो; परन्तु वर्ण नित्य हैं, समुदित होकर वे ही पद तथा वाक्य रूप को प्राप्त होकर अर्थ-बोधक होंगे। अतः स्फोट कल्पना व्यर्थ है। जैसे गोदाम (खत्ती) में रखे हुए अन्न में अंकुर नहीं उत्पन्न होता, परन्तु मिट्टी, पानी तथा गर्मी इत्यादि सहकारी कारणों से सम्पन्न होने पर, उसमें अंकुर का प्रादुर्भाव देखा जाता है। तथैव आनुपूर्वी-विशिष्ट इन वर्णों की अर्थ-बोधकता सर्वत्र देखी जाती है। इस प्रकार 'गौः' के गकार औकार विशिष्ट विसर्ग के ज्ञान से अर्थ बोध हो जाता है। अतः दृष्ट वर्णों को छोड़कर अदृष्ट स्फोट की कल्पना वैसी ही है, जैसे पिपासु व्यक्ति की जलाशय को छोड़कर मृगतृष्णा की ओर प्रवृत्ति।

वैयाकरणों का इस पर यह आक्षेप है कि प्रतिपक्षी (मीमांसक) ने बीज, अंकुर के कार्य-कारण भाव का दृष्टान्त देकर विशिष्टता सम्पन्न वर्णों को ही अर्थबोधक सिद्ध किया है, परन्तु किसी विशेषता का निरूपण नहीं किया है। यदि अन्त्यवर्ण के विज्ञान को विशेष कहते हो तो उस काल में पूर्व वर्णों की उपलब्धि नहीं है। सहकारी तो मुख्य की उपस्थिति में कारण होते हैं, यहाँ तो पूर्व वर्ण हैं ही नहीं। नित्य पक्ष में भी उनकी अभिव्यक्ति नहीं हुई। यदि सत्तामात्र से वर्ण अर्थ बोधक माने जायें, तो सदा अर्थ बोध होना चाहिए। जब तक कोई नित्य, वाचक शब्द न माना जायगा, तब तक अर्थ बोध नहीं हो सकता, अतः वर्णों का न तो स्वरूपतः न उच्चारण द्वारा ही यौगपद्य हो सकता है, तब सम्मिलित रूप से उनके द्वारा अर्थ बोध रूप कार्य भी न होगा।[1]

इस प्रबल आक्षेप का उत्तर प्रतिपक्षी इस प्रकार देते हैं कि जैसे बड़े-बड़े यज्ञों में अनेक क्रियायें क्रमवती होकर भी अपूर्व फल को उत्पन्न करती हैं, किसी श्लोक या सूक्त को कण्ठस्थ करने में अनेक दिनों में की

---

१. स्फोटसिद्धि (मंडन) कारिका २ (गोपालिका सहित)

जाने वाली आवृत्तियाँ सहयोगिनी होती हैं तथा अभीष्ट देश मे पहुँचने में एक-एक डग सहायक होते हैं। तथा जैसे उनका क्रम नियत होने से उनमें यौगपद्य नहीं हो सकता परन्तु उन सबसे फलोत्पत्ति होती है, किसी अन्य कारण की कल्पना नही की जाती, वैसे ही केवल वर्णों से ही अर्थबोध होता है। यदि वैयाकरण यह कहें कि यज्ञ में क्रमवर्ती अवान्तर व्यापार स्थायी अपूर्व के उपकारक होते हैं, पूर्व-पूर्व अभ्यासों के सहित उत्तरोत्तर अभ्यास से जनित संस्कार स्थायी स्मरण रूप फल के कारण होते हैं तथा अणु परिमाण रूप रास्ते का अतिक्रमण करने वाले एक एक डग स्थायी देश की प्राप्ति रूप फल के हेतु बनते हैं। (मीमांसक-मत में अपूर्व, सस्कार तथा अणु-परिमाण स्थायी माने जाते हैं।) वर्णों में ऐसा कोई स्थायी पदार्थ नहीं माना जाता। उसका सीधा उत्तर है कि वर्णों से भी सस्कार की उत्पत्ति मानी जाती है, क्योंकि वे भी अपनी उपलब्धि के हेतु-भूत-संस्कार द्वारा अन्तिम वर्ण की प्रतीति से एकार्थ बोध रूप कार्य को सम्पादित करते हैं। जैसा की मीमांसा भाष्यकार ने कहा है—'पूर्व वर्ण-जनित संस्कार-सहितोऽन्त्यो वर्णो वाचकः।' वर्णो से अर्थ बोध रूप कार्य देखकर उनके द्वारा अपने में निहित विशेष संस्कार नामक अवान्तर व्यापार को स्थायी रूप से कल्पित किया जाता है, उसके सहित अन्तिम वर्ण से अर्थबोध होता है।

मीमांसकों का अर्थ-बोध-प्रकार ठीक तो है, परन्तु इस पद्धति में एक दोष यह है कि संस्कार अन्तःकरण में सुप्त जैसे रहते हैं, उनमें से कोई ही प्रतिबुद्ध रहकर स्मृति का जनक होता है, अतः संस्कार द्वारा होने वाला बोध पराधीन है, परन्तु व्यवहार में देखा जाता है कि वक्ता के उच्चारण के अनन्तर ही श्रोता को बोध होता है तथा संस्कार जिनके अनुभव से निष्पन्न होते हैं, उन्हीं के ज्ञान के हेतु होते हैं। अतः वर्णों के अनुभव से जन्य संस्कार अर्थ-बोध के निमित्त नहीं हो सकते। इस पर यदि मीमांसक ऐसा कहें कि प्रायः सभी दार्शनिक संस्कार को स्मृति का जनक मानते हैं (संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।) विवाद उनके (संस्कारों के) अर्थ-बोध के निमित्त होने में है, परन्तु कोई ऐसा बाधक नियम नहीं मिलता, जो संस्कारों के अर्थबोध रूप सामर्थ्य का प्रतिरोध करे तथा शब्द सुनने के अनन्तर नियमतः बोध होता है, अतः संस्कारों में ही अर्थ-बोधविषयक शक्ति की कल्पना करना उचित है, क्योंकि उनकी सत्ता सर्वसम्मत है

अपूर्व स्फोट को मानने से कोई लाभ नहीं है।[1] यह विचार इसलिए चारु नहीं है कि विद्वान् अनुभवजन्य ज्ञान को संस्कार मानते हैं। (अनुभव-जन्यं ज्ञानं संस्कार:।) पूर्व ज्ञान अनुभवात्मक होता है, उससे अन्त:करण में संस्कार का निवेश किया जाता है। वह द्वितीय ज्ञान की उत्पत्ति का सामर्थ्य रूप ही है, इस सामर्थ्य का अर्थ-बोध-रूप सामर्थ्य से सम्बन्ध कभी सुना नहीं गया, क्योंकि दोनों भावपदार्थ हैं तथा समान वर्णों से उत्पन्न होने के कारण राज, जरा के संस्कार एक ही होंगे, तब दोनों से भिन्न अर्थों की प्रतीति न होगी। तथा वर्णों को वाचक मनाने में एक दोष यह भी है कि अर्थबोध काल में कुछ वर्ण तो नष्ट हो चुके रहते हैं तथा कुछ अनभिव्यक्त, तब अर्थ बोध रूप कार्य की उत्पत्ति में संस्कार द्वारा भी उन सब का समुदाय नहीं मिल सकता।

वर्णवादी स्फोटवादी के खण्डनार्थ नूतन युक्ति प्रस्तुत करते हुए कहता है कि वर्ण नित्यता पक्ष में स्थायी रूप से यौगपद्य को प्राप्त संस्कारों से एक बोध स्वरूप का उदय होता है, जिसमें पूर्वानुभूत समस्त वर्णों का प्रत्यवमर्श (पुन: सामूहिक अनुसन्धान) रहता है, उस बोध रूप प्रत्यय में स्थित वर्ण सहभाव को प्राप्त होकर अर्थावबोध करा देंगे। इस प्रत्यय (अर्थबोध) में अन्तिम वर्ण में सद्रूपा, पूर्व वर्णों में स्मृति रूपा बुद्धि होती हैं, वही अर्थ-प्रतीति का हेतु है। अत: स्फोट कल्पना व्यर्थ है।

इस युक्ति से अर्थ बोध हो सकता है परन्तु यह व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि यौगपद्य तथा आनुपूर्व्य एकत्र नहीं रह सकते। जो वर्ण युगपत् हैं, वे पूर्वापर क्रम युक्त कैसे होंगे। यदि क्रमवान् मानते हो तब यौगपद्य कैसे होगा ? बोद्धा को अर्थबोध काल में यह प्रतीति नहीं होती कि मुझे 'गाम् आनय' वाक्य के सात वर्णों का स्मरण तथा अन्तिम अ का अनुभव हो रहा है। स्मृति भी उसी रूप में होगी, जिस रूप में ज्ञान होगा, वर्णों का एक साथ ज्ञान नहीं होता। अत: एक साथ स्मृति भी नहीं होगी तथा जैसे अनेक विविध यन्त्रों से युक्त किसी मशीन (साइकिल, मोटरकार आदि) का समुदित रूप में ज्ञान तो सभी को होता है, परन्तु उसके पुर्जों का अलग-अलग ज्ञान केवल शिल्पी (मिस्त्री) को ही होता है तथैव समुदित

---

१. स्फोटसिद्धि (मण्डन) कारिका ६ (गोपालिका सहित) तथा श्लोकवार्तिक (स्फोटवाद)।

वाचक शब्द से समुदित अर्थ की प्रतीति ही सर्वानुभव सिद्ध है। अर्थात् समुदाय का ज्ञान अवयव का ज्ञान नहीं कहा जाता, यद्यपि अवयवों के स्वरूप से अनुविद्ध रहता है। अतः वर्णों से व्यतिरिक्त कोई एक पद है, जो वाचक होता है। वर्णों में पूर्वापर प्रतीति केवल उच्चारण से ही जानी जाती है, वैसे आपके (मीमांसक के) मत में वे नित्य, विभु होने के कारण पूर्वापरीभाव से रहित होते हैं। उपलब्धि में अक्रमत्व होने के कारण पूर्वोक्त राज, जरा में एकार्थ प्रतीति होगी, क्योंकि आपके मत में क्रमशः उच्चारण अर्थ का भेदक नहीं रहेगा।[1]

यदि वर्णवादी यह कहें कि 'विंशतिः, शतम् (बीस, सौ) इत्यादि में एक साथ सभी पदार्थों की स्मृति होने से क्रमबद्ध वर्णों से क्रमवती ही स्मृति होती है' ऐसा नियम सत्य नहीं प्रतीत होता तथा यह भी सभी मानते हैं कि एक एक वर्ण के अनुभव के अनन्तर होने वाली बुद्धि (प्रख्या) एक ही है, जो निश्शेष वर्णरूपी दर्पण में विस्तारपूर्वक प्रतिबिम्बित होती है। इस प्रकार पहिले क्रम से विज्ञात वर्णों के अनन्तर युगपत् रूप से जो एक बुद्धि होती है, वह अर्थज्ञान का कारण है, तो हम उनसे नम्रतापूर्वक पूछते हैं कि ज्ञान सर्वत्र ज्ञेय वस्तु के आकार का अनुपाती होता है, ज्ञेयगत एकता के बिना ज्ञानगत एकता सम्भव नहीं, इसके विपरीत एक विज्ञान जाति-गत एकत्व के कारण होता है। आप मीमांसक तो जाति मानते नहीं तथा वर्णों में एकत्व बिना शब्दत्व रूप जाति के माने हो नहीं सकता। वर्णों में ऐसा कोई सामान्य गुण नहीं दृष्टिगोचर होता, जिससे एक ज्ञान हो सके। एकार्थ-बोधक होने से वर्णों को एक-विज्ञान-वेद्य नहीं माना जा सकता, ऐसी स्थिति में एकार्थ बोधक होने से एक ज्ञान विषयता तथा एक ज्ञान विषय होने पर एकार्थ बोध यह अन्योन्याश्रय दोष आ जायगा। अन्योन्याश्रित ज्ञान या कार्य नहीं होता।

प्रतिपक्षियों का यह उत्तर 'एक स्मृति में उपारूढ़ वर्णों में यौगपद्य लाकर उन्हें अर्थज्ञान का कारण तथा क्रम को अर्थबोध में उपकारक मान कर जरा, राज, नदी, दीन में अर्थ भेद का कारण मानने से बिना स्फोट माने ही अर्थबोध हो जायगा।' ठीक नहीं है। क्योंकि पदार्थों की उपस्थिति में ही क्रम सम्भव होता है, वर्ण एक साथ नहीं रहते, तथा वर्णों का क्रम हो ही नहीं सकता, क्योंकि क्रम काल या देशकृत ही होता है, प्रतिपक्षी

---

१ स्फोटसिद्धि (मण्डन कारिका ८ तथा श्लोकवार्तिक (स्फोटवाद)

(मीमांसक) के मत में वर्णों के नित्य होने से काल तथा विभु (व्यापक) होने से देश क्रम के आधायक नहीं हो सकते। अनित्य पक्ष में भी वर्ण अतीत, अनागत-ज्ञान-विहीन है, तब उनमें पूर्वापर की अपेक्षा करने वाला क्रम कैसे हो सकता है। 'वर्णों के नित्य होने पर भी उनका बोध तो क्रम से ही होता है। अतः बोधगत क्रम को मानकर जरा, राज में भेद करना सम्भव हो सकेगा।' यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्व पूर्व वर्णों के बोध रूप उपाधि के नष्ट होने से उनका क्रम भी नष्ट हो जायगा, तब वह क्रम-विशिष्ट-बोध एक स्मृति में उपारूढ़ वर्णों का आश्रय कैसे होगा। तथा जब एक स्मृति रूप एकात्मिका बुद्धि नहीं होगी, तब वह स्वगत वर्णों में क्रम कैसे लायेगा।[1] तथा नष्ट होने पर वर्णों की तरह स्मर्यमाण क्रम एक बुद्धिस्थ वर्णों में नहीं हो सकता, क्योंकि पहिले क्रम का अनुभव नहीं हुआ तब उसकी स्मृति कैसे होगी। इस प्रकार वर्ण एक विज्ञान के तथा अर्थ-बोध के हेतु नहीं हो सकते। अतः प्रत्यक्ष एवम् अर्थापत्ति दोनों प्रमाणों से वर्णातिरिक्त स्फोट रूप शब्द तत्त्व मानना उचित है। 'शब्दादर्थं विजानीमः' उक्ति में वाचक शब्द वर्ण नहीं हो सकते तथा पूर्वोक्त विचारों से यह सिद्ध हो गया कि उनमें क्रम तथा यौगपद्य सम्भव नहीं, अतः अर्थं विजानीमः इस वाक्य शेष की संगति के लिये वहाँ वर्णातिरिक्त स्फोटात्मक ही 'शब्द' प्रतीत होता है।[2]

स्फोट मानने पर जरा, राज आदि में होने वाली भेद-प्रतीति स्फोट-व्यंजक ध्वनि कृत है, उसमें प्रतीत होने वाले क्रम, वर्ण तथा ह्रस्व आदि का स्फोट में आभास होता है। ध्वनि रूप नाद भ्रम है, उनसे अभिव्यक्त स्फोट वास्तविक है। जैसे दूरस्थ वृक्ष पहिले हाथी के रूप में दिखाई पड़ते है, बाद में उनका वास्तविक रूप प्रकट होता। यहाँ हाथी का ज्ञान भ्रम होते हुये भी वास्तविक वृक्ष ज्ञान का निमित्त है। तथैव अवास्तविक नाद

---

१. स्फोटसिद्धि (भरत) पृ० १०-१२

२. स्फोट सिद्धि न्याय विचार की निम्नलिखित कारिकायें द्रष्टव्य हैं—

ततो नाबाध्यमानैकविज्ञानोदयहेतवः,
वर्णा नैवाभिधेयावबोधकारणमप्यमी ।११५
अतः सिद्धमिदं प्रत्यक्षार्थापत्तिप्रमाणकम् ।
व्यतिरेकेण वर्णेभ्यः शब्दतत्त्वमिह स्थितम् ।।११६
वर्णातिरिक्तस्फोटात्मन्यसौ वर्तितुमर्हति ।। १२० (पूर्वार्द्ध)

वास्तविक स्फोट के निमित्त होते हैं। इस प्रकार नाद ही स्फोट रूप शब्द के निश्चय एवं भेद में कारण सिद्ध होता है। पद में नाना व्यंजक कृत नानात्व का भ्रम इस कारण होता है कि अनेक वर्ण ग्रहण के अनन्तर होने वाली बुद्धि एक हो जाती है, वह नानात्व की विरोधिनी है। जैसे आप (मीमांसक) के मत में स्थान एवम् उच्चारयिता के भेद होने पर भी प्रत्यभिज्ञा बल से 'स एवायं गकारः', 'गकारः द्विरुच्चरितः' यह प्रतीति होती है, तथैव हमारे मत में भी भेदोपरंजित होने पर भी एक वाक्तत्त्व का ज्ञान होता है।

वर्णवादियों के द्वारा स्फोटवाद में एक प्रबल दोष यह दिया जाता है कि क्रमिक वर्णों से अभिव्यक्त स्फोट भी क्रमिक होगा। वर्ण उत्पत्ति-विनाशशाली हैं तथैव उनसे अभिव्यक्त (स्फोट) भी उच्चरित-प्रध्वंसी होगा। इसका यह उत्तर है कि पूर्व तथा उत्तर ध्वनियों से खण्डशः नहीं, अपितु समग्र स्फोट प्रकाशित होता है, परन्तु उसकी स्पष्ट प्रतिपत्ति अन्तिम ध्वनि से होती है। इस सिद्धान्त में ज्ञान का आश्रय वक्ता, श्रोता दोनों का अन्तःकरण माना जाता है। वक्ता अपने अन्तःकरण में पूर्व-पूर्व ध्वनियों से अभिव्यक्त तथा चरम ध्वनि द्वारा स्फुट-तर स्फोट का प्रत्यक्ष कर, बोद्धा को बोध कराने के उद्देश्य से वैखरी नाद के द्वारा क्रमिक उच्चारण करता है तथा बोद्धा क्रमशः एक एक नाद को सुनता तथा स्फोट का अनुभव करता हुआ अन्तिम नाद से अभिव्यक्त स्फुटतर अखण्ड अर्थ को ग्रहण करता है। इस प्रकार पूर्व ध्वनियाँ व्यर्थ नहीं होती हैं। यह स्फोट कोई अदृष्ट तत्त्व नहीं है, जिसकी कल्पना करनी पड़ती है। स्फोट की व्यक्ति एवं अव्यक्ति ज्ञात, अज्ञात रूप है, यह बात नहीं कि उसका कुछ अवयव व्यक्त है, कुछ नहीं, बल्कि अज्ञात, अस्फुट ज्ञात, ज्ञात, स्फुटतर ज्ञात रूप अभिव्यक्ति का क्रम माना जाता है।

इतने पर भी यदि स्फोट विरोधी कहें कि वर्ण जनित अस्पष्ट अभिव्यक्तियों द्वारा ही अर्थबोध क्यों न मान लिया जाय, उसमें वर्ण व्यग्य स्फोट को अतिरिक्त माध्यम क्यों माना जाय, तो उनसे यही कहना है कि अस्पष्ट अभिव्यक्तियों से अस्पष्ट अर्थबोध होगा। स्फुटतर बोध के लिए एक नित्य वस्तु को स्वीकार करना पड़ेगा, जिसमें ये सभी अस्पष्ट बोध समाहित रहते हैं। स्फोट के आन्तर, बाह्य, सखण्ड, अखण्ड, व्यक्ति, जाति तथा वर्ण, पद, वाक्य रूप अनेक भेद स्वीकार करने से स्फोट सिद्धान्त

अनवस्थित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्फोट के ये सभी भेद प्रारम्भिक, काल्पनिक हैं। श्रोताओं के रुचि-वैचित्र्य के अनुसार ही इनके भेद पूर्वक (प्रकृति-प्रत्यय-वर्ण-पद) अभेद प्रदर्शित किये गये हैं तथा सभी दार्शनिकों के विचारों को समन्वित करने के उद्देश्य से अर्थबोध-दशा में इनके अनेक विभाग मान लिये गये हैं। वस्तुतः एक ही अभिन्न वाक्तत्त्व व्याकरण दर्शन का सर्वस्व है।[1] नैयायिक, वैशेषिक तथा सांख्य दार्शनिकों के स्फोट-विरोधी विचारों का पूर्व परिच्छेदों में खण्डन किया जा चुका है। वैयाकरणों ने इनके खण्डनार्थ विशेष प्रयास नहीं किया, ऐसा प्रतीत होता है। इसके मुख्य दो कारण हैं– (१) ये दार्शनिक शब्द को वैखरी रूप अनित्य मानते हैं अतः स्थूलदर्शी हैं केवल शब्द नित्यता की सिद्धि से इनका मूलोच्छेद हो जाता है, इस पर विचार किया गया है। (२) नैयायिक पद-वादी हैं, वैयाकरण भी पद-वाक्यवादी हैं, अन्तर केवल इतना है कि, नैयायिक वर्ण समूह को, वैयाकरण तदतिरिक्त वाचक तत्त्व को पद मानते हैं। (पद्यते = गम्यते अर्थः येन तत्पदम्।) परन्तु जैसा विचार-विमर्श के बाद निर्णीत तत्त्व है कि वैखरी रूप वर्णस्वरूप पद रह ही नहीं सकता, वर्ण-समूह को पद मानना कैसे सम्भव हो सकता है। वैयाकरणों में कौण्डभट्ट, शेष कृष्ण तथा मौनि श्रीकृष्ण भट्ट ने नैयायिकों के तर्कों का उत्तर दिया है, वह इस प्रकार है—

(१) यदि शब्द को आकाश का गुण मानते हो तो वह द्रव्य नहीं होगा, तब उसमें समवायिकारणता न रहेगी, क्योंकि आप (नैयायिक) के मत में अवयव ही समवायी होते हैं, आशुविनाशी क्रमिक वर्ण अवयव नहीं बन सकते।[2]

(२) नैयायिकों का वीचीतरंगन्याय से शब्द से शब्द की उत्पत्ति का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि लहर से लहर की उत्पत्ति तो प्रत्यक्ष है, परन्तु कोई श्रोता यह नहीं कहता कि मैं वक्ता के उच्चरित शब्द से उत्पन्न शब्द को सुनता हूँ।[3]

(३) जैसे नैयामिक अनेक रंगों के मिश्रित रंग को चित्र नामक

---

१. स्फोट सिद्धि (भरत) तथा स्फो० सि० न्याय विचार १६०-१६२ कारिकायें
२ स्फोट त० नि० का० ३
३ „ चन्द्रिका पृ० ६

अतिरिक्त रंग मानते हैं तथैव वैयाकरण भी वर्ण-पद-वाक्य से अभिव्यक्त तत्त्व को अतिरिक्त शब्द (स्फोट) मानते हैं।[१]

(४) नैयायिक मत में वाक्यार्थ बोध का उपपादन न्यायमंजरी में इस प्रकार किया गया है—वर्णों के क्रम से पद का ज्ञान, शक्ति का स्मरण तथा संस्कार, पदार्थ ज्ञान, शक्ति का स्मरण तथा संस्कार; तदनन्तर इसी वर्णक्रम से पद ज्ञान, शक्ति-स्मरण, संस्कार-पदार्थ ज्ञान; पूर्व संस्कार के सहित पटुतर संस्कार; इसी क्रम से अन्य पदज्ञान, शक्ति स्मरण, संस्कार पदार्थ ज्ञान, पूर्व संस्कार की अपेक्षा पटुतर संस्कार, इस प्रकार पीवर (मोटे) संस्कार के स्थित होने पर अन्तिम पदार्थ के ज्ञान के अनन्तर पद संस्कार से सर्वपद विषयक स्मृति, पदार्थ संस्कार से पदार्थ विषयक स्मृति, इस प्रकार दो स्मृतियां होती हैं। एक स्मृति में उपारूढ़ पदसमूह वाक्य है तथा दूसरी स्मृति में उपारूढ़ पदार्थ समूह वाक्यार्थ है।[२]

अर्थबोध करने वाले सभी विज्ञजन विचारें कि क्या यह प्रक्रिया होती है; यदि होती है तो अणुतम या सूक्ष्मतम ही होगी। क्या स्फोट सिद्धान्त इससे भिन्न है ? स्मृति-सिद्धान्त के खण्डन से इनके मत का भी खण्डन हो जाता है।

---

१ स्फोट त० चन्द्रिका पृ० ८-६

२ न्या० म०, पृ० ३६३

दशम परिच्छेद

व्याकरण शास्त्र की समन्वयात्मक पद्धति

व्याकरण की सर्ववेद—पारिषदत्व-सिद्धि।
भाषा के स्वरूप को स्थिर करने के लिये वैयाकरणों द्वारा किये गये प्रयत्न।
पाणिनीय व्याकरण में पूर्ववर्ती सूत्रकारों एवं दार्शनिक विचारकों का सम्मानपूर्वक उल्लेख तथा उनके मतों पर आस्था।
जातिवाद तथा व्यक्तिवाद, वर्णवाद, पदवाद तथा वाक्यवाद।
स्फोट-सिद्धान्त में सभी विचारों का समादर। आन्तर स्फोट निरूपण।
व्यवहार की प्रधानता तथा स्फोट सिद्धान्त में उसका सर्वोपरि प्रभाव।
स्फोट विरोधी दार्शनिकों द्वारा भी प्रकारान्तर से स्फोट की मान्यता।

व्याकरण शास्त्र की सर्ववेद-पारिषदत्व-सिद्धि

महाभाष्यकार ने कहा है—'**सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रं तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्**।'[1] भाष्य का यह कथन व्याकरण की विचित्रता एवं प्रयोगों की प्रचुरता की पुष्टि करता है। प्रदीप तथा उद्योत के आधार पर इसकी व्याख्या इस प्रकार है—अध्येताओं के संघ का नाम '**परिषत्**' है परिषद् में होने वाला या परिषद् द्वारा मान्य विचार '**पारिषद**' कहलाता है। इसका अर्थ 'साधारण' है। व्याकरण सभी वेदों का पारिषद है। जैसे वेदों में शब्दों का विचित्र ढंग से प्रयोग तथा व्यवहार होता है, वैसे ही वेदांग होने से व्याकरण द्वारा भी अनेक-विध प्रयोगों की निष्पत्ति होती है। उन सभी विचित्र प्रयोगों का प्रतिपद पाठ नहीं किया जा सकता। यदि

---

1 म० भा० २।१।५७ (प्र० खं०, पृ० ४७२) तथा (६।३।१४' द्वि० खं०, पृ० ८४६

सूत्र ही न बनाये जायँ तो मन्द बुद्धि छात्र प्रकृति-प्रत्यय-विभाग करने में असमर्थ होंगे। उदाहरणमात्र लिखकर प्रयोगों का विस्तार कर देने तथा सामान्य लक्षण निर्धारित न करने से शास्त्र का आकार बढ़ जायगा। अतः सभी प्रयोगों की साधुता के स्थापन एवम् सभी विद्वान् आचार्यों के मतों का सम्मान करने के लिए बहुलम्, अन्यतरस्याम, वा, उभयथा, एकेषाम् आदि शब्दों का आश्रय लेना ही पड़ेगा।

भाषा प्रवाहमयी होती है। व्याकरण द्वारा कोई एक मार्ग को निश्चित कर देने से उसका प्रवाह रुक नहीं सकता। जैसे वेद की भाषा में प्रयोग-बाहुल्य है, वैसे ही लौकिक भाषा में भी है तथा होगा। नियम बना देने मात्र से उसकी प्रयोग वृद्धि में बाधा नहीं हो सकती। व्याकरण द्वारा लौकिक तथा वैदिक सभी शब्दों का अनुशासन किया जाता है। प्रातिशाख्य में केवल शाखा-विशेष में पठित शब्दों का प्रतिपादन होता है, वह भी पूर्णरूप से नहीं। क्योंकि प्रकृति-प्रत्यय-विभाग तथा स्वर-विचार उसमें नहीं किये गये।

उपर्युक्त भाष्य तथा उसका व्याख्यान व्यावहारिक भाषा की मान्यता-पूर्वक अखण्ड वाक्य स्फोट का प्रतिपादन करता है। जैसे भाषा का प्रवाह अविच्छिन्न है तथैव विचारों की धारा भी सतत है। भाषा-शास्त्री कहते हैं—प्रारम्भ में मानव-मात्र की एक ही भाषा थी। दार्शनिक-परम्परा में भी यह मत मान्य है कि प्रारम्भ में मानव मात्र का एक ही जीवन दर्शन था, चाहे वह यथाकथंचित् पेट भरना ही रहा हो। भाषा (शब्द) तथा विचार (अर्थ) दोनों का समन्वित रूप से विकास हुआ है, क्योंकि कोई भी प्रत्यय (ज्ञान) बिना शब्द के नहीं रहता। व्याकरण के द्वारा प्रचलित भाषा के रूप को परिष्कृत करना अन्वाख्यान है। साथ ही उसकी अर्थबोधक्षमता को एवम् व्यवहार की मुख्यता को बनाये रखना कुशल वैयाकरण की विशेषता है। महर्षि पाणिनि के अनन्तर कात्यायन द्वारा ऐसे ही प्रयोगों को मान्यता देने के लिये नये नियम (वार्तिक) बनाये गये।

भाषा के स्वरूप को स्थिर करने के लिए वैयाकरणों के द्वारा किये गये प्रयत्न

भाषा को समझने, बोलने तथा लिखने के नियम के सम्बन्ध में विद्वानों ने बहुत विचार-विमर्श किया है। यहाँ शब्द के सम्बन्ध में किये गये विचारों का संक्षिप्त उल्लेख करना समीचीन होगा। संस्कृत भाषा के

स्वरूप तथा अर्थ को असंदिग्ध रखने के लिये शब्दानुशासन, धातुपाठ गणपाठ, उणादि पाठ एवं लिंगानुशासन पर विचार किया गया। महर्षि यास्क ने नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात ये चार पद विभाग किये।[1] शाकटायन ने सभी प्रतिपादकों को धातुओं से उत्पन्न कहा।[2] नन्दिकेश्वर ने प्रत्याहार सूत्रों के अन्तिम 'हल्' वर्णों को धातुनिमित्तक कहा है।[3] औदुम्बरायण वचन (शब्द) को बौद्ध मानते थे, अतएव उन्होंने शब्द को वक्ता एवं श्रोता की बुद्धि में नित्य बताया है। **'इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः।'**[4] इसका अर्थ यह भी किया गया है—औदुम्बरायण आचार्य के मत में शब्द केवल इन्द्रिय (वाणी) में नित्य है अर्थात् अनित्य ध्वनिरूप) है। पर निरुक्त की व्याख्या का पूर्वापर सन्दर्भ देखने से यह अर्थ संगत नही होता। भर्तृहरि ने वार्तक्षि तथा औदुम्बरायण आचार्यों का नाम लेकर इसका अर्थ 'बुद्धि में वाक्य की नित्यता' किया है। पाणिनि के समकालिक व्याडि ने शब्द के नित्यानित्यत्व पर मुख्य रूप से विचार किया था, दोनो पक्षों में दोष एवं प्रयोजन भी बताये थे तथा निर्णय किया था कि शब्द (स्फोट) नित्य है तथा (ध्वनि) अनित्य। व्याकरण शास्त्र की आवश्यकता दोनों पक्षों में है।[5] व्याडिकृत 'संग्रह' के वाक्य वाक्यपदीय, शृंगारप्रकाश स्याद्वादरत्नाकर एवं धातुवृत्ति ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। महाभाष्य की रचना भी संग्रह ग्रंथ के आधार पर हुई है।[6]

पाणिनीय व्याकरण में पूर्ववर्ती सूत्रकारों तथा दार्शनिक विचारकों का सम्मानपूर्वक उल्लेख तथा उनके मतों पर आस्था

पाणिनीय व्याकरण में पूर्ववर्ती ११ सूत्रकारों तथा दार्शनिकों का सम्मानपूर्वक स्मरण कर उनके मतों में आस्था प्रकट की गई है। उन आचार्यों में स्फोटायन (६।१।१२३) स्फोट शास्त्र के प्रतिपादक वैयाकरण

---

१ निरुक्त १।१

२. ,, १।१२ तथा म० भा० ३।३।१

३. नन्दिकेश्वर कारिका २

४ निरुक्त १।१ तथा स्फोट सि० (भरत), पृ० १

५. वा० प० २।३४८

६. म० भा० १।१।१ पृ० ४६
तथा वा० प० २।४८

कहे गये हैं। शाकटायन (८।३।१८) सभी प्रतिपादकों को धातु से उद्भूत मानने के कारण वर्ण-स्फोटवादी वैयाकरण समझे जाते हैं। निरुक्त में भी यह सिद्धान्त माना गया है।[1] गार्ग्य प्रभृति वैयाकरणों ने सभी संज्ञाओं को धातुमूलक नहीं माना, कुछ को रूढ़ भी माना है।[2]

प्राचीन काल के वैयाकरण तथा निरुक्तकार यास्क ने पद के चार विभाग किये हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात।[3] ब्रह्मवाची 'ओम्' को निपात के अन्तर्गत माना गया है।[4] महर्षि पाणिनि ने केवल दो ही विभाग माने—सुबन्त एवं तिङन्त। उन्होंने उपसर्ग तथा निपात को अव्यय नाम देकर उनसे भी सुप् विभक्ति का प्रयोग तथा लोप कर उन्हें सुबन्त कर दिया। शाकटायन एवं निरुक्तकार यास्क ने शब्द तीन प्रकार के माने हैं—जाति, गुण एवं क्रिया।[5] इसी प्रकार प्राचीन आचार्यों ने सभी पदों को यौगिक माना है। महर्षि पाणिनि ने उणादि सूत्रों से निष्पन्न पदों को रूढ तथा अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मानकर वर्ण की वाचकता को पद में निहित कर पद स्फोट की नींव डाली। अव्यय भी रूढ़ माने गये तथा इन सबकी अर्थवत् सूत्र से प्रातिपदित संज्ञा का विधान किया गया। कातन्त्र व्याकरण के प्रवक्ता ने सभी कृदन्त शब्दों को रूढ़ मान लिया पर अन्य आचार्य यौगिक तथा रूढ़ दोनों प्रकार के शब्द मानकर नियमों का प्रवचन करते रहे। माघकृत शिशुपालवध नामक महाकाव्य के एक श्लोक से व्यक्त होता है कि पाणिनि सम्प्रदाय में सुहृत्, स्वामी, पितृव्य, भ्रातृ, मातुल शब्दों का निपातन ही माना जाता था।[6]

इन सबसे यह निश्चित होता है कि पाणिनीय-व्याकरण पद्धति में यौगिक पदों के साथ योगरूढ़ तथा रूढ़ शब्दों की भी प्रचुरता दिखायी पड़ती है। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, व्याकरण भाषा को सतत प्रवाहमयी मानकर उसका नियमन करता है (शब्द साधुत्व की

---

१. म० भा० उणादयो बहुलम् (३।३।१) नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
२. निरुक्त १।१।१
३. ,, १।१ तथा १।३।६ एवं म० भा० १।१।१
४. गोपथ ब्राह्मण १।१।२६
५. न्यास ३।३।१
६ शिशुपालवध १६।७५

व्यवस्था करता है)। अतः इस पद्धति में वर्ण (प्रकृति-प्रत्यय) तथा पद दोनों को वाचक माना गया है। पद का दर्शन (ज्ञान) कराने के कारण वैयाकरण पददर्शी कहलाते हैं। पददर्शी का यह भी अर्थ है 'पदम्—स्फोट-रूपं—वाचकं शब्दं दर्शयति यः सः' (जो स्फोट रूप वाचक शब्द का ज्ञान कराये) अर्थात् स्फोट-प्रतिपादक। इनके अतिरिक्त अष्टाध्यायी, महाभाष्य तथा वाक्यपदीय ग्रन्थों में ऐसे अनेक मतों का उल्लेख मिलता है, जिनका स्फोट सिद्धान्त में प्रभाव पड़ा है, जैसे जातिवाद, व्यक्तिवाद, वर्णवाद, पद-वाद तथा वाक्य-वाद।

जाति तथा व्यक्तिवाद

अर्थ के द्वारा ही पद का ज्ञान किया जाता है। इस सम्बन्ध में दो मतों (जाति, व्यक्तिवाद) का उल्लेख किया जा चुका है। आचार्य वाजप्यायन[1] जाति को पदार्थ मानते हैं। उनका विचार है कि पदरूप सभी शब्दों का अर्थ जाति है। द्रव्य की प्रतीति तो जाति का आधार होने से होती है। जैसे **'गौस्तिष्ठति'** में गौ का अर्थ गोत्व जाति है, परन्तु जाति तो निष्क्रिय होती है, उसकी स्थिति कैसे सम्भव है, इस कारण गोत्व से उसके आश्रय गौ (द्रव्य) व्यक्ति का ज्ञान होता है, तथा उसी का क्रिया से सम्बन्ध। इसी प्रकार पचति इत्यादि आख्यात (क्रिया) में पाकत्व जाति, शुक्ल आदि गुण शब्दों में शुक्लत्व जाति है। इस जाति-दर्शन में उपसर्ग व निपात पदों का भी अर्थ जातिपरक माना गया है। क्रियाकारक-भाव इत्यादि सम्बन्धों का निर्वाह जाति से अध्याहृत व्यक्ति द्वारा मान लेने से, सर्वत्र व्यवस्था हो जायगी।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि सत् से तल प्रत्यय करने से सत्ता (जाति) तथा त्व प्रत्यय करने से सत्त्व (द्रव्य) पदों की निष्पत्ति होती है, अतः दोनों वस्तुतः एक हैं। साधन (कारक) के सम्पर्क से सत्ता ही सत्त्व होती है। जाति को पदार्थ मानने पर 'ब्रह्म ही जाति रूप से सभी में अन्वित है तथा द्रव्य को पदार्थ मानने पर 'जाति' (ब्रह्म) परमार्थ रूप से सब में अधिष्ठित रहता है।' यह अर्थ प्रतीत होता है। प्रलय होने पर जब आत्यन्तिक लय नहीं होता है तब एक ब्रह्माण्ड के विनष्ट होने पर

---

1. म० भा० १.२।६४

भी दूसरे ब्रह्माण्ड में उन व्यक्तियों के रहने से उनमें आश्रित जाति रहेगी या जैसे वस्तु के न होने पर बौद्ध घट की सत्ता मानी जाती है, वैसे ही निराश्रित जाति भी प्रलय में रहती ही है।

व्याडि ने द्रव्य को पदार्थ माना है।[1] अतः क्रिया कारक एवं गुण-गुणी का सीधा सम्बन्ध होता है। इसी को मानकर भाष्यकार ने कहा है—कि 'द्रव्य नित्य है आकृति अनित्य है।'[2] जातिवादी के मत में जाति को द्रव्य का उपलक्षण माना जाता है। शब्द से व्यक्ति का ही बोध होता है। जाति को उपलक्षण स्वरूप स्वीकार कर लेने से घट' शब्द से सभी घटों का बोध किया जाता है, इसीलिए '**न ब्राह्मणं हन्यात्**' (ब्राह्मण को न मारना चाहिए) में ब्राह्मण पद ब्राह्मण जाति का उपलक्षण है, अतः समस्त ब्राह्मण को मारने का निषेध हो जाता है। द्रव्यपदार्थवादी के मत में शब्द नित्य है, उपाधियाँ (आकृतियाँ) अनित्य हैं। निराकार वस्तु बुद्धि की विषयीभूत नहीं हो सकती तथा आकार द्वारा ही वस्तु का निश्चय होता है, अतः उपाधियाँ मानी जाती हैं। उन सभी आकारों से एक सत्य (ब्रह्म स्वरूप) शब्द का ही अभिधान होता है। जैसे कुण्डल आदि विकारों के नष्ट होने पर सुवर्ण सत्य रूप में दिखाई पड़ता है या पृथ्वी, जल आदि विकार के विनाश में एकमात्र चिद्रूप प्रकृति स्थित रहती है तथैव प्रकृति-प्रत्यय, क्रिया-कारक नाम-आख्यात, उपसर्ग-निपात आदि विकारों को अपने में उपसंहृत कर एक ही चिन्मय शब्द तत्त्व नित्य, अविकारी द्रव्य स्वरूप है।[3]

सूत्रकार पद का जाति तथा व्यक्ति दोनों ही अर्थ मानते थे अर्थात् घट पद का घड़ा अर्थ है तथा उसमें रहने वाली घटत्व जाति। जाति को पदार्थ मानकर उन्होंने '**जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्**' (१।२।५८) सूत्र की रचना की है यदि पद का जाति अर्थ हो, तब एक वचन के स्थान पर विकल्प से बहुवचन होता है, जैसे ब्राह्मणः पूज्यः, ब्राह्मणाः पूज्याः) तथा **अनेकमन्यपदार्थे** (२।२।२४) सूत्रस्थ अनेक पद भी जात्यभिप्रायक है। व्यक्ति (द्रव्य) को पदार्थ मानकर '**सरूपाणामेकशेष एक**

---

१. म० भा० १।२।६४

२. म० भा० १।१।१

३ वाक्य० तृ० का० द्रव्य समुद्देश श्लोक १५ १६

विभक्तौ' (१।२।६४) सूत्र बनाया है, तभी अनेक बालक व्यक्तियों में एक बालक का शेष रहता है, वही सभी का अर्थ बोधक भी होता है। कृपो रोलः (८।१।१८) सूत्रस्थ 'उभयथा स्फोटमात्रं निर्दिश्यते रश्रुतेर्लश्रुतिर्भवति' वार्तिक में र, ल् रत्व, लत्व जातिपरक हैं। अन्यथा ऋ में र् कहाँ मिलेगा, परन्तु रत्व जाति तो है ही, क्योंकि वह वर्ण व्याप्य है। अतः जहाँ भी र् का श्रवण होगा वहाँ रत्व जाति होगी। भले र् व्यक्ति न हो।

'सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे' वार्तिक में उक्त शब्द-नित्यत्व तद्गत जाति की नित्यता से ही सम्भव है। भाष्यकार ने 'अ इ उ ण्' सूत्र के भाष्य मे कहा है कि वर्णों में आकृति (जाति) का उपदेश किया गया है, अर्थात् अ, इ, उ का अर्थ अत्व, इत्व, उत्व जाति है, इससे उदात्त, अनुदात्त, ह्रस्व, दीर्घ सभी अकार इकार तथा उकारों का बोध होगा। यदि जातिपक्ष न मानें तो भी सभी आकार सरूप हैं, अतः एक अ के उच्चारण से सभी का बोध होगा।[1] महाभाष्य के पस्पशाह्निक में आकृति एवं द्रव्य (व्यक्ति) दोनों को प्रकारान्तर से नित्य माना गया है। आकृति जातिपरक होने से तथा द्रव्य असत्य उपाधियों से युक्त ब्रह्मतत्त्व का वाचक होने से नित्य है। विभिन्न स्वरूपार्थक आकृति तथा व्यक्ति वाची द्रव्य अनित्य हैं। शब्द, अर्थ के विषय में आकृति तथा द्रव्य नित्य स्वरूप माने गये हैं, अनित्य नहीं।[2]

वर्णवाद

वर्णवाद वस्तुतः मीमांसकों का अभिमत है, क्योंकि वे वर्णों को ही नित्य तथा अर्थबोधक मानते हैं वेदान्ती भी इन्हीं का अनुसरण करते है। वर्ण ही स्मृति में संस्कार के द्वारा क्रमशः अवगत होकर अर्थ का बोध कराते हैं।[3] वैयाकरण वर्ण को दो रूपों में बोधक मानते हैं। एकाक्षर शब्द अकारादि, जिनको कोश में सार्थक माना गया है। जैसे अ का अर्थ वासुदेव है। तथा प्रकृति-प्रत्यय रूप, यथा भू का अर्थ सत्ता, सु का अर्थ प्रथमा एकवचन। इनमें वाचकता केवल व्याकरण-कार्य-निर्वाहार्थ मानी जाती है, प्रयोग में नहीं। प्रकृति प्रत्यय रूप वर्ण की अर्थ बोधकता मानकर महर्षि पाणिनि ने **'सुप्तिङन्तम्' पदम्** (१।४।१४) में सुप् तया तिङ् का समास

१. म० भा० १।१।१ पृ० ७०-७१
२. ,, ,, ,, ४९-५०
३ शब्द निर्णय कारिका १२

किया है, क्योंकि बिना प्रातिपदिक हुए इनमें समास न होता तथा बिना अर्थवान् माने इनकी प्रातिपदिक संज्ञा न होती। महाभाष्यकार ने वर्णों का अर्थतत्त्व मतान्तर के रूप में माना है।[1] वर्णों की वाचकता वही मानी जाती है, जहाँ प्रकृति प्रत्यय अलग अलग हैं, जैसे भवति, रामस्य आदि। जहाँ दोनों मिल गये हैं या विकार हो गया है, जैसे रामेण (राम+इन), प्रेष्ठः (प्रिय+इष्ठन्) वहाँ समूह को ही वाचक मानना उचित है। वर्ण-वाद वस्तुतः ध्वनि के लिए माना जाता है। वैयाकरण तो अर्थबोधक को शब्द मानते हैं। वर्णों में अर्थ बोधकता नहीं है, यदि होती तो कूप, सूप, यूप, अपूप के क्रमशः कुवाँ, दाल, यज्ञ का खम्भा एवम् पुआ, ये विभिन्न अर्थ न होते, क्योंकि चारों में केवल एक वर्ण का अन्तर है; शेष वर्ण तो समान ही हैं।

पदवाद

पद वाद नैयायिकों द्वारा मान्य है। वे विभक्त्यन्त वर्णों को पद मानते हैं—'ते विभक्त्यन्ताः पदम्।[2] सुप्तिङन्तम् पदम्' (१।४।१४) सूत्र के द्वारा ऐसे ही पद की परिभाषा की गई है। वैयाकरण इसे यौगिक तथा योगरूढ़ पद के अन्तर्गत मानते हैं। नैयायिक वर्ण क्रम से पद का ज्ञान मानते हैं। वैयाकरण वर्णों से अतिरिक्त पदों को स्वतन्त्र इकाई मानते है, जिसमें वर्णों का आभास मात्र होता है। पद वाद निरुक्तकार को भी अभिमत है। भाष्यकार ने भी उसी आधार पर नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात चार पदों को गिनाया है। इसी कारण वैयाकरण पदवादी कहे जाते हैं।

वाक्य वाद

वाक्यवाद यद्यपि नैयायिक तथा मीमांसकों को भी अभीष्ट है। न्यायसूत्र भाष्यकार का कथन है—पदों का समूह वाक्य है।[3] मीमांसक वाक्य को लक्ष्य मानते हैं, परन्तु वैयाकरणों का वाक्यवाद अन्य प्रकार का है। यह न पद-समूह है, न पदों से लक्ष्य ही, वरन् अर्थ बोधक स्वतन्त्र इकाई है। इसकी अखण्डता एवं एकता की पुष्टि औदुम्बरायण आचार्य

१. म० भा० (ह य व र ट् सूत्र)
२. न्यायसूत्र २।१।५५
३ ,, २ १।५५ भाष्य

ने की है तथा लोक व्यवहार इसमें प्रमाण है। बोलना, समझना वाक्य के रूप में ही होता। हर्ष, शोक आदि भावों का बोध भी वाक्य के माध्यम से होता है। केवल वर्ण या पद का उच्चारण करने वाला बालक क्रिया को साथ लिये रहता है भले ही उसका उच्चारण न करे—(लोती (रोटी) कहता हुआ वह 'रोटी दो' ऐसी भावना रखता है।)

स्फोट सिद्धान्त में सभी विचारों का समादर

इसके पूर्व द्वितीय, तृतीय परिच्छेदों में व्याकरण दर्शन पर अद्वैत-द्वैत वेदान्त, शैव-शाक्त, न्याय-मीमांसा सभी दर्शनों के प्रभाव का उल्लेख किया जा चुका है। इन सब के समन्वयन के लिए ही स्फोट के आठ भेद माने गये हैं, इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—वर्णवादी मीमांसक, वेदान्ती के अनुसार वर्ण वाचक हैं। नैयायिक पद को वाचक मानते हैं। अन्विताभिधानवादी प्रभाकर मतानुयायी पद रूप वाक्य को वाचक मानते हैं। अद्वैत शैव तथा शाक्त वाणी के परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी नामक चतुर्विध रूप मानकर अखण्ड स्फोट मानते हैं तथा विशेष रूप से आन्तर स्फोट का बहिः प्रकाश स्वीकार करते हैं। स्फोट सिद्धान्त में उपर्युक्त सभी विचारों का समादर किया गया है तथा स्फोट को ही वाचक मानकर वर्ण, पद, वाक्य, जाति, व्यक्ति रूप उपाधिवश उतने ही भेद मान लिए गए हैं।

आन्तर स्फोट निरूपण

उपर्युक्त आठ प्रकार स्फोट बाह्य स्फोट के भेद हैं, उसी में जाति, व्यक्ति, वर्ण, पद, वाक्य की कल्पना होती है, वही वैखरी रूप में प्रकाशित होता है। उससे पूर्व तथा समस्त वैखरी नाद का मूल निमित्त, जिसे केवल वक्ता ही सुनता है, वह आन्तर स्फोट है, तथा मुख्य वाचकता उसी में रहती है। जब श्रोता उसे वैखरी रूप में सुनता है तो उससे अर्थ बोध नहीं होता, वरन् उसके द्वारा अभिव्यक्त श्रोता की बुद्धि में स्थित आन्तर स्फोट से होता है।

तपरस्तत्कालस्य (१।१।७०) के महाभाष्य में आन्तर को ही स्फोट कहा गया है, बाह्य को वैकृत ध्वनि। इसमें तीन क्रम हैं, स्फोट शब्द (वाचक) है। प्राकृत ध्वनि उस वाचक रूप आन्तर स्फोट को अभिव्यक्त करती है। ह्रस्व, दीर्घ एवम् प्लुत ये प्राकृत ध्वनि के धर्म हैं जो स्फोट में

आरोपित होते हैं, क्योंकि अन्दर के वायुजनित प्रयत्न ही उस प्रकार के रहते हैं, जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता। स्फोट की अभिव्यक्ति के अनन्तर शब्द रूप उस स्फोट को थोड़ा या अधिक देर तक सुनने योग्य बनाये रखने वाली ध्वनि वैकृत ध्वनि है। प्राकृत ध्वनि का काल तो स्फोट मे अनिवार्यतः रहता है। अतः ह्रस्व अ के ग्रहण में दीर्घ का ग्रहण न हो तदर्थ **'तपरस्तत्कालस्य'** सूत्र आवश्यक है। वैकृत ध्वनि के द्वारा तो स्फोट मे भेद होता नहीं, वह तो स्फोट (प्राकृत ध्वनि मिश्रित वाचक शब्द) की अभिव्यक्ति के बाद में होती है। स्फोट न मानने पर जैसे आकार ह्रस्व आदि के भेद से भिन्न है, वैसे ही द्रुत, मध्यम, विलम्बित भेद से भी भिन्न होता, ऐसी स्थिति में यदि द्रुत वृत्ति में अ का उच्चारण किया है, तब मध्यम वृत्ति में उच्चरित अ के उससे भिन्न होने से उसका संग्रह न होता। स्फोट मानने पर केवल ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद तो अ' के माने जाते हैं। द्रुत आदि नहीं। भर्तृहरि ने इसे वाक्यपदीय में स्पष्ट रूप से कहा है।[1]

आन्तर स्फोट ही पद हैं, इसी से अर्थ का प्रकाश होता है। पद का व्यावहारिक अर्थ है—'पद्यते-गम्यते अर्थः येन तत्पदम्' महर्षि पाणिनि को भी आन्तर स्फोट अभीष्ट है, तभी उन्होंने ह्रस्व आदि भेदों को मानकर 'तपरस्तत्कालस्य' सूत्र की रचना की, परन्तु द्रुत आदि भेदों के निवारणार्थ कोई नियम नहीं बनाया। मंजूषाकार ने भाष्य, वाक्यपदीय के विचारों का विशद रूप से संकलन किया है।[2] संग्रहकार व्याडि भी स्फोट के आन्तर तथा बाह्य दो भेदों को मानते थे। उनके मत का उल्लेख भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ टीका में इस प्रकार किया है—[3]

अर्थ के वाचक तथा उसकी व्युत्पत्ति के मूलकारण शब्द को उपादान कहते हैं। अव्युत्पत्ति पक्ष में शब्द अपने स्वरूप को ही उपस्थापित करता है, क्योंकि उस पक्ष में कोई प्रकृति या प्रत्यय तो माने नहीं जाते, अतः साधुत्व-बोध के लिए उसका स्वरूप ही रहता है, तभी उसकी प्रातिपदिक सज्ञा होती है। व्युत्पत्ति पक्ष में 'गौ' शब्द मनुष्य से, अन्य पशुओं से विलक्षण गौ की प्रवृत्ति का निमित्त होता है। वह शब्द स्वरूप से भिन्न

---

१. वाक्य० कारिका १।७६-७८

२. मंजूषा, पृ० १९८-२०१

३ वाक्य० १।४५ स्वोपज्ञ एव अम्बाकर्त्री

वस्तु रूप है। प्रथम पक्ष में प्रवृत्ति का निमित्त शब्द का स्वरूप है, द्वितीय पक्ष में अर्थ। यही भाव **स्वंरूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा** (१।१।६८) सूत्र एवं उसके भाष्य से ध्वनित होता है। इसी कारण शब्द, अर्थ दोनों में अभेद सम्बन्ध रहता है। शब्द ज्ञान रूप है, वक्ता के प्रयत्न विशेष से संजात, वायु सहकृत ध्वनि के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है, उसका नाम शब्द (स्फोट) है। उसमें बाह्य अर्थ प्रतिबिम्ब की तरह स्थिर हो जाता है, क्योंकि अर्थ का ग्रहण शब्द का स्वभाव है। जैसे वक्ता के अन्तःकरण में ज्ञान रूप घट विद्यमान है, उसने उस ज्ञान को ध्वनि के द्वारा प्रकाशित किया, उसी के साथ में घड़ा पदार्थ का बोध हो गया। वह घड़ा जहाँ न रहेगा, वहाँ भी शब्द के उच्चारण में 'अर्थ' पदार्थ रूप नहीं, बल्कि शब्द रूप रहता है। वहाँ अर्थ प्रतिबिम्ब-स्वरूप है। शब्द के उच्चारण-काल में अर्थ अपने स्वरूप को त्याग कर शब्दरूप बन जाता है। अतः जब शब्द का उच्चारण होता है तब दो शब्द प्रतीत होते हैं, पहला वैखरी-ध्वनि-रूप-शब्दों का निमित्त, क्योंकि अर्थ बोध की इच्छा से वक्ता शब्द-प्रयोग करता है। अतः ज्ञान स्वरूप शब्द ही वाचक हुआ और वही बाह्य शब्द का कारण बना। (यहाँ फल को हेतु माना गया है) दूसरा, जो उच्चरित होता है।

इसी को दूसरी रीति से इस प्रकार कहा जा सकता है—वक्ता की बुद्धि में अक्रम स्फोट है, बोलने पर वैखरी रूप सक्रम शब्द अभिव्यक्त होता है। यहाँ अक्रम निमित्त हुआ, सक्रम अर्थ बोधक हुआ। श्रोता की बुद्धि में भी अक्रम स्फोट है, वैखरी रूप सक्रम शब्द सुनने पर वह अक्रम स्फोट से अर्थ बोध करता है। यहाँ सक्रम निमित्त तथा अक्रम प्रतिपादक (अर्थ-बोधक) होता है। संग्रहकार ने इसी भाव को निम्नलिखित ढंग से कहा है—

'अविभक्तो विभक्तेभ्यो जायतेऽर्थस्य वाचकः
शब्दस्तत्रार्थरूपात्मा सम्भेदमुपगच्छति ॥'

अक्रम आन्तर स्फोट सक्रम वर्णात्मक ध्वनियों से अभिव्यक्त होकर अर्थ का वाचक होता है। बुद्धि में ही अर्थ स्वरूप शब्द रहता है, बाहर नहीं, अतः वहीं दोनों का तादात्म्य (वाच्य-वाचक सम्बन्ध) स्थापित होता है। यहां अभिव्यक्त आन्तर स्फोट है तथा विभक्त बाह्य ये दोनों वक्ता, श्रोता की

बुद्धियों में निमित्त, प्रत्याक होते हैं।[1]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह सिद्ध होता है कि समस्त वैयाकरण आचार्यों ने स्फोट के अन्तःस्वरूप की रक्षा करते हुये उसके बाह्य आकार में क्रमशः परिवर्धन किया है। आन्तर स्फोट के लिए निम्नलिखित पर्यायों का व्यवहार हुआ है। शब्द,[2] शब्दतत्त्व,[3] वाग्रूपता,[4] ब्रह्म[5] स्वरूपज्योतिः,[6] स्फोट,[7] परावाक्,[8] मध्यमावाक्।[9] बाह्य स्फोट के लिये शब्द[10] नाद,[11] स्फोट,[12] ध्वनि,[13] (प्राकृत तथा वैकृत) आदि पद प्रयुक्त हुए हैं।

इस आन्तर स्फोट के कोई विभाग नहीं है। यह अक्रम है, बाह्य स्फोट में भी उसका चित् स्वरूप अक्षुण्ण रहता है। सभी भेद चाहे प्रयत्नजन्य ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि हों या स्थानजन्य कत्व खत्व आदि, ध्वनि के हैं, वही आन्तर स्फोट की अभिव्यक्ति करती है तथा व्यावहारिक भेद का कारण होती है। उसी के कारण घट ध्वनि से अभिव्यक्त स्फोट पट ध्वनि से अभिव्यक्त स्फोट से भिन्न है। कैयट, भट्टोजिदीक्षित, मौनि श्रीकृष्ण भट्ट तथा कौण्डभट्ट ने महाभाष्य के प्रसंगानुसार व्याख्यानों के आधार पर जो अष्टविध स्फोट गिनाये हैं, वे बाह्य स्फोट के ही भेद हैं। स्वयं कौण्ड भट्ट ने जाति को नित्य मानकर, पुनः 'आत्मैवेदं सर्वम्' इस श्रुति विरोध के कारण उसे भी असत्योपाधि कहकर निरंजन (उपाधि रहित) शब्दतत्त्व (ब्रह्म) को सत्य कहा है।[14] नागेश भट्ट ने मुख्य रूप से अर्थबोध के लिए आन्तर स्फोट में अपनी आस्था प्रकट की है। उन्होंने स्फोटरूप शब्द तत्त्व को सृष्टिपर्यन्त समाज के व्यवहार में नित्य माना है, परन्तु स्फोट के नित्यत्व का

---

१ वाक्य० स्वोपज्ञ० कारिका ४४ (अम्बाकर्त्री सहित), पृ० १०१
२. महाभाष्य १।१।१, पृ० ८
३. वाक्य० १।१
४. ,, १।१२४
५. प्रपंचसार, १।४३
६. महाभारत } मंजूषा, पृ० ४१; ४२
७. हरिवंश } में उद्धृत
८. महाभारत, वाक्यपदीय (१।१४२ में उद्धृत
९. मंजूषा, पृ० १५१
१०. म० भा०, पृ० १४
११. तन्त्र (स्वच्छन्द) पटल ४ श्लोक ३७५
१२. म० भा० १।१।७० तथा वा० प० १।४७
१३. भूषण स्फोट निरूपण ७४
१४. ,, ,, ,, ७४

विरोध नहीं किया। इस प्रकार उन्होंने शाकटायन के इन्द्रियनित्यतत्त्व का शैवागम के आधार पर समर्थन किया है। ओंकार एक सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' यह श्रुति वाक्य प्रणवरूप आन्तर स्फोट में प्रमाण है।[1]

व्यवहार की प्रधानता एवं स्फोट सिद्धान्त में उसका सर्वोपरि प्रभाव

आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड में पूर्वाचार्यों के द्वारा सम्मत आठ प्रकार के वाक्यों को गिनाया है, इनमें तीन अखण्ड वाक्य हैं तथा पाँच सखण्ड। इनमें भी दो भेद हैं। तीन अन्विताभिधान पक्ष में तथा दो अभिहितान्वयवाद में माने गये हैं। शास्त्र-व्यवस्था मात्र के लिए सखण्ड वाक्य पक्ष के अनुगामी, वैयाकरण मीमांसक तथा नैयायिक है। परन्तु वैयाकरणों ने सिद्धान्त में अखण्ड पक्ष माना है, अतः उनके मत में वाक्य का लक्षण है **'एकोऽनवयवः शब्दः वाक्यम्'**[2] (अवयव रहित एक वाचक शब्द ही वाक्य है।) अनवयव तथा एक कहने से ही यह स्फोटात्मक वाक्य की परिभाषा सिद्ध होती है। वाक्य स्फोट को ही मुख्य कहा गया है। इसका कारण व्यवहार है। व्यवहार वाक्य का ही होता है। भाषा का आदि रूप भी वाक्य में ही था। तब वाणी अखण्ड थी। वक्ता तथा श्रोता के बीच अर्थ-बोध का माध्यम वाक्य था। पद, वर्ण का क्रम तो प्रक्रिया की दशा में आता है। इसलिए वैयाकरणों ने अर्थ-बोध में प्रक्रिया के नियमों को गौण मानकर वाक्य का स्वतन्त्र लक्षण किया। व्यवहार में वाक्य से निश्चित अर्थ की प्रतीति होती है, इसलिए बालक अखण्ड वाक्य से वाक्यार्थ का ज्ञान करता है। ऐसे भी स्थल हैं, जहाँ पद से एक अर्थ निकलता है, वाक्य से उससे भिन्न। विशेष रूप से काव्यों में व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें वाक्यार्थ पदार्थ से बिलकुल भिन्न है। जैसे—

इन्दोर्लक्ष्म स्मरविजयिनः कण्ठमूलम् मुरारि-
दिङ्नागानां मदमलमषीभांजि गण्डस्थलानि।
अद्याप्युर्वीवलयतिलक! श्यामलिम्नानुलिप्ता-
न्युद्भासन्ते वद धवलितं किं यशोभिस्त्वदीयैः॥

---

१ ऐतरेय २।३।७

२ वा० प० २ १

इन श्लोक के पदार्थ बोध काल में राजा की निन्दा होती है—हे राजन् ! आप व्यर्थ ही घमण्ड करते हैं। आप का यश, जो बड़ा धवल है, अभी तक सर्वत्र नहीं फैला; क्योंकि चन्द्रमा का कलंक शिव जी का कण्ठ, भगवान् विष्णु तथा दिग्गजों के गण्डस्थल अब भी काले हैं। यश तो शुभ्र होता है, उससे व्याप्त होने पर ये भी शुभ्र हो जाते। परन्तु इसी के वाक्यार्थ बोध से स्तुति व्यक्त होती है - हे राजन् ! आप के यश से सारा का सारा विश्व धवलित हो गया है, केवल स्वभाव के दुस्त्यज होने से त्रिभुवन में चार वस्तुयें ही श्याम रह गई हैं, अत: आपका यश सर्वत्र व्याप्त हो गया है (यह स्तुति प्रतीत हो रही है) इस प्रकार व्यवहार काल में निश्चित अर्थ की प्रतीति वाक्य से होने के कारण वही मुख्य है तथा एक, अवयव रहित, क्रम विहीन होने से वह स्फोट स्वरूप है, इसीलिए चाहे **'देवदत्त ! गाम् आनय'** कहिये या 'गाम् देवदत्त ! आनय' या **'आनय देवदत्त !** गाम्' अर्थ बोध में कोई अन्तर न होगा। यही कारण है कि स्फोटवादी की आकाँक्षादि ज्ञान को वाक्यार्थ बोध स्थल में कारण नहीं मानना पड़ता।

स्फोट विरोधी दार्शनिकों द्वारा प्रकारान्तर से स्फोट की मान्यता

जितने भी स्फोट विरोधी दार्शनिक हैं तथा जिन्होंने बड़े-बड़े शब्दों में स्फोटवाद का खंडन किया है, सूक्ष्म निरीक्षण करने से वे सभी नामान्तर से स्फोट समर्थक ही प्रतीत होते हैं। सभी दार्शनिक बोध के समय शब्दगत ऐक्य के समर्थक हैं, चाहे वर्ण समूह मानें चाहे उनसे पृथक्। न्यायसूत्र भाष्यकार वात्स्यायन ने तर्क, मीमांसा शास्त्र को वाक्य रूप वाणी का अन्वाख्यान कहा है।[1] स्पष्ट ही उनका संकेत वाक्य की वाचकता की ओर है। मीमांसा भाष्यकार ने पदार्थ द्वारा वाक्य को लक्ष्य मानकर उसमें वृत्ति तो मानी ही है।[2] दीपिका-कार पार्थसारथि मिश्र ने दृढ़ स्मृति में स्थित वर्णों को वाचक मानकर समस्त रूप से अर्थबोध सिद्धान्त को मान्यता दी है।[3] अन्विताभिधानवाद तो सखण्ड वाक्यार्थबोधक ही है, उसके अनुसार अन्वित पद ही अर्थ बोधक होते हैं। जैसे वैयाकरण आचार्यों

---

१. न्या० भा० २।१।५५

२. त० वि० पृष्ठ १६१ में उद्धृत

३ दीपिका, पृ० ३७६

ने समस्त प्रचलित शब्दों को सुसंस्कृत कर, प्रयोगार्ह बनाया उसी तरह उन्होंने सभी दार्शनिकों के विचारों को आत्मसात् कर उनका स्फोट सिद्धान्त में उपयोग किया। इस स्फोट सिद्धान्त ने सभी दार्शनिकों को एक मंच पर बैठकर अपने विचार प्रस्तुत करने के लिए अवसर प्रदान किया। वर्णवादी मीमांसक, पद वादी नैयायिक को समन्वित करने के लिए वाक्यवादी वैयाकरणों ने एक स्फोट की वर्ण स्फोटवाद, पद स्फोटवाद वाक्य स्फोटवाद रूप त्रिविध व्याख्या प्रस्तुत की। यौगिक, योगरूढ़ शब्दों को मानते हुये नैयायिक सखंड पद स्फोट को ही नामान्तर से मान रहे हैं। इसी प्रकार रूढ शब्दों की मान्यता अखंड वाक्य स्फोट में उनकी निष्ठा व्यक्त करती है।[1] वाचस्पति मिश्र स्फोट विरोधी होते हुये भी प्रकारान्तर से सखंड स्फोटवादी प्रतीत होते हैं। ये षड्दर्शनों में पारंगत थे, तथा सभी दर्शनों पर इनकी टीकायें उपलब्ध होती हैं। पातंजल योगदर्शन भाष्य की तत्त्ववैशारदी (पृष्ठ १२५) व्याख्या में इन्होंने स्फोटवाद का समर्थन किया है।

स्वनिर्मित शब्द विचार विषयक ग्रन्थ 'तत्त्वविन्दु' में इन्होने मीमांसक भट्ट कुमारिल के मत का समर्थन किया है। वहाँ पूर्व पक्ष के रूप मे इन्होंने वैयाकरण, नैयायिक, उपवर्ष व्यास आदि प्राचीन मीमांसक तथा अन्विताभिधानवादी प्रभाकर के मतों का उल्लेख कर क्रमशः सभी का निराकरण करते हुये भी सखण्ड वाक्य स्फोट का प्रकारान्तर से समर्थन किया है। इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—इन्होंने अर्थबोध के विषय मे कहा है—पद-समूह के सुनने के अनन्तर ही पद, पदार्थ की संगति (सम्बन्ध) को जानने वाले पुरुषों की अज्ञात अर्थ विषयक बुद्धि का उदय होता है, उस बुद्धि के निमित्त के विषय में दार्शनिकों में बड़ा मतभेद है—(पुरुष यह तो जानते हैं, कि इस पद का यह अर्थ है, पद-समूह का अर्थ नहीं जानते, पर अर्थ बोध होता है। उस सामूहिक अर्थ बोध का निमित्त क्या है ? इस पर विवाद है।) इस पर पाँच मत हैं—

(१) **वैयाकरण मत**—अनवयव वाक्य ही अर्थ का बोधक है वर्ण-पद विभाग की कल्पना असत्य है।

(२) **नैयायिक मत**—पूर्व पूर्व वर्णों के सुनने के बाद ज्ञान, उसमे स्मृति के द्वारा पदार्थ बोध होता है। पद समूह के प्रतिसन्धान से वाक्य ज्ञान तथा पदार्थों के ज्ञान से वाक्यार्थ ज्ञान होता है।

---

1. स्फो० च०, पृ० ६-८

(३) **पूर्व मीमांसक तथा वेदान्ती मत**—एक स्मृति में आरूढ़ वर्ण-माला ही वाक्यार्थ बोधक होती है।

(४) **अन्विताभिधान वादि प्रभाकर मत**—आकांक्षा, योग्यता तथा आसक्तिवश दूसरे पदार्थ से अन्वित पूर्व पद ही सम्पूर्ण शब्दार्थ के बोधक होते हैं।

(५) **कुमारिलभट्ट मत**—मिले-जुले पदों से उक्त उनके अर्थ आकांक्षा-योग्यता तथा आसक्तिवश वाक्यार्थ बोध के हेतु होते हैं[1]

ग्रन्थ का उपसंहार करते हुये इन्होंने पंचम मत को सिद्धान्त माना है तथा शाबर भाष्य को उद्धृत करते हुये कहा है—पद अपना-अपना अर्थ-बोध कराकर व्यापार-विरत हो जाते हैं। पदार्थ ही अवगत होकर वाक्यार्थ के बोधक होते हैं। अन्तर इतना है कि वैयाकरण वाक्यार्थ को शक्तिजन्य मानते हैं, मीमांसक लक्षण जन्य।[2] महाभाष्यकार पतंजलि ने संसर्ग रूप वाक्यार्थ को वाक्यजनित मानकर वाक्य में शक्ति मानी है, परन्तु ये वाक्यार्थ को लाक्षणिक मानते हैं। है यह सखण्ड वाक्य ही।

१. तत्त्वबिन्दु, पृ० ५-८
२ „ „ १६१

एकादश परिच्छेद

●

णिनीय व्याकरण पद्धति में अष्टविध स्फोट

अष्टविध स्फोटों की गणना। २. प्रकृति, प्रत्यय के अवयव अर्थ-बोधक नहीं होते हैं।

वर्ण स्फोट विचार। ४. सूत्र एवं भाष्यकारों द्वारा वर्ण स्फोट का समर्थन।

प्रयुक्त शब्द (आदेश) ही वाचक हैं, स्थानी (मूल प्रकृति-प्रत्यय) नही

शक्ति ग्राहक व्यवहार आदेशों का होता है, स्थानी का नहीं।

पद स्फोट विचार। ८. पद स्फोट नैयायिकों को भी अभिमत।

पद स्फोट की मान्यता में मुनित्रय की सहमति।

वाक्य स्फोट विचार। ११. वाक्य स्फोट की मान्यता।

वाक्य में पृथक् शक्ति मानना अनिवार्य है।

वाक्य स्फोट में पाणिनि प्रभृति महर्षियों की सम्मति।

तात्पर्य ज्ञान द्वारा वाक्यार्थ बोध का खण्डन।

नैयायिकों का शाब्द बोध प्रकार तथा उसका खण्डन।

वाक्य शक्ति के समर्थन में व्यवहारानुगामी (वैयाकरण) के पुष्ट तर्क

नैयायिकों की शंका तथा उसका समाधान १८. वाक्यार्थ बोध प्रकार

मीमांसकों की आपत्ति का निराकरण २०. वाक्यविचार में निष्कर्ष

वाक्यार्थ बोध में सामान्य शंका तथा उसका निराकरण।

मीमांसक का पद बोध प्रकार तथा उसका खण्डन।

स्फोट के भेद बोद्धा के अनुसार, दार्शनिकों के अनुसार नहीं।

स्फोट के सखण्ड-अखण्ड पक्ष।

अखण्ड पद स्फोट। २६. अखण्ड वाक्य स्फोट।

अखण्ड स्फोट विषयक शंका समाधान।

क) प्राचीन वैयाकरणों का उत्तर (ख) नव्य वैयाकरणों द्वारा समाधान

पाणिनीय वैयाकरण सम्प्रदाय में आठ प्रकार के स्फोटों का निरूपण किया गया है।[1] इसका क्रम इस प्रकार है :—

अष्टविध स्फोटों की गणना
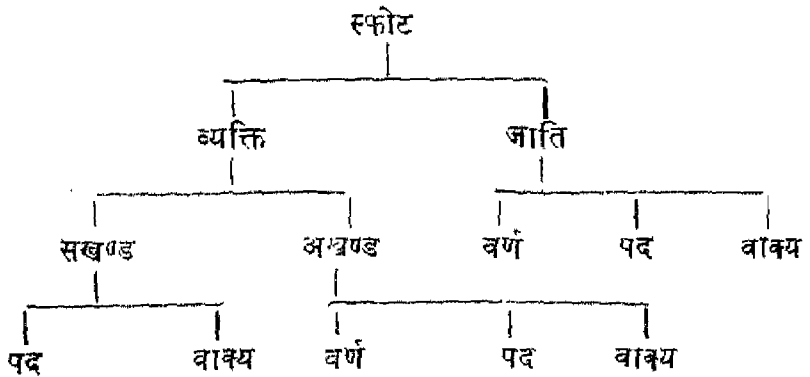
अधिक स्पष्ट रूप में समझने के लिए इनका गणना इस प्रकार की जा सकती है :—

१. सखण्ड व्यक्ति पद स्फोट   २. सखण्ड व्यक्ति वाक्य स्फोट।
३. अखण्ड व्यक्ति अर्थ स्फोट   ४. अखण्ड व्यक्तिपद स्फोट।
५. अखण्ड व्यक्ति वाक्य स्फोट   ६. वर्ण जाति स्फोट।
७. पद जाति स्फोट   ८. वाक्य जाति स्फोट।

उपर्युक्त गणना में कई वैयाकरण आचार्यों के मतों का समन्वय किया गया है। आचार्य व्याडि व्यक्ति को पदार्थ मानते थे तथा वाजप्यायन जाति को। महर्षि पाणिनि ने दोनों के मतों का ग्रहण किया है तथा महाभाष्यकार ने उनका समर्थन किया है। सखण्ड, अखण्ड भेद परम प्राचीनकाल से चले आ रहे हैं। इस अखण्ड वाणी को सर्वप्रथम वैयाकरण विद्वान् इन्द्र ने

---

१. स्फोटवाद पृ० १ तथा वै० भू० सा० स्फोट निर्णय

व्याकृत (विभक्त) कर प्रकृति, प्रत्यय की कल्पना की थी। रह गये वर्ण, पद तथा वाक्य विभाग। ये विभाग व्याकरण-पद्धति के निर्वाह के लिए माने गये हैं। इनका क्रमशः विवेचन आगे किया जायगा।

प्रकृति प्रत्यय के अवयव अर्थ बोधक नहीं

वर्ण के सखण्ड तथा अखण्ड भेद नहीं किये गये हैं। यहाँ पर प्रकृति तथा प्रत्यय को ही वर्ण माना गया है, जैसे **भवति** में 'भू' प्रकृति तथा 'ति' प्रत्यय एवम् रामः में 'राम' प्रकृति एवं 'विसर्ग' प्रत्यय अर्थ के वाचक हैं। इन प्रकृति-प्रत्ययों के अवयव वर्ण रूप हो सकते हैं, परन्तु वे अर्थबोधक नहीं हैं, जैसे 'भू में भ् तथा ऊ का' पृथक् अर्थ नहीं है। अतः इन्हें अखण्ड ही माना गया है, क्योंकि स्फोट का अर्थ वाचक है। प्रकृति, प्रत्यय के अवयव वाचक नहीं होते। अतः वर्ण स्फोट के अन्तर्गत ये नहीं आ सकते।

वर्ण स्फोट विचार

वर्ण स्फोट का अर्थ है—वर्ण रूप स्फोट। (**वर्णरूपः स्फोटः वर्ण-स्फोटः कर्मधारय समासः।**)[1] इसका अर्थ है 'वर्ण वाचक हैं।' व्यक्ति, जाति दोनों को पदार्थ मानने से इसके दो भेद होंगे—वर्ण व्यक्ति स्फोट, वर्ण जाति-स्फोट। महाभाष्य में वर्ण व्यक्ति स्फोट का बीज प्रत्याहाराह्निक[2] में मिलता है। वहाँ पर यह शंका की गई है—'अ, क, च' इत्यादि ये वर्ण सार्थक है या अनर्थक। इसका उत्तर देते हुये भाष्यकार ने कहा है—'**अर्थवन्तो वर्णाः, धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात्**'। धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय निपात इनमें यद्यपि एक ही वर्ण होता है, परन्तु वह सार्थक होता है। अतः प्रतीत होता है कि वर्ण अर्थवान् होते हैं। इनके उदाहरण भी क्रमशः इस प्रकार दिये गये हैं—

एकवर्णात्मक धातुयें, यथा—एति, अध्येति तथा अधीते में 'इ' धातु सार्थक है। एक वर्णात्मक प्रातिपदिक, आभ्याम्, एषु में इदम् प्रकृति के आदेशभूत आ, ए। एकवर्णरूप प्रत्यय, औपगवः, दाशरथिः में उपगु+अपत्यार्थक अण् (अ) तथा दशरथ+अपत्यार्थक इञ् (इ)। एक वर्ण निपात—

---

१. विशेषणं विशेष्येण बहुलम् अष्टा० २।१।५७

२. हयवरट् म० भा०, पृ० ८१

अ—अपेहि, इ—इन्द्रम् पश्य में 'अ' का निषेध तथा 'इ' का विस्मय अर्थ है। इसी क्रम में महाभाष्यकार ने वर्णों को अर्थवान् मानने के दो हेतु और बताये हैं—(१) वर्ण-व्यत्यय होने पर समुदाय का अर्थ बदल जाता है, जैसे कूप—कुवाँ, सूप—दाल तथा यूप—यज्ञवेदी का खम्भा, यहाँ पर ऊप समुदाय एक ही है, परन्तु क्, स् तथा य् के हटाने, रखने से अर्थ में महान् परिवर्तन हो गया है, अतः सिद्ध है कि वर्ण वाचक होते हैं।

(२) एक वर्ण के न होने से अर्थ में परिवर्तन हो जाता है, जैसे—वृक्ष का अर्थ पेड़ होता है 'व्' निकाल देने से ऋक्ष का अर्थ भालू हो जाता है।[1]

इसी भाष्य की उद्योत टीका में श्री नागेश ने स्पष्टतः लिख दिया है—'धातु-प्रातिपदिक-प्रत्ययों को अर्थवान् मानना वर्ण स्फोट पर आधारित है। तथा पद रचना की प्रक्रिया का आश्रय होने के कारण केवल व्याकरण शास्त्र के व्यवहार में ही इसका उपयोग है। व्याकरण शास्त्र के विद्वान् इस प्रकृति प्रत्यय ज्ञान की वासना के कारण लोक-व्यवहार में भी इसका आश्रय लेते हैं।[2] आगे महाभाष्य में ही वर्णों को अर्थवान् मानने पर दोष दिखाकर यह निर्णय किया गया है कि जिन वर्णों में स्वभाविक बोध शक्ति है, वे सार्थक हैं तदतिरिक्त अनर्थक।[3]

सूत्र एवं भाष्यकारों द्वारा वर्ण स्फोट का समर्थन

उपर्युक्त भाष्य-व्याख्यानों से यह प्रतीत होता है कि सूत्रकार महर्षि पाणिनि वर्ण स्फोट के समर्थक थे। 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (१-१-५६) सूत्र द्वारा उन्होंने आदेश को स्थानी के तुल्य कहा है, अर्थात् आदेश स्थानी के द्वारा व्यक्त होने वाले अर्थ बोध में समर्थ होता है। यह वर्ण स्फोट का ही शब्दान्तर में प्रतिपादन है। जैसे 'एरुः' (३-४-८६) सूत्र द्वारा 'इ' का 'उ' विधान किया गया है। यदि सूत्रकार प्रत्यय को अर्थवान् न मानते तो इस प्रकार शब्दान्तर मात्र कर देने से स्थानी 'हन्' धातु का मारना अर्थ कैसे 'वध' में आ जाता। प्रत्याहाराह्निक के अन्त में अक्षरं न क्षरं विद्यात्

---

१. हयवरट् म० भा०, पृ० ८१
२. म० भा० हयवरट् (उद्योत), पृ० ८१
३ " " " " , ८४

भाष्य के व्याख्यान में कैयट ने प्रदीप में कहा है - अक्षर नित्य अर्थ का वाचक है तथा ब्रह्मतत्त्व परमार्थतः नित्य है। वर्ण, पद, वाक्य स्फोट तथा जाति स्फोट व्यवहार नित्य हैं।[1] उद्योत में नागेश ने शब्द की व्यवहार-नित्यता मानते हुए कहा है—

'**सर्वेषां शब्दानामाकाशादिवत सृष्ट्यादावुत्पत्तिः प्रलये च नाशः।**[2] अर्थवत् (१-२-४५) स्वं रूपं शब्दस्य (१-१-६८) आद्यन्तौ टकितौ (१-१-४६) तपरस्तत्कालस्य (१-१-७०) सूत्रों के भाष्य, प्रदीप तथा उद्योत में वर्ण स्फोट का विवेचन पद तथा वाक्यस्फोटों की स्थापना के लिए किया गया है शेष कृष्ण (भट्टोजिदीक्षित के गुरु) ने वर्ण स्फोट को नहीं माना है, उनका कथन है—

न प्रत्येकं न मिलिताः न चैकस्मृतिगोचराः
अर्थस्य वाचकाः वर्णाः किन्तु स्फोटः स च द्विधा।[3]

भट्टोजि दीक्षित ने वर्ण स्फोट पक्ष का समर्थन इस प्रकार किया है— यदि पद में कोई वर्ण नहीं रहता है, तो अर्थ बोध कराने वाली आनुपूर्वी का भंग हो जाने से बचे हुए वर्णों से वह अर्थ नहीं निकलता, जैसे मकर का अर्थ मगर (नदी का एक भयानक जन्तु) होता है इससे मकार को निकाल दिया जाय तो केवल कर बचेगा, जिसका अर्थ हाथ होगा। अतः स्वभावतः प्रत्येक वर्ण में शक्ति माननी पड़ती है। जैसे किसी को वृष का अर्थ बैल मालूम हो गया तो उसे ऋषभ, वृषभ का अर्थ ज्ञान नहीं होगा, उसी प्रकार कर्, कार्, कुर् तथा चकर् इन प्रयोगों में स्थित वर्ण आनुपूर्वी-विशिष्ट से युक्त होकर ही वाचक होते हैं। तभी 'कर्ता, कारकः, कुर्वाणः तथा चकार' जैसे पदों से पृथक् पृथक् अर्थ ज्ञान होगा।[4]

नागेश जी ने प्रकृति-प्रत्ययों के अर्थों की कल्पना को केवल शब्द शास्त्र के लिए उपयोगी[5] माना है। उन्होंने कहा है—**वर्ण स्फोटः शास्त्रीय-**

---

१ महाभाष्य प्रदीप प्रत्याहाराह्निक, पृ० १०१

२. ,, (उद्योत) ,, ,, १०१

३ स्फोट तत्त्वनिरूपण कारिका २

४ शब्द कौस्तुभ स्फोट व्युत्पादन, पृ० ८

५ म० म० पृ० ४

प्रक्रियोपयोग्येव, न वास्तवः।[1] मौनि श्रीकृष्ण भट्ट ने वर्ण स्फोट को अखण्ड वाक्य स्फोट के ज्ञानार्थ प्रथम सोपान के रूप में माना है। वर्ण स्फोट से उनका तात्पर्य है कि जिन प्रकृति प्रत्ययों का अर्थ व्याकरण-सम्मत है, जैसे वर्तमान में लट्, भूतकाल में क्त, पूर्वकालिक क्रिया में क्त्वा 'पच' धातु का अर्थ पकाना। उन अर्थों को शास्त्र प्रक्रिया तथा व्यवहार निर्वाह के लिए मान लेना ही वर्ण स्फोट है।[2] एकाक्षर कोश भी रूढ़ वर्णों की सार्थकता में प्रमाण है—'**अकारो वासुदेव. स्यादाकारस्तु पितामहः।**' यद्यपि यह प्रमाण वर्ण स्फोट का न होकर अखण्ड पद स्फोट का है, क्योंकि एक अक्षर का भी पद होता है।

प्रयुक्त शब्द (आदेश) ही वाचक हैं स्थानी मूल प्रकृति-प्रत्यय नहीं

वर्णों को वाचक मानने में दो विकल्प प्रतीत होते हैं—

(१) पदों में प्रयुक्त होने वाले आदेश रूप प्रकृति-प्रत्यय वाचक हैं।
(२) इन आदेशों से स्मृत मूल प्रकृति-प्रत्यय वाचक है।

पाणिनीय वैयाकरण पदों में प्रयुक्त शब्दों को वाचक मानते है, उनसे स्मृत स्थानीभूत शब्दों को नहीं। जैसा कि भट्टोजिदीक्षित ने कहा है—'**साधुशब्देऽन्तर्गता हि बोधका न तु तत्स्मृताः।**'[3]

अर्थात् 'रामः गच्छति' इत्यादि पदों में सुनाई पड़ने वाले या लिपिबद्ध किए गए प्रकृति-प्रत्यय, जिनमें आनुपूर्वी-(अव्यवहितोत्तरत्व का क्रम जैसे घटः में घ्+अ+ट्+अ+विसर्ग का निश्चित क्रम है, इसमें उलट फेर होने से घट नहीं रहेगा।) विशिष्ट वर्ण-समुदाय वर्तमान है; वाचक होते है। रामः का अर्थ राम—उस नाम का मनुष्य अथवा दशरथ के पुत्र रूप मे अवतरित भगवान्, (जहाँ जैसा प्रसग हो) : (विसर्ग) प्रातिपदिकार्थ है, क्योंकि यहाँ कर्त्ता अर्थ गच्छति के 'ति' से प्रतीत होता है। तथा गच्छति—गमनार्थक क्रिया, ति—वर्तमान काल प्रथम पुरुष, एक वचन है। रामः गच्छति इस वाक्य के रामः, गच्छति दो पदों में कई आदेश हुए हैं, जिनसे ये पद मूल प्रकृति या प्रत्यय से भिन्न हो गये हैं, जैसे रम् धातु+घञ

---

१. ल० म० पृ० ४४३
२. स्फो० च० पृ० १
३. वै० भू० सा० पृ ८५ कारिका ६६ ।

प्रत्यय से राम पद बना है, इसमें धातु के आदि स्वर अ की वृद्धि तथा घञ् प्रत्यय के घ्, ञ् का लोप होने से केवल अ ही बचा है। इसके आगे प्रथमा विभक्ति के एक वचन के सु का रु तथा उसके र् (उ का लोप हो गया है) का विसर्ग होने से 'रामः' रूप की सिद्धि हुई है। इसी प्रकार 'गच्छति' मे मूल धातु गम् तथा मूल प्रत्यय लट् है। गम् का गच्छ् आदेश हुआ है तथा लट् के स्थान में तिप्, उसके प् का लोप हो गया है तथा शप् (विकरण) का आगम कर श्, प् का लोप होने के बाद गच्छति रूप बना है।

मूल प्रकृति तथा मूल प्रत्ययों को वाचक मानने वाले प्राचीन नैयायिकों का कथन है कि प्रयोग में रहने वाले आदेश बहुत हैं, जैसे एक ही 'ल्' के तिप् आदि १८ आदेश होते हैं, अतः जितने आदेश वाचक होंगे, उतने ही धर्मों (आनुपूर्वी) को शक्ततावच्छेदक मानना पड़ेगा, अतः इनसे स्मृत इनके स्थानी ल् को ही वाचक मानना उचित है, तब शक्ततावच्छेदक जाति रूप लत्व एक ही रहेगा। उपर्युक्त विचार इसलिए संगत नही है कि 'ल्' को वाचक मानने पर जिन बालकों या व्याकरण-पद्धति को न जानने वाले मनुष्यों को 'ल्' का ज्ञान नहीं है, जो यह नहीं जानते कि यह 'ति' 'ल्' के स्थान में आदेश हुआ है, उन्हें 'ति' से 'ल्' का स्मरण न होगा तथा उन्हें ज्ञान भी न होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं है। रह गई बात शक्ततावच्छेदक में गौरव की तो वह भी ठीक नहीं है। अनेक व्याकरण ग्रंथों में अनेक स्थानी कल्पित किये गये हैं। रामः की सिद्धि के लिए पाणिनीय व्याकरण में 'सु' मूल प्रत्यय है, दूसरे व्याकरणों में 'सि', ऐसी स्थिति में वहाँ भी अनेक शक्ततावच्छेदक सुत्व, सित्व आदि मानने ही पड़ेंगे।

शक्तिग्राहक व्यवहार आदेशों का ही होता है स्थानी का नहीं

'इस पद का यह अर्थ है' इसे बताने वाले नियमों में शिरोमणि (मुख्य) व्यवहार होता है, क्योंकि व्याकरण आदि जिन पदों, अर्थों की ओर संकेत करते हैं, उनका निर्णायक, प्रयोग-स्थल व्यवहार ही है. व्यवहार में आदेश रूप प्रकृति-प्रत्यय ही प्रयुक्त होते हैं तथा जब हमें भवति, गच्छति इत्यादि वर्ण-समभिव्याहर को बोध का कारण मानना ही है, तब उसी को क्यों न वाचक मान लिया जाय। इससे स्थानियों की स्मृति भी नहीं करनी पड़ती है तथा पपाच (पच् धातु लिट्

लकार प्रथम पुरुष एक वचन) इत्यादि प्रयोगों में अनेक स्थानियों का स्मरण करने की अपेक्षा श्रुत तथा प्रयुक्त प्रकृति-प्रत्ययों को ही वाचक मानना उचित है। स्थानी को वाचक मानने में एक दोष यह है कि भवति आदि में ल् के तिप् आदि आदेश होते हैं, वहाँ उसका अर्थ क्रिया माना जाय तथा गच्छत् आदि कृदन्त पदों में जहां ल् का शतृ आदेश होता है, वहाँ पर उसका कर्ता अर्थ माना जाय, यह व्यवस्था कैसे होगी ? कर्तरि कृत् (अष्टा० ३।४।६७) के विधान से यदि कृत् प्रत्ययों का कर्ता अर्थ मानें तो श्रूयमाण आदि प्रयोगों में कर्म अर्थ की प्रतीति कैसे होगी। वैयाकरण भूषण-सार में वर्ण स्फोट मानने पर प्रयोग में आने वाले वर्णों को ही वाचक मानने के निम्नलिखित कारण बताये गये हैं—

व्यवस्थितेर्व्यवहृतेस्तद्धेतुन्यायलस्तथा
किंचाख्यातेन शत्रादेर्लडेव स्मार्यते यदि
कथं कर्तुरवाच्यत्ववाच्यत्वे तव् विभावय ॥[1]

(व्यवस्था, व्यवहार तथा भवति. गच्छति इत्यादि आनुपूर्वी को बोधक मानने के कारण वाक्यों में प्रयुक्त वर्णों को ही वाचक मानना चाहिए। यदि ल् का स्मरण करके बोध मानते हो, तो भवति में ल् का अर्थ क्रिया तथा भवन् में उसी का कर्त्ता अर्थ कैसे हो सकता है उसे विचार करो।)

वर्ण स्फोट पक्ष में अर्थ बोधकता समुदाय में होती है, वर्णों में नहीं।

यदि समुदायान्तर्गत प्रत्येक वर्ण को अर्थवान् मानें तो निम्नलिखित दोष होंगे—[2]

(१) सभी वर्णों की प्रातिपदिक संज्ञा हो जायगी तब जैसे कर्मन् की प्रातिपदिक संज्ञा होने से उसके न् का लोप होता है तथैव घन, वन के केवल न् की प्रातिपदिक संज्ञा होने से उसका लोप होने लगेगा। (२) प्रत्येक वर्ण से अर्थबोध भी नहीं होता, जैसे घट में घ, ट से अलग अलग कोई अर्थ नहीं निकलता है। (३) वर्ण-व्यत्यय करने से भी कहीं-कहीं अर्थबोध होता है, जैसे हिंस धातु से 'सिंह' शब्द की निष्पत्ति होती है। परन्तु अर्थ 'मारना' ही रहता है। कहीं वर्ण के विकार होने पर भी अर्थ में विकार नहीं होता। जैसे हन् धातु से ण्वुल् प्रत्यय करके घातक रूप बनता है, परन्तु अर्थ वही रहता है। वर्णों को वाचक मानने पर यह कैसे सम्भव होगा ?

---

१ वै० भू० सा० (स्फोट निर्णय) कारिका २ पृ० ९६-९७

(४) प्रत्येक वर्ण को बोधक मान लेने पर घट पदार्थ का ज्ञान केवल घ् से ही हो जायगा तब उसके लिए अ, ट् तथा अ इन तीन वर्णों का उच्चारण व्यर्थ होगा। अतः जैसे कक आदि में द्वित्व (दो का धर्म) दोनों ककारों में रहता हुआ भी समुदाय वृत्ति होता है, उसी तरह प्रत्येक-वर्ण-बोधक-शक्ति भी समुदाय-वृत्ति होती है।

पद स्फोट विचार

पूर्वोक्त कारणों से पदों में प्रयुक्त होने वाले प्रकृति-प्रत्ययों को ही वाचक मान लेने से जहाँ पर रामः, गच्छति इत्यादि पदों में ये प्रकृति-प्रत्यय राम, विसर्ग तथा गच्छ, ति स्पष्ट है वहाँ भले ही इनसे अर्थ-बोध हो,[1] परन्तु जहाँ पर सन्धि हो जाने से व्याकरण के नियम न जानने वाले उन्हें अलग नहीं कर सकते, जैसे 'रामेण' यहाँ 'राम' प्रकृति है तथा तृतीया विभक्ति के एक वचन 'टा' का आदेश 'इन' प्रत्यय है, दोनों को गुण सन्धि द्वारा जोड़ दिया गया है। व्याकरण-ज्ञान-शून्य जनों को दोनों के पृथक् अर्थ का ज्ञान नहीं है, न यही ज्ञान है कि राम प्रकृति एन प्रत्यय या रामे प्रकृति न प्रत्यय तथा बालकेन में 'न' है परन्तु यहाँ 'ण' कैसे हो गया, उन्हें तो केवल रामेण या घटेन से 'राम से', 'घट से' ऐसा ज्ञान होता है। विशेष रूप से विद्यालयों में आधुनिक पद्धति से संस्कृत पढ़ने वालों को समूचे अर्थ का ही ज्ञान होता है, उन्हें प्रकृति - प्रत्यय का पृथक् ज्ञान नहीं होता।

यदि प्रकृति प्रत्यय को ही वाचक माना जाय तो जिन्हें उनका ज्ञान नहीं है, उन्हें बोध नहीं होगा तथा कुछ ऐसे पद हैं जो प्रकृति-प्रत्यय दोनों के समुदाय के आदेश हो गये हैं, जैसे तुभ्यम्, तव का 'ते' मह्यम्, मम का 'मे' इसी प्रकार युष्माकम् का 'वः', अस्माकम् का 'नः'। युवयोः का 'वाम्' आवयोः का 'नौ'। ऐसे ही ते, मे, वः, नः, वाम्, नौ में कितना अंश प्रकृति का है, कितना प्रत्यय का, इसका ज्ञान उन्हें भी नहीं होता, जो व्याकरण-शास्त्र के पारंगत हैं, तब दूसरों की क्या बात। कौण्डभट्ट ने उपर्युक्त विचार को व्यक्त करने के लिए निम्नलिखित कारिकाओं को शब्दकौस्तुभ से उद्धृत किया है।

---

१ महाभाष्य हयवरट् पृ० ६१

> अथादेशाः वाचकाश्चेत् पद-स्फोटस्ततः स्फुटः ।[1]
> घटेनेत्यादिषु न हि प्रकृत्यादिभिदा स्थिता।
> वस्नसादाविहापि संभ्रमोहो हि दृश्यते ।।'[2]

आदेशों की वाचकता स्थिर हो जाने पर पद-स्फोट प्रमाणित हो जाता है। 'घटेन' इत्यादि पदों में प्रकृत-प्रत्यय का भेद स्पष्ट नहीं है। वः, नः इत्यादि की तरह यहाँ घटेन में भी उसकी अस्पष्टता झलकती है।

वर्णस्फोटवादियों की शंका तथा उसका समाधान

शंका—पद, वाक्यरूप वर्ण-समुदाय के अन्तिम वर्ण को वाचक माना जाय, क्योंकि सभी वर्णों में वाचकता शक्ति है, इस विचार में कोई ठोस प्रमाण नहीं है। पूर्व पूर्व वर्णों के अनुभवों से उत्पन्न संस्कार अन्तिम वर्ण के अनुभव के साथ अर्थ बोध में सहयोगी होंगे, अतः केवल अन्तिम वर्ण के उच्चारण से अर्थ बोध न होगा। **समाधान**—'रामोऽस्ति' इस वाक्य को कहना है, इसमें 'रामो' को कहने के एक घण्टे बाद 'ओऽस्ति' कहने से अर्थ बोध होना चाहिए, अतः अर्थबोधक पदावली की उसी आनुपूर्वी को ही शक्ततावच्छेक मानना चाहिए. वह आनुपूर्वी पद या वाक्यान्तर्गत समस्त वर्णों की क्रमसज्जा से बनती है, एक वर्ण से नहीं [3] किसी को कभी घट का बोध करने के लिए घ् अ् ट् अ इन चार वर्णों के ज्ञान करने का व्यायाम नहीं करना पड़ता। सीधे घट पद का उच्चारण करते ही घड़ा रूप पदार्थ का ज्ञान हो जाता है।

पद-स्फोट नैयायिकों को भी अभिमत है

नैयायिक 'शक्तम् पदम्।' मानते हुए नाम से नहीं किन्तु अर्थ से पद-स्फोट को स्वीकार करते हैं, परन्तु उनके मत में पद-वर्णातिरिक्त कोई नित्य पदार्थ नहीं है, बल्कि वर्ण-समूह रूप है और अर्थ का बोधक है।[4] 'ते विभक्त्यन्ताः पदम्'[5] कथन से भी इसकी पुष्टि होती है कि पद एक है और

---

1. वैयाकरण भू० सा० (स्फोट निर्णय) कारिका ४, पृ० ६८
2. ,, ,, ,, ,, ६८
3. स्फो० चन्द्रिका, पृ० ७
4. ,, २।१।५५
5. न्यायभाष्य २ १ ५५

ही वाचक है। इसी सखंड पद स्फोट को न्याय दर्शन में वाक्य स्फोट भी माना जाता है। जैसा कि उनका सिद्धान्त है—'**पदसमूहो वाक्यम् अर्थसमाप्तौ।**'[1] जैसे पंचकोश कल्पना में अन्नमय कोश की अपेक्षा प्राणमय कोश अन्तरंग है तथैव 'वर्ण स्फोट' की अपेक्षा पद-स्फोट अन्तरंग है। वाक्य का अवयव होने के कारण पद वर्णों की अपेक्षा अन्तरंग ही है।

पद-स्फोट की मान्यता में मुनित्रय की सहमति

महर्षि पाणिनि ने पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (६।३।१०९) सूत्र रचना द्वारा पद को सीधे वाचक माना है। उनकी सिद्धि के लिए उन्होंने कृत्रिम उपाय किये हैं. जैसे हिंस् धातु से वर्ण विपर्यय के द्वारा सिंह पद की सिद्धि तथा पृषोदरम् की व्युत्पत्ति-पृषत: उदरम, यहाँ पर त् का लोप मान लिया है। अर्थात् ये पद बिना प्रकृति-प्रत्ययार्थ का अनुसरण किये हुए भी अर्थबोधक हैं। वार्तिककार ने भी इस सूत्र के सन्दर्भ में नवीन पदों का साधुत्व सिद्ध करने के लिए दो वार्तिक लिखे हैं- (१) 'दिक् शब्देभ्यस्तीरस्य तारभावो वा।' (२) 'दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वमुत्तरपदादेः ष्टुत्वं च।' दक्षिणतारम्, दक्षिणतीरम्, दूडाश:, दूणाश: इत्यादि उदाहरण है। भाष्यकार ने पदस्फोट का नामत: उल्लेख तो नहीं किया, परन्तु उनका उल्लिखित 'शब्द' पद-स्फोट (या वाक्य-स्फोट) का तात्पर्य रखता है। उन्होंने पूछा है कि (गौ: में शब्द क्या है ?) 'अथ गौरित्यत्र क: शब्द: ?'[2] तथा इसका उत्तर दिया है कि 'येनोच्चारितेन सास्नालांगूल ... स शब्द:।' आगे भाष्यकार ने यजमान, याजक दोनों के लिए पदबोधपूर्वक वाणी का ज्ञान अनिवार्य बताया है।[3]

स्थानिवत् सूत्र (१।१।५६) के भाष्य में 'सर्वे सर्वपदादेशा:' सिद्धान्त मानकर भाष्यकार ने पद स्फोट का नाम्ना समर्थन किया है। आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४६) सूत्र के भाष्य में पद के नित्यत्व का प्रतिपादन कर भाष्यकार ने पद स्फोट की सिद्धि की है। वहाँ पर यह शंका हुई कि आगम तो वे हैं, जो पहिले न रहे, बाद में आ जायँ, इससे शब्द अनित्य हो जायेंगे। इसका समाधान करते हुए कहा —'आचार्य पाणिनि की यह पद्धति

---

१. न्याय भाष्य २।१।५५
२. म० भा० पस्प०, पृ० ८
३ म० भा० पस्प० प्रदीप पृ० १२

कि उन्होंने पृथक्-पृथक् अखंड प्रकृति, प्रत्यय, इकार आदि का उल्लेख किया है। जैसे कोई अपरिचित को समझाने के लिए नीलगाय का चित्र बनाकर सत्य नीलगाय का बोध करावे, वैसे ही पदज्ञान के लिए इन कल्पित प्रकृति-प्रत्यय आदेश तथा आगम का आश्रय लिया जाता है। अतः इट् के इकार को आगम मानने पर भी उसकी नित्य, अखंड बुद्धि में कोई बाधा नहीं आती।'[1] **'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि'** की व्याख्या करते हुए उन्होंने चतुर्विध पदों का उल्लेख किया है : **'चत्वारि पद जातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च।'**[2]

पद स्फोट के मुख्य प्रतिपादक निरुक्तकार महर्षि यास्क थे। इन्होंने वाङ्मय को चार भागों में बाँटा- नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात। ये चारों पद हैं। इनमें प्रथम दो यौगिक तथा अन्तिम दो रूढ़ पद हैं। साथ ही इन्होंने औदुम्बरायण के वाक्य स्फोट का खंडन भी किया है। पाणिनीय वैयाकरणों ने दोनों आचार्यों के मतों का सम्मान कर पद स्फोट को भी नित्य कहा है। बिना पद-स्फोट को माने व्याकरण प्रक्रिया का निर्वाह कैसे होगा। इसीलिए गौतम ने कहा है- **'पदलक्षणायाः वाचोऽन्वाख्यानं व्याकरणम् वाक्यलक्षणायाः वाचोऽर्थलक्षणम्।'** वैयाकरणों में पद स्फोटवादी निरुक्तकार यास्क तथा वाक्य स्फोटवादी वैयाकरण औदुम्बरायण दो प्रधान आचार्य हुये हैं, जिनकी मान्यता पाणिनीय व्याकरण पद्धति में समान रूप से स्वीकृत की गई है। व्याकरण पद्धति के निर्वाहार्थ पद स्फोट को मानना अनिवार्य हो गया तथा निराकांक्ष अर्थबोध के लिए वाक्य स्फोट की मुख्यता भी अक्षुण्ण रही।

वाक्य स्फोट विचार

स्फोट की मान्यता की चरम एवं परम स्थिति वाक्य स्फोट-निरूपण में पर्यवसित होती है। स्फोट को मानने के मुख्य आधार दो हैं—(१) वर्णों का समुदाय असम्भव है, जिससे अर्थ बोध हो सके। (२) 'रामः गच्छति' यह एक वाक्य है। इस कथन में एकत्व वर्ण, पद से अतिरिक्त वाक्य तत्त्व या वाक्य इकाई को सूचित करता है अन्यथा दो पद, ११ वर्णों में एकत्व का व्यवहार कैसे होता।

---

१. म० भा० तथा प्रदीप (१।१।४६) पृ० २५५

२ ,, , पृ० ३३

वाक्य स्फोट की मान्यता

जिस कारण से वर्ण स्फोट को त्याग कर पद स्फोट माना गया, उसी से वाक्य स्फोट की सिद्धि होती है। अर्थात् जैसे घटेन तथा वः, नः में प्रकृति-प्रत्यय विभाग नहीं किया जा सकता। अतः पूरे पद को वाचक माना जाता है। तथैव हरेऽव, विष्णोऽव, दध्यानय, सोऽगच्छत्, सीताऽगच्छत्, कस्यास्ति इत्यादि वाक्यों में व्याकरण ज्ञान रहित व्यक्ति को पदों का स्पष्ट ज्ञान न रहने पर भी समुदाय की शक्ति से ज्ञान होता है, अतः वाक्य रूप समुदाय की विशिष्ट वाक्यार्थ में शक्ति मानी जाती है। अर्थात् जैसे पद से पदार्थ-बोध होता है, वैसे ही वाक्य से सीधे वाक्यार्थ बोध होता है, बीच में पद-ज्ञान करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

वाक्य में पृथक् शक्ति मानना अनिवार्य है

जो दार्शनिक विशेष रूप से नैयायिक केवल पदों का अर्थ मानते हैं, उनके सिद्धान्तानुसार **घटम् व आनय,** इन दो पदों का क्रमशः **घटः कर्मत्वम् व आनयनं कृतिः** अर्थ है। जहाँ पर 'घटम् आनय' के स्थान पर कोई यह कहे 'घटः कर्मत्वम् आनयनं कृतिः' वहाँ भी बोध होना चाहिये, क्योंकि पदार्थ ज्ञान तो है ही, परन्तु ऐसा नहीं होता, न कोई इस प्रकार के प्रयोग ही करते हैं। यदि 'घड़ा लाओ' इस बोध के लिए घट, द्वितीया एक वचनार्थ 'अम्' विभक्ति, तदनन्तर आ उपसर्ग पूर्वक नी धातु, लोट् लकार मध्यम पुरुष एक वचनार्थक विभक्ति कारण है, ऐसा मानते हो, इससे घटः कर्मत्वम् आनयनम् कृतिः कहने से अर्थ बोध नहीं होता तो वाक्य स्फोट सिद्ध हो गया। पदों का वह एकात्म-समूह, जो एकार्थ बोधक है, उसी को वाक्य कहते हैं। जैसे घट पदार्थ के बोध में घट पद का शक्ति ज्ञान कारण है, (यह वस्तु घड़ा है घट पद इसका बोधक है जो इतना समझता है, वही घट पदार्थ का जानकार कहा जाता है।) वैसे ही 'घटम् आनय' इस वाक्य के 'घड़ा लाओ' अर्थ-बोध में सम्पूर्ण वाक्य की शक्ति माननी चाहिए।

यदि पुनः यह तर्क उपस्थित किया जाय कि पदों की ही विशिष्ट शक्ति मान ली जाय, अर्थात घट का अर्थ अन्वित घट, आनय का अर्थ अन्वित आनयन है। तब स्वभावतः यह आकांक्षा होती है कि किससे अन्वित? उस स्थिति में विशेष पदार्थ आनयन से अन्वित घट या घट से अन्वित आनयन या घट कर्मक आनयन ऐसा बोध होता है। इसका यह उत्तर

कि पद की सामान्य में शक्ति होने पर भी विशेष में तो नहीं है, उसके लिए अतिरिक्त शक्ति माननी ही है, वही वाक्य शक्ति है।[1] वादी का एक और तर्क है कि 'घटम् आनय' इस कथन के बाद श्रोता को पदों से पदार्थ ज्ञान हुआ, तदनन्तर मन से उनका संसर्ग कर लिया जाता है। उसका यह उत्तर है कि व्यवहार वाक्य का होता है, अतः मन से पहले उसी का ज्ञान होता है। पद-पदार्थ की बारी तो कुछ पदों के निकालने, दूसरों के जोड़ने (अवापोद्वाप) पर आती है।

वस्तुतः वाक्य ही सीधे वाक्यार्थ बोध कारक होते हैं। यह प्रत्यक्ष है कि वक्ता वाक्य का प्रयोग करता है तथा श्रोता उसी के द्वारा अर्थ का ज्ञान कर लेता है। इस पद की शक्ति इस अर्थ में है, इसकी जानकारी तो पदो के बदल देने पर होती है। अतः यह निष्कर्ष निकला कि जहाँ पर पदों की पदार्थों में शक्ति जानने के अनन्तर आकांक्षा के द्वारा उनसे वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, वहाँ पद स्फोट और जब पद ज्ञान के बिना ही हरेऽव इत्यादि में वाक्य से वाक्यार्थ बोध होता है, वहाँ वाक्य स्फोट होता है। यह सखड पक्ष में पद, वाक्य स्फोट की व्यवस्था है। कौण्डभट्ट ने निम्नलिखित कारिकाओं द्वारा वाक्यस्फोट की सिद्धि की है।—

> हरेऽवेत्यादि दृष्ट्वा च वाक्यस्फोटं विनिश्चिनु,
> अर्थे विशिष्य सम्बन्धाग्रहणं चेत्समं पदे।
> लक्षणादधुना चेत्तत्पदेऽर्थेप्यस्तु तत्तथा ॥[2]

वाक्य स्फोट में पाणिनि प्रभृति महर्षियों की सम्मति

(क) आचार्य पाणिनि ने 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' सूत्र में शब्द का तात्पर्य वाक्य स्फोट ही माना है। यहाँ स्व - आत्मीय (अर्थ) तथा रूप—शब्द है। 'शब्द अर्थ-विशिष्ट-स्वरूप का बोधक होता है' यह सूत्रार्थ हुआ, अतः शब्द में अर्थ निरूपित शक्ति आवश्यक है। ध्वनि रूप शब्द, शक्ति के आश्रय नहीं हो सकते, अतः आचार्य द्वारा प्रयुक्त शब्द स्फोट रूप ही है। निस्संदिग्ध अर्थबोधक होने से वाक्य स्फोट में ही उनका तात्पर्य पर्यवसित होता है।

---

१. स्फोटवाद पृ० १०

२. वै० भू० सा० स्फोट निर्णय), कारिका ४ पृ० ६८

इसी प्रकार 'वचोऽशब्दसंज्ञायाम्'[1] सूत्र द्वारा उन्होंने शब्दार्थक 'वाक्य' में कुत्व (च् का क्) का निषेध नहीं किया। इससे भी सिद्ध होता है कि शब्द का वाक्य रूप अर्थ मुख्य है वर्ण रूप अर्थ गौण। महर्षि ने 'शब्द' धातु का अर्थ आविष्कार भी माना है।[2] इसकी तीन प्रकार से सिद्धि होती है।

(१) **शब्द्यते—प्रकाश्यते स्वार्थो येन (करणे घञ्)**
(२) **शब्दयति—प्रकाशयति स्वार्थं यः (कर्तरि अच्)**
(३) **शब्द्यते—ध्वनिना प्रकाश्यते यः (कर्मणि घञ्)**

निराकांक्ष अर्थ-ज्ञान ही लोक-व्यवहार का हेतु होता है, अतः वाक्य ही उस अर्थ का बोधक होने से 'शब्द' पद वाच्य है।

महाभाष्यकार की सम्मति

'वृद्धिरादैच्' सूत्र के भाष्य में कहा गया है कि वाक्य दो प्रकार के मिलते हैं—(१) सार्थक—जैसे **देवदत्त! गामभ्याज शुक्लां दण्डेन** (हे देवदत्त! सफेद गाय को डण्डे से हाँक लाओ)। (२) निरर्थक - **जैसे दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पलालपिण्डः** (दस अनार, छः पुये कुण्ड, बकरी का चर्म, पुआल का ढेर)। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल पदों का समूह ही वाक्य नहीं है, वरन् पद परस्पर साकांक्ष होने चाहिये। पदों से केवल पदार्थ का ज्ञान होता है, संसर्ग रूप वाक्यार्थ का नहीं अतः वाक्य का अर्थ संसर्ग है। वह शाब्दबोध के पूर्व नहीं होता। वाक्य तथा वाक्यार्थ का संसर्ग रूप सम्बन्ध ही शक्ति है।[3] अर्थवत् सूत्र द्वारा वाक्य की प्रातिपदिक संज्ञा न हो, इसलिए 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (१।१।४६) में समास ग्रहण नियमार्थक है, कि वाक्य की प्रातिपदिक संज्ञा हो तो समास की ही हो। इससे भी सिद्ध होता है कि सूत्र, भाष्यकार दोनों ही वाक्य को अर्थवान् मानते हैं।

'तात्पर्य-ज्ञान द्वारा वाक्यार्थ-बोध' का खण्डन

मीमांसक यह मानते हैं कि वक्ता **'घटम् आनय'** यह वाक्य इस

---

१. **वै० भू० सा०** (स्फोट निर्णय) कारिका ६, पृ० १००
२. धातुपाठ (चुरादिगण १७१५)
३. म० भा० (१।१।१), पृ० १०५

तात्पर्य से कहता है कि श्रोता को 'घट कर्मक आनयन' ऐसा बोध हो जाय। इस नियम को मानने पर, वाक्य के अर्थ का, प्रकारता के विषय-रूप में भान होने से, वह शाब्दबोध का अंग बन जायगा और वाक्यार्थ अपूर्व न होगा। यह ठीक नहीं है, क्योंकि (१) वाक्यार्थ के अपूर्व होने से वाक्यार्थ के तात्पर्य का भी निश्चय नहीं हो सकता। वाक्य में बोधकता-शक्ति मानने से भी अर्थ का भान प्रकारता के विशेषण के रूप में होता है। (२) जहाँ तोता, मैना वाक्य का उच्चारण करते हैं, वहाँ तो अर्थ विशेष बोधक तात्पर्य से उनका उच्चारण नहीं रहता, इसी प्रकार जो मूर्ख जन देवता की कृपा से या पूर्व जन्म के संस्कार से उत्तम काव्य की रचना करते हैं, उन्हें भी तात्पर्य बोध नहीं होता। ऐसे स्थलों में केवल सुनने वाले ही तात्पर्य निकालते हैं। ईश्वर का तात्पर्य भी वहाँ नहीं माना जा सकता, क्योंकि भगवान् का तात्पर्य भी फल मिलने पर जाना जाता है, इसीलिए कर्मातिरिक्त ईश्वर को न मानने वाले मीमांसकों को बोध होता है तथा वेद-वाक्यों से बोध में बाधा नहीं होती।

जहाँ पर अध्यापक या वक्ता तात्पर्य का विज्ञ है, वहाँ पर भले शाब्द-बोध में तात्पर्य-ज्ञान को हेतु मान लें परन्तु सर्वत्र विज्ञता का कोई निश्चय नहीं हो सकता है। साथ ही सभी श्रोताओं को ऐसा अनुभव होता है—'इस वाक्य से दो अर्थों की प्रतीति होती है। इस प्रसंग में कौन सा उपयुक्त है, यह नहीं मालूम।' अतः वाक्यार्थ ज्ञान में तात्पर्य को हेतु नही मान सकते। इसी लिए जब किसी ने दूसरे से कहा 'पय आनय' (दूध लाओ) यदि श्रोता प्रसंग नहीं जानता कि इन्हें इस समय जल की आवश्यकता है या दूध की, क्योंकि पय का अर्थ दूध, जल दोनों ही है। तो वह प्रश्न करता है, दूध लाऊँ या जल। वहाँ यह नहीं कहा जाता कि वक्ता का तात्पर्य न जानने से श्रोता को वाक्यार्थ बोध नहीं हुआ। अन्यथा प्रश्न करने की गुंजाइश न होती। वैयाकरण के मत में तो तात्पर्य का उपयोग प्रवृत्ति के समय होता है। जब उसने पूछ कर मालूम कर लिया कि पय का जल अर्थ यहाँ वक्ता को अभीष्ट है, तब वह जल लाने में प्रवृत्त हो जाता है।[1]

नैयायिकों का शाब्द-बोध प्रकार तथा उसका खण्डन

नैयायिकों का सिद्धान्त है कि आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्ति के

१ स्फोट वाद पृ० १२

कारण पदों से ही संसर्ग का भी भान होगा, अतः उसमें (संसर्ग) वाक्य की शक्ति कल्पना में कोई प्रमाण नहीं, प्रत्युत गौरव है ।[1]

यद् यदाकांक्षितं योग्यं संनिधानं प्रपद्यते
तेन तेनान्वितः स्वार्थः पदैरेवानुभूयते ।[2]

इस प्रकार खण्ड वाक्यार्थ बोध के बाद पदार्थों की स्मृति के द्वारा बड़े वाक्य का अर्थबोध होता है ।[3] इसका यह उत्तर है कि 'घटकर्मकम् आनयनम्' (घड़ा लाने का कार्य) इस बोध में, 'घट पद अम् प्रत्यय आ उपसर्ग पूर्वक नी धातु आख्यात' (क्रियार्थक प्रत्यय) इस सम्पूर्ण पद का समभिव्याहार कारण है । जिस पद के बिना जिसके अन्वय का अनुभव नहीं होता, उस पद के साथ उसकी आकांक्षा होती है । घटम् आनम में घट पद के बिना अम् पद का अन्वय नहीं हो सकता, अतः घट पद की आकांक्षा अम् पद में है । इसी तरह क्रिया पद के बिना कारक पद अन्वयबोध नहीं कराता अतः दोनों की ही परस्पर आकांक्षा है ।[4] तब तो इसी आकांक्षा ज्ञान से ही प्रकृति-प्रत्यय मिलित रूप से अर्थ बोधक होंगे । पदों की भी पदार्थों में शक्ति नहीं सिद्ध होगी ।

यदि कहते हो कि 'इस पद से इस अर्थ का बोध हो' यह ईश्वरेच्छा (इच्छा) मानने से अधिक वाक्य शक्ति तो नहीं माननी पड़ती । तो हमारे (वैयाकरण) मत में भी 'इस वाक्य से यह अर्थ (संसर्ग) जाना जाय; इस ईश्वरेच्छा को ही मानने से कार्य-निर्वाह हो जायगा । क्योंकि ईश्वर ने स्वयं आकर तो कहा नहीं कि पदों में ही मेरी इच्छा की विषयता है, वाक्य में नहीं । यदि नैयायिकों को पद में ईश्वरेच्छा रूप शक्ति का विश्वास है, तो हम (वैयाकरणों) को वाक्य में । प्रत्युत नैयायिक पद के साथ पदार्थ के सम्बन्ध को ही शक्ति मानते हैं[5], वह शक्ति ईश्वरेच्छा रूप ही है । उस इच्छा के विषय पद अनन्त हैं, पदार्थ अनन्त हैं तब सम्बन्ध भी अनन्त होंगे । इस प्रकार उस ईश्वर संकेत-रूप शक्ति की व्याख्या में गौरव है,

---

१ सिद्धान्त मुक्तावली, पृ० ४१४
२. ,, ,, पृ० ४१५
३. ,, ,, पृ० ४१६
४. सिद्धान्त मुक्तावली, पृ० ४२३-४२४
५. , पृ० ५८

इसे दूर करने के लिए यदि अखण्डोपाधि रूप बोधजनकता को शक्ति मानों तब तो वाक्य स्फोट ही सिद्ध हो गया।[1]

'बोधजनकता या वाच्य-वाचक सम्बन्ध को शक्ति मानने पर पद-ज्ञान को ही बोध जनक कहना चाहिए, तब 'शक्तम् पदम्, यह वैयाकरणो का कथन असंगत होगा, यह नैयायिकों की शंका निमू'ल ही है, जैसे अनुमान में हेतु का ज्ञान कारण होता है, (अग्नि के अनुमान में धूम का ज्ञान कारण है धूम नहीं) परन्तु नैयायिक कहते हैं **धूम अनुमितिकारणम्**' उसी तरह पद ज्ञान के कारण होने पर भी लक्षणा से 'शक्तम् पदम्' यह व्यवहार उपयुक्त है। जिसे नैयायिक आकांक्षा कहते हैं उसे ही हम (वैयाकरण) वाक्य-शक्ति कहते हैं। इस वाक्य-शक्ति को न मानकर आकांक्षा, योग्यता, आसक्ति को कारण मानने का तर्क तो इस प्रकार रहा, जैसे कोई कहे 'चाहे मेरा सिर काट डालो पर सौ रुपये नहीं दूँगा हाँ पाँच बीस (पाँच गुना बीस) दे दूँगा।[2] अतः वैयाकरण मत में ही '**संसर्गो वाक्यार्थः**' यह कथन संगत होता है। साथ ही नैयायिकों ने ही यद्यपि शक्ति ग्राहकों में व्याकरण को प्रथम माना है[3] तथापि मुख्य व्यवहार ही है और व्यवहार के द्वारा पहिले वाक्य में ही शक्तिज्ञान स्थिर होता है। यहाँ वैयाकरण भर्तृहरि ने यह तर्क उपस्थित किया है—'**अशब्दो यदि वाक्यार्थः पदार्थोऽपि तथा भवेत्**।[4]' यदि वाक्यार्थ अशब्द (वाक्य के वाचक न होने से तत्प्रतिपाद्य नहीं) होगा तो उसी नीति से पदार्थ भी पद प्रतिपाद्य नहीं होगा, क्योंकि पद भी वर्ण वृत्ति है।

वाक्यशक्ति के समर्थन में व्यवहारानुगामी (वैयाकरण) के पुष्ट तर्क

वैयाकरणों का विचार है—'घटम् आनय' इस वाक्य का विशिष्ट (घट कर्मकानयन रूप) वाक्यार्थ में एक ही शक्ति है, उसमें स्थित पदों की पदार्थों में नहीं। क्योंकि जब किसी प्रयोजक वृद्ध (आज्ञा देने वाले) ने कहा—'घटम् आनय' तब प्रयोज्य वृद्ध (आदेश पालन करने वाला) घड़े को लाता है। जिज्ञासु बालक उसे वैसा करते हुए देखता है तथा समूचे

---

१. स्फोटवाद, पृ० १६

२. स्फोटवाद सुबोधिनी, पृ० २०

३. सि० मुक्तावली. ३५८

४ २ १६

वाक्य की शक्ति घटानयन में निश्चित करता है। तदनन्तर अवापोद्वाप (वाक्य के अन्तर्गत कोई पद निकाल कर दूसरे को रखना जैसे पटम् आनय, घटम् अपसारय) के द्वारा वह पद में शक्ति को समझता है कि इस पद का यह अर्थ है। जो जिज्ञासु जन (बधिर) इन वाक्यों में पदों को जोड़ना या हटाना नहीं सुनते या सुनकर भी नहीं समझ पाते, उन्हें तो वाक्य से ही बोध होता है, पदों से नहीं। अतः वाक्य शक्ति ही व्यापक है, पद शक्ति नहीं, क्योंकि केवल पदों का व्यवहार नहीं होता। यदि होता भी है तो वाक्यार्थ के रूप में ही।[1]

इस पर भी यदि कोई कहे कि बाद में तो अवापोद्वाप के द्वारा पद में शक्ति का निर्णय होता ही है, तब बाधज्ञान से वाक्य में शक्ति अप्रमाणिक हो जायगी। उसका यह उत्तर है कि जहाँ पर पूर्व ज्ञान का विरोध उत्तर ज्ञान से हो, वहीं बाध ज्ञान होता है। यहाँ कोई भिन्न ज्ञान तो पदों द्वारा होता नहीं, अतः पूर्व ज्ञात वाक्य शक्ति का अस्वीकार कैसे किया जाय, प्रत्युत उत्तर काल ही बाधित होगा, क्योंकि मीमांसा दर्शन में उपक्रम, उपसंहार में उपक्रम को प्रबल माना गया है,[2] तद्वत् यहाँ भी उपक्रम स्वरूप वाक्य शक्ति प्रबल होगी तथा हरेऽव आदि में जहाँ साधारण जन को पदो का स्पष्ट ज्ञान नहीं है, वहाँ पदों की शक्ति पदार्थों में कैसे मानी जा सकती है, अतः वाक्य में ही शक्ति माननी चाहिये। इस प्रकार इन विचारको ने वाक्य में शक्ति मानते हुए भी पदों में शक्ति को अस्वीकार नहीं किया।

दूसरे पक्ष के विचारकों का मत है—जहाँ पर क्रिया के बिना कारक मात्र का प्रयोग है, 'घटम्' इस पद से उपयुक्त क्रिया या क्रिया सामान्य का अध्याहार (मन में कल्पना) कर घट कर्मत्व बोध होता है, अतः उसमे घट पद की शक्ति आवश्यक है, अन्यथा पदार्थ ज्ञान न होने से शाब्दबोध न होगा। अतः उसी में वाक्य की शक्ति मानना उचित नहीं है, क्योंकि शब्दार्थ वही होता है जो अन्यलभ्य न हो (अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः)। वाक्य मे शक्ति मानने पर भी पदार्थ विशिष्ट क्रिया बोध के लिए पद शक्ति मानना आवश्यक हो जाता है। तथा जिन व्यक्तियों को कारक, क्रिया, प्रकृति-प्रत्यय

१. स्फोटवाद सुबोधिनी, पृ० २४
२. मीमांसा सूत्र ३।३।१-२

वाक्यार्थ बोध प्रकार

अनुभव के बल से वाक्यार्थ की कल्पना होती है अनुभव नहीं होता। पदों से ही पदार्थ की उपस्थिति होती है तथा उन्हीं के द्वारा संसर्ग रूप वाक्य शक्ति के सहयोग से पदार्थ विषयक, पदार्थ संसर्ग विषयक शाब्दबोध होता है, यही उचित क्रम है। जैसे कोई स्वर्ग, नरक इत्यादि शब्दों को सुनता है, पर उसे यह प्रतीति नहीं होती कि मैं स्वर्ग या नरक का अनुभव करता हूँ।' उसी तरह वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, अनुभव नहीं। अतः शाब्दत्व जाति विशेष है, अनुभव के अन्तर्गत नहीं है। पदार्थोपस्थिति स्मृति-रूप है, इसलिए केवल घट पद से घटत्वविशिष्ट स्मरण होता है, शाब्दबोध नहीं। इसी प्रकार राजपुरुषः इत्यादि में जहाँ समास होता है, वहाँ एकार्थी-भाव-कल्पना के सामर्थ्य से राज-सम्बन्धि-पुरुष-रूप-विशिष्ट-विषयक पदार्थोपस्थिति होती है।

मीमांसकों की आपत्ति तथा उसका निराकरण[1]

मीमांसक वाक्य की वाक्यार्थ में पृथक् शक्ति नही मानते, उनके कथन का सारांश इस प्रकार है---वाक्य की वाक्यार्थ में पृथक् शक्ति मानना उचित नहीं है, अन्यथा बड़े वाक्यों में, कभी-कभी छोटे वाक्यों में भी जब पहिले बोले गये पद भूल जाते हैं, तब वाक्यार्थ ज्ञान नहीं होगा। जैसे पूर्व वर्णों के भूल जाने से केवल अन्तिम वर्ण से पदार्थ बोध नहीं होता। अतः यह सिद्धान्त उचित है कि पद ही पहिले पदार्थों का बोध कराते हैं। तद नन्तर लक्षणा शक्ति के द्वारा वाक्यार्थ ज्ञान भी करा देते हैं। जैसा कि श्लोक वार्तिक में कहा गया है --

'न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेऽपि पदानि नः।
सर्वत्रैव हि वाक्यार्थो लक्ष्य एवेति नः स्थितिः॥'[2]

(स्थिति का अर्थ दर्शन या सिद्धान्त है।) मीमांसक सम्मत वाक्य का लक्षण—'**इतरसम्बन्धि पदार्थ बोधकं वाक्यम्**'।[3] जैसे गंगापद की शीतलता, पवित्रता की विशेष प्रतीति कराने के लिये गंगातीर में लक्षणा की

जाती है, वैसे ही पदों की स्वसम्बन्धी अर्थबोधक होने से वाक्य में लक्षणा हो जायगी। यहाँ लक्षणा का प्रयोजन वाक्यार्थ ज्ञान ही है।

इसका सीधा उत्तर यह है कि एक तो किसी को वाक्यार्थ ज्ञान में बाधा नहीं होती और वाक्यार्थ बोध का न होना (अनुपपत्ति) ही लक्षणा का बीज है। हमारे (वैयाकरण के) मत में तात्पर्य को वाक्यार्थबोध में कारण नहीं माना जाता। यदि तात्पर्य ज्ञान की मान्यता करते ही हो तो उसकी अपेक्षा वाक्य में शक्ति मानना ही उचित है। रह गई बात वर्णों या पदों के भूलने की तो इसीलिये स्फोट सिद्धान्त में दृढ़तम आस्था होती जाती है। वह नित्य है, उसमें स्थित वर्ण या पद के भूलने की सम्भावना ही नहीं।

वाक्यार्थ विचार में निष्कर्ष

पदार्थों से वाक्यार्थ ज्ञान का अनुभव नहीं होता, बल्कि वाक्य से ही होता है, अतएव उसे वाक्यार्थ कहते हैं पदार्थ नहीं। पदार्थों का स्वभाव है कि वे परस्पर संसर्ग करें अतः प्रायः पदार्थ ज्ञानपूर्वक ही वाक्यार्थ ज्ञान होता है, पर इतने से ही पदार्थ ज्ञान वाक्यार्थ ज्ञान का कारण नहीं हो सकता। जिसका मन विकृत हो गया है, या जो वाक्य सुनने के समय दूसरी बात सोच रहा था, वह उस समय कही हुई बात को नहीं समझ पाता। थोड़ी देर बाद स्वस्थ चित्त होकर पूछता है—'मैंने आपकी बात नहीं सुनी, अतः आपका विवक्षित (जो कहना चाहते थे) नहीं समझ पाया। मैं उस समय दूसरी बात सोच रहा था, कृपया पुनः कहिये।' अतः निश्चित हुआ कि संसर्ग ही वाक्यार्थ है, उसका बोध न होने से केवल पदों को सुनते हुए भी पूरे वाक्य का बोध नहीं हो पाता है।

वाक्यार्थ बोध में सामान्य शंका तथा उसका निराकरण[1]

शंका—पद तथा वाक्य दोनों ही वर्ण समूह रूप होते हैं। ऐसी स्थिति में वर्ण समूह रूप पद, पद समूह रूप वाक्य दोनों का ज्ञान असम्भव है, क्योंकि चाहे पद के हों चाहे वाक्य के, दोनों में वर्ण क्रमशः ही उच्चारित होंगे। उत्पत्ति पक्ष में क्रमशः उत्पन्न, अभिव्यक्ति पक्ष में क्रमशः अभिव्यक्त वर्ण एक साथ रह ही नहीं सकते।

---

१. स्फोटवाद, पृ० ६८

इत्यादि का ज्ञान नहीं है, उन्हें पद शक्ति का ज्ञान न होने से वाक्य का ज्ञान न होगा, अतः जिन्हें कारक इत्यादि के सहित पद-शक्ति का ज्ञान है, उन्हें पद शक्ति से ही शाब्दबोध होता है। जिन्हें व्याकरण की अनभिज्ञता से वैसा ज्ञान नहीं है, उन्हें पूरे वाक्य की शक्ति से शाब्द बोध होता है।

जो पुरुष व्याकरण के अभिज्ञ नहीं हैं वे भी सुनते-सुनते हरेऽव, दुर्गे! त्रामस्व' वाक्यों के अर्थ जानते हैं 'हे भगवन्! रक्षा करो', 'हे दुर्गे! रक्षा करो' परन्तु हरि का सम्बोधन हरे, दुर्गा का दुर्गे 'अव' का अर्थ रक्षा करना है, हरे+अव ऐसा पदच्छेद है, इसका उन्हें ज्ञान नहीं है। यदि बिना पदज्ञान के वाक्य ज्ञान न होता तो उन्हें बोध न होना चाहिए, परन्तु बोध होता है, अतः वाक्य में शक्ति मानना उचित है। यद्यपि वाक्य अनन्त हैं, उनके उतने ही अर्थ हैं, यह गौरव पदवादी दे सकते हैं, परन्तु प्रमाण सिद्ध गौरव तो मानना ही पड़ता है। पद शक्ति ज्ञान को कारण मानने पर क्या इतना गौरव न होगा? अन्विताभिधान-वाद में तो एक ही पद की अनन्त शक्तियाँ माननी पड़ती हैं। एक घट पद के—घड़ा है, घड़ा लाना, घड़ा हटाना आदि जितने कारक, क्रियायें हो सकती हैं, उतने अर्थ मानने पड़ेंगे। यह कितना बड़ा गौरव है।

नैयायिकों की शंका तथा उसका समाधान

यदि नैयायिक कहें कि वाक्य भले ही वाक्यार्थ बोधक माना जाय परन्तु वाक्य में शक्ति न माननी चाहिए, संसर्ग से ही वाक्यार्थ का बोध हो जायगा। उसका यह उत्तर है कि दो कारणों से वाक्य में शक्ति मानी जाती है।

(१) पद में शक्ति मानी जाय, वाक्य में नहीं इसमें क्या प्रमाण है।
(२) वाक्य में शक्ति मानने पर केवल एक कार्य-कारण भाव मानना पड़ता है।

तद्धर्मावच्छिन्न तद्विषयक शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नम् प्रति तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपितवृत्ति-विशिष्टं ज्ञानं हेतुः।[1]

'घटम् आनय' इस वाक्य के उच्चारण में घटकर्मक आनयन रूप अर्थ की प्रतीति होती है, इस बोध का कारण वाक्य शक्ति है या पद शक्ति?

---

१. स्फोटवाद पृ० ३७

आप कहते हैं पद शक्ति हम कहेंगे वाक्य शक्ति। आपका तर्क होगा कि बिना पदार्थ ज्ञान के वाक्यार्थ ज्ञान नहीं होता, अतः पदों में शक्ति मानी जाती है। हमारा तर्क है कि 'हरेऽव' में जिसे पद विभाग का ज्ञान नहीं है, उसे तो वाक्य से ही ज्ञान होता है। जब कोई ब्रह्मचारी किसी अपठित गृहस्थ के घर जाकर 'भवति भिक्षां देहि' कहता है, यदि उस गृहस्थ की अशिक्षित, परन्तु आस्तिक गृहिणी को पदार्थ ज्ञान नहीं है तो उसे बोध न होना चाहिए, तब कैसे वह भिक्षा देने जाती है। अतः सर्वत्र वाक्यार्थ के बोध में पद शक्ति ज्ञान हेतु है ऐसा नहीं कह सकते। इसी दृष्टान्त से सर्वत्र वाक्य शक्ति मानने में लाघव है। वाक्यशक्तिवादी यही मानता है कि घट कर्मक आनयन विषयक शाब्दबोध के प्रति 'घटम् आनय' इस वाक्य का 'घट कर्मक आनयन इस अर्थ में वृत्ति (शक्ति) है। इसी के लिए पदशक्ति वादी को दो कार्य-कारण भाव मानने पड़ते हैं—

(१) पदार्थ बोध स्थल में **घटत्वप्रकारकघटविशेष्यकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नम् प्रति घटत्वप्रकारकघटविशेष्यकशक्तिज्ञानं कारणम्।** (जहाँ घटत्व विशिष्ट घट का ज्ञान करना है, वहाँ घ् + अ + ट् + अ इस आनुपूर्वी की घटत्व विशिष्ट घट में शक्ति है, ऐसा ज्ञान कारण होता है।)

(२) वाक्यार्थ बोध स्थल में—**सांसर्गिकविषयताशालिवाक्यार्थविषयकशाब्दबोधम् प्रति आकांक्षाज्ञानं कारणम्।** (जहाँ पर दो पदों के संसर्ग से वाक्यार्थ बोध करना हो, वहाँ आकांक्षा ज्ञान कारण है।)

साथ ही योग्यता, आसत्ति को भी कारण कहना पड़ेगा।

पदार्थोपस्थिति काल में वाक्यार्थोपस्थिति नहीं रहती

जब घटम् तथा आनय पद का पृथक्-पृथक् ज्ञान होता है तब उद्बोधक न होने से वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार 'वः, नः, हरेऽव' इत्यादि में विशिष्ट शक्ति से संसर्ग रूप वाक्यार्थांश में जब तक कोई उद्बोधक नहीं रहता, तब तक ज्ञान नहीं होता। वाक्यार्थ बोध उद्बोधक का विचार होने पर ही होता है। इसीलिए यह प्रवाद चल रहा है—वाक्यार्थ अपूर्व है। **'अपूर्वो वाक्यार्थः'**[1] 'अपूर्वत्वं च शाब्दबोधप्राक्क्षणवृत्तितज्जनकशब्दजन्यवृत्त्यविषयत्वम्।'[2] (शाब्दबोध के पूर्व उसका कारण केवल शब्द रहता है वाक्यार्थ नहीं।)

१. स्फोटवाद, पृ० ५२

२. ,, ,,

वाक्यार्थ बोध प्रकार

अनुभव के बल से वाक्यार्थ की कल्पना होती है अनुभव नहीं होता। पदों से ही पदार्थ की उपस्थिति होती है तथा उन्हीं के द्वारा संसर्ग रूप वाक्य शक्ति के सहयोग से पदार्थ विषयक, पदार्थ संसर्ग विषयक शाब्दबोध होता है, यही उचित क्रम है। जैसे कोई स्वर्ग, नरक इत्यादि शब्दों को सुनता है, पर उसे यह प्रतीति नहीं होती कि 'मैं स्वर्ग या नरक का अनुभव करता हूं।' उसी तरह वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, अनुभव नहीं। अतः शाब्दत्व जाति विशेष है, अनुभव के अन्तर्गत नहीं है। पदार्थोपस्थिति स्मृति-रूप है, इसलिए केवल घट पद से घटत्वविशिष्ट स्मरण होता है, शाब्दबोध नहीं। इसी प्रकार राजपुरुषः इत्यादि में जहाँ समास होता है, वहाँ एकार्थी-भाव-कल्पना के सामर्थ्य से राज-सम्बन्धि-पुरुष-रूप-विशिष्ट-विषयक पदार्थोपस्थिति होती है।

मीमांसकों की आपत्ति तथा उसका निराकरण[1]

मीमांसक वाक्य की वाक्यार्थ में पृथक् शक्ति नहीं मानते, उनके कथन का सारांश इस प्रकार है—वाक्य की वाक्यार्थ में पृथक् शक्ति मानना उचित नहीं है, अन्यथा बड़े वाक्यों में, कभी-कभी छोटे वाक्यों में भी जब पहिले बोले गये पद भूल जाते हैं, तब वाक्यार्थ ज्ञान नहीं होगा। जैसे पूर्व वर्णों के भूल जाने से केवल अन्तिम वर्ण से पदार्थ बोध नहीं होता। अतः यह सिद्धान्त उचित है कि पद ही पहिले पदार्थों का बोध कराते हैं। तद नन्तर लक्षणा शक्ति के द्वारा वाक्यार्थ ज्ञान भी करा देते हैं। जैसा कि श्लोक वार्तिक में कहा गया है --

'न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेऽपि पदानि नः।
सर्वत्रैव हि वाक्यार्थो लक्ष्य एवेति नः स्थितिः॥'[2]

(स्थिति का अर्थ दर्शन या सिद्धान्त है।) मीमांसक सम्मत वाक्य का लक्षण—**'स्वसम्बन्धि पदार्थ बोधकं वाक्यम्'**।[3] जैसे गंगापद की शीत-लता, पवित्रता की विशेष प्रतीति कराने के लिये गंगातीर में लक्षणा की

---

१. स्फोटवाद, पृ० ५४
२. श्लोकवार्तिक, वाक्या० २२९
३. स्फोटवाद, पृ० ५५

जाती है, वैसे ही पदों की स्वसम्बन्धी अर्थबोधक होने से वाक्य में लक्षणा हो जायगी। यहाँ लक्षणा का प्रयोजन वाक्यार्थ ज्ञान ही है।

इसका सीधा उत्तर यह है कि एक तो किसी को वाक्यार्थ ज्ञान मे बाधा नहीं होती और वाक्यार्थ बोध का न होना (अनुपपत्ति) ही लक्षणा का बीज है। हमारे (वैयाकरण के) मत में तात्पर्य को वाक्यार्थबोध मे कारण नहीं माना जाता। यदि तात्पर्य ज्ञान की मान्यता करते ही हो तो उसकी अपेक्षा वाक्य में शक्ति मानना ही उचित है। रह गई बात वर्णों या पदों के भूलने की तो इसीलिये स्फोट सिद्धान्त में दृढ़तम आस्था होती जाती है। वह नित्य है, उसमें स्थित वर्ण या पद के भूलने की सम्भावना ही नहीं।

वाक्यार्थ विचार में निष्कर्ष

पदार्थों से वाक्यार्थ ज्ञान का अनुभव नहीं होता, बल्कि वाक्य से ही होता है, अतएव उसे वाक्यार्थ कहते हैं पदार्थ नहीं। पदार्थों का स्वभाव है कि वे परस्पर संसर्ग करें अतः प्रायः पदार्थ ज्ञानपूर्वक ही वाक्यार्थ ज्ञान होता है, पर इतने से ही पदार्थ ज्ञान वाक्यार्थ ज्ञान का कारण नहीं हो सकता। जिसका मन विकृत हो गया है, या जो वाक्य सुनने के समय दूसरी बात सोच रहा था, वह उस समय कही हुई बात को नहीं समझ पाता। थोड़ी देर बाद स्वस्थ चित्त होकर पूछता है—'मैंने आपकी बात नहीं सुनी, अतः आपका विवक्षित (जो कहना चाहते थे) नहीं समझ पाया। मैं उस समय दूसरी बात सोच रहा था, कृपया पुनः कहिये।' अतः निश्चित हुआ कि संसर्ग हो वाक्यार्थ है, उसका बोध न होने से केवल पदों को सुनते हुए भी पूरे वाक्य का बोध नहीं हो पाता है।

वाक्यार्थ बोध में सामान्य शंका तथा उसका निराकरण[1]

शंका—पद तथा वाक्य दोनों ही वर्ण समूह रूप होते हैं। ऐसी स्थिति में वर्ण समूह रूप पद, पद समूह रूप वाक्य दोनों का ज्ञान असम्भव है, क्योंकि चाहे पद के हों चाहे वाक्य के, दोनों में वर्ण क्रमशः ही उच्चारित होंगे। उत्पत्ति पक्ष में क्रमशः उत्पन्न, अभिव्यक्ति पक्ष में क्रमशः अभिव्यक्त वर्ण एक साथ रह ही नहीं सकते।

---

१. स्फोटवाद, पृ० ६८

उत्तर—'कमलम्' एक पद है इसमें 'क्, अ, म्, अ, ल्, अ तथा म्' ये सात वर्ण हैं। पहिले क् की अभिव्यक्ति हुई, उसके बाद अ की अभिव्यक्ति में अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्ध से पूर्व वर्ण की भी उपस्थिति रहेगी। इसी क्रम से अन्तिम म् में सभी पूर्व वर्णों की उसी व्यवधान रहित क्रम से उपस्थिति होने से पद तथा वाक्य रूप स्फोट में सभी वर्णों का ज्ञान रहेगा ही, इसीलिए 'सरो रसः', 'नदी दीनः', 'जरा राज' इत्यादि में पृथक्-पृथक् अर्थ-बोध होता है।

मीमांसक का पद बोध प्रकार तथा उसका खण्डन

उपर्युक्त आपत्ति के कारणार्थ अन्य दार्शनिक विशेषतया मीमांसक कहते हैं कि प्रत्येक वर्ण का अनुभव, उससे उत्पन्न संस्कार के साथ अन्तिम वर्ण के प्रत्यक्ष से पदबोध होता है। इसे स्मृति-प्रत्यय कहते हैं, इसमें अन्तिम वर्ण तो है ही, उसके साथ पूर्व वर्ण के संस्कार भी है। इस स्मृति में जिस क्रम से वर्णों का अनुभव होता है, उसी क्रम से उनका अवगाहन भी होता है, अतः सरो, रसः इत्यादि में एक रूप बोध नहीं होता। यह उत्तर सदोष है, क्योंकि जिस क्रम से पदार्थों का अनुभव होता है, उसी क्रम से उनका स्मरण भी हो, ऐसा नियम नहीं है। ऐसा देखा गया है कि परसों जिसका अनुभव हुआ, उसका स्मरण न होकर कल जिसका अनुभव किया, उसका स्मरण हो जाता है। यद्यपि क्रम में परसों का अनुभव पहिले आता है। हाँ संस्कार, स्मृति का विषय समान होता है, परन्तु संस्कार में क्रम का नियम नहीं रहता, इसलिए वह स्मरण का आधार नहीं बन सकता।

स्फोट के वर्ण, पद तथा वाक्य ये तीन भेद बोद्धा (समझने वाले) के अनुसार हैं, दार्शनिकों के अनुसार नहीं[1]

वैयाकरणों ने बड़ी सूझ-बूझ से स्फोट के तीन भेद माने हैं। उनका कथन है कि वर्ण पद तथा वाक्य स्फोट की व्यवस्था वादी के भेद से नहीं की गई कि यह मत अमुक दार्शनिक (वैयाकरण, मीमांसक, नैयायिक या वेदान्ती) का है, जैसा कि प्रतिद्वन्द्वी दार्शनिक समझते हैं, अपितु समझने वालों के भेद से ये त्रिविध स्फोट माने गये हैं। लोक में समझने वाले मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं। (१) **व्याकरण वेत्ता**—उन्हें प्रकृति-प्रत्यय प्रत्येक में शक्ति ज्ञान पूर्वक बोध होता है, उनके लिए वर्ण स्फोट है। (२) **पदवेत्ता**

१. स्फोटवाद पृ० ६६

कुछ ऐसे भाषाविद् होते हैं, जिन्हें प्रकृति-प्रत्यय का पृथक्-पृथक् ज्ञान नही है, हाँ सुबन्त, तिङन्त पदों (ज्ञानम्, भवति आदि) का ज्ञान है, जैसे आधुनिक पद्धति से संस्कृत का अध्ययन करने वाले छात्र। उन्हें पद मे शक्ति ज्ञान से बोध होता है, उनके लिए पद स्फोट का समर्थन किया गया है। (३) **वाक्य वेत्ता** (बालक या भाषाभेद से अपरिचित जन-समुदाय) किसी को केवल वाक्य रूप समुदाय में ही शक्ति ज्ञान होता है, उसी से बोध भी होता है, उसके लिए वाक्य स्फोट माना गया है। अथवा एक ही व्यक्ति को पहिले वाक्य पुनः पद तदनन्तर प्रकृति-प्रत्यय ज्ञानपूर्वक बोध होता है।

अतः बोद्धा के ही अनुरूप व्यवधान-रहित वर्ण, तत्समुदाय रूप पद, अथवा वाक्य ज्ञान को हेतु मान लेना चाहिए, इसमें प्रोढ़िवाद करना शुष्क तर्क ही होगा, वस्तुस्थिति का बोध नहीं। जैसा कि नागेश भट्ट ने बड़े व्यवस्थित ढंग से कहा है—

अत्रेदं बोध्यम्-निरूपितं स्फोटत्रयं न वादिभेदेन व्यवस्थापितम्, किन्तु बोद्धृभेदेन। कस्यचित् प्रकृति-प्रत्यययोः प्रत्येकं तत्तदर्थे शक्तिग्रहाद् बोधेन, कस्यचित्पारिभाषिकसुबन्तादि पदे तद्ग्रहाद् बोधेन, कस्यचित् तत्समुदाये तद्ग्रहाद्बोधेन त्रयाणामप्यावश्यकत्वात्।[1]

स्फोट के सखंड, अखंड पक्ष

प्रातिशाख्य में **'पदप्रकृतिः संहिता'** वाक्य कहा गया है, इसके **'पद-प्रकृतिः'** इस समस्त पद के दो विग्रहों से दो पक्ष सूचित होते हैं—**पदानाम् प्रकृतिः—कारणम्** (ष० त०) अखण्ड पक्ष का सूचक है, तथा **पदानि प्रकृतिः यस्याः सा** (ब०) विग्रह से सखण्ड पक्ष सूचित होता है। यद्यपि स्फोट को एक, निरवयव तथा अभिन्न कहा गया है, तभी उसका अनादि-निधन, अक्षर नाम सार्थक होता है, तथापि जैसे अज्ञानवश या अपनी स्वल्पग्राहिणी बुद्धि के कारण मनुष्य एक घट के अनेक अवयवों की कल्पना करते हैं, एक शरीर के हाथ, पैर नाक, आँख, कान आदि भेद मानते हैं; तथैव एक वाक्य में अनेक पद तथा एक पद में अनेक वर्णों की कल्पना कर उनकी वाचकता को खण्डशः समझना सखण्ड स्फोट है। इसका अर्थ यह नहीं है कि शब्द तथा

---

1. स्फोट वाद, पृ० ७०

उसके अर्थ का ज्ञान खण्डों द्वारा होता है, बल्कि प्रकृति-प्रत्यय के अर्थ के सहित पद-पदार्थ का ज्ञान तथा कारक-क्रिया के अर्थज्ञान पूर्वक वाक्य-वाक्यार्थ ज्ञान ही सखण्ड ज्ञान है।

सखण्ड स्फोट का समर्थन भाष्यकार ने इन शब्दों में किया है— **'नित्येषु नाम शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यम् अनपायोपजन विकारिभिः**।[1] (पदवाक्य रूप) नित्य शब्दों में वर्ण विनाश-उत्पत्ति-विकार रहित (नित्य) एकरूप तथा कभी विचलित न होने वाले रहते हैं। अवयवावयविभाव को मानने पर ही यह कथन सार्थक होता है। पद में वर्ण, वाक्य में पद की कल्पना अर्थबोध की दृष्टि से की गई है। अतः वर्ण (प्रकृति-प्रत्यय) के खण्ड नहीं माने गये। यह अर्थबोध भी केवल उस प्रक्रिया को जानने वालों को ही होता है। इसलिए नागेश ने कहा है कि स्फोट के भेद जानने वाले (बोद्धा) की दृष्टि से किये गये हैं।[2] वैयाकरणो को प्रकृति-प्रत्यय-ज्ञानपूर्वक पद-ज्ञान होता है, अतः सखण्ड पद स्फोट उन्हीं के हेतु है। जिनको 'रामः', 'गच्छति' से ही 'राम जाता है' यह अर्थज्ञान होता है, वे पद में खण्ड कर ही नहीं सकते, तब उन्हें बोध कैसे होगा। इसी प्रकार जो पूरे वाक्य से अर्थ समझते हैं पद की कल्पना नहीं कर सकते, उन्हें भी अखण्ड वाक्य से अखण्ड अर्थ का बोध होता है।

अखण्ड पद-स्फोट

रामः, कमलम्, शाकटायनः इन तीन पदों में क्रमशः ४, ७ तथा १० वर्ण हैं, तथापि इनमें एक पद की प्रतीति होती है। साथ ही यह वही घट पद है, ऐसी प्रतीति में यह, वह शब्दों से एक घट पद की ओर संकेत होता है। इसी प्रकार 'घटमानय' (घटम् आनय) यह एक वाक्य है, ऐसी प्रतीति होती है न कि घटम् आनय ये दो पद हैं। यह प्रतीति मिथ्या नहीं है। अतः वर्ण से अतिरिक्त तथा वर्ण रूप ध्वनियों से व्यंग्य होने वाला पद या वाक्य अखण्ड ही है अर्थात् जैसे रामः, रामम्, रामेण में प्रकृति-प्रत्यय अलग नहीं किये जा सकते, वहाँ अखण्ड पद को वाचक मानना ही है, अतः सर्वत्र उसी को वाचक माना जाय। इसी दृष्टान्त से वाक्य को भी अखण्ड ही मानना चाहिए क्योंकि हरेऽव में पदों की पृथक् सत्ता रह

१. म० भा० १।१।२०, पृ० १८४

२. स्फोटवाद, पृ० ७०

नहीं जाती। वहाँ जैसे वाक्य-शक्ति माननी है तो सर्वत्र अखण्ड वाक्य को ही वाचक मानना उचित है।

पद, वाक्य में एकत्व प्रतीति वर्ण विषयक नहीं हो सकती, क्योंकि वर्ण अनेक हैं। वर्ण समुदाय भी एकत्व का विषय नहीं बन सकता, क्योंकि उत्पन्न, विनष्ट होने वाले क्षणस्थायी वर्णों का समुदाय हो ही नहीं सकता। यदि ऐसा माना जाय कि जैसे वन में वृक्ष बहुत होते हैं, परन्तु 'वनम्' यह एकवचनान्त ही प्रयोग होता है, तथैव वर्णों के अनेक होने पर भी उनके समुदाय में एकवचन का व्यवहार हो जायगा तो यह दृष्टान्त यहाँ नहीं घटित होता, क्योंकि वृक्ष वन नहीं हैं, न वृक्ष समुदाय को वन कहा ही जाता है। वन तो वृक्ष, लता, घास, टेढ़े रास्तों के सहित, जानवरों से युक्त ऊबड़-खाबड़ जमीन को कहते हैं, अतएव वने भवः वन्यः वृक्षः प्रयोग होता है। यदि वृक्ष ही वन होता तो इससे तद्धित प्रत्यय नहीं हो सकता तथा वन्य वृक्ष का यह अर्थ नहीं होता' वन में उत्पन्न हुआ वृक्ष'।

एक ही प्रदेश में उत्पन्न, स्थित वृक्षों में वन पद का व्यवहार होता है वैसी स्थिति वर्णों की नहीं है, क्योंकि उनका समुदाय हो ही नही पाता। एक अर्थ का बोधक होने से वर्ण एक नहीं कहे जा सकते, तब तो राज्ञः पुरुषः तथा राजपुरुषः दोनों में एकता होने लगेगी, एक विग्रह है, दूसरा समास परन्तु दोनों एक ही अर्थ के बोधक हैं।

यदि वर्ण वादी (मीमांसक, वेदान्ती) हठपूर्वक वर्णों को ही पद मानें तो ऐसे भी वर्ण हैं, जिनमें अवयव का अनुभव होता है, जैसे ऋ में र्, लृ में ल्; ए में अ, इ; ओ में अ, उ; ऐ में अ, ए; दीर्घ आ, ई, ऊ स्वरों में दो ह्रस्व अ, इ, उ इस प्रकार अवयव होने पर वर्ण की सिद्धि नहीं हो सकती। ये दोनों पक्ष भाष्य में 'वर्णैकदेशाः वर्णग्रहणेन चेत् सन्ध्यक्षरे समानाक्षर विधि प्रतिषेधः[1]' वार्तिक की व्याख्या में इस प्रकार कहे गये हैं, यदि वर्ण के अवयव को वर्ण माना जायगा तो दीर्घ, यण् कार्य का प्रतिषेध करने के लिए नियम बनाने होंगे। अग्ने + इन्द्रम्, वायो + उदकम् में दीर्घ सन्धि की प्राप्ति होगी, क्योंकि ए में इ तथा ओ में उ है। तथा गृहे + आगतः में इ का य् प्राप्त होगा।

इसी प्रकार ह्रस्व मानकर होने वाले अन्य कार्यों की शंका करके इस प्रकार समाधान किया गया है, जहाँ अवयव समुदाय से पृथक् हो वह

---

१ म० भा० १।१ २ पृ० ८१

तदाश्रित सन्धि आदि कार्य होते हैं। जहाँ पर अवयव समुदाय के अंगभूत है, वहाँ पर ये कार्य नहीं होते। जैसे कहा जाता है–तेल न बेंचना चाहिए, घी न बेंचना चाहिए, परन्तु सरसों, गायों का विक्रय होता है, यद्यपि तेल, घी इनमें अविभक्त रूप से रहता ही है।[1]

इस प्रकार अखण्ड पक्ष मानने पर शब्दव्युत्पत्तिविषयक महान् प्रयास के निरर्थक होने की आशंका होने लगती है। महर्षि पाणिनि के प्रयास से रचित सूत्र व्यर्थ, प्रतारक प्रतीत होते हैं। शब्द-साधना में विद्यार्थियों का परिश्रम, समययापन जलताड़न मात्र हो जाता है, इसका उत्तर यह है कि प्रकृति-प्रत्ययादि की कल्पना उन विद्यार्थियों के लिए है, जो शब्द ज्ञान की परिधि में प्रविष्ट हो रहे हैं, जिन्हें शब्द-साधुत्व के लिए किसी विशिष्ट विद्वान् के निर्धारित नियमों को ही प्रमाण मानना है,—ऐसे छात्रों को लक्षणैकचक्षुष्क कहा गया है (लक्षण–सूत्र ही जिनके एकमात्र नेत्र हैं, अर्थात् जो नियमों के सहारे ही भाषा का ज्ञान कर सकते हैं।) जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—

'उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः,
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।'[2]

अखण्ड वाक्य स्फोट

वैयाकरणों का परम, चरम सिद्धान्त वाक्य-स्फोट है, यह अखण्ड, एक तथा निरवयव है। महावैयाकरण भर्तृहरि ने इसे चित्र के रूप में बताया है। उनका कथन है कि जैसे चित्र जब तक बुद्धि में रहता है, तब तक उसकी एकता अक्षुण्ण रहती है। जब उसे कागज, तख्ते, दीवाल या पत्थर पर बनाने का विचार होता है, तब उसमें अवयवों का क्रम हो जाता है। अनेक रंगों का उपयोग होने से विविधता, अनेकता बढ़ती जाती है, परन्तु जब चित्र पूरा बन जाता है, तब उसका अवलोकन करने वाले उसे एक ही चित्र समझते हैं, उनकी प्रथम दृष्टि अभिन्न चित्र को देखती है। बाद में पूर्व संस्कारवश वे उसके अवयवों की कल्पना में प्रवृत्त होते हैं।[3] समस्त चित्रों में चित्रज्ञान एक ही होता है, उसमें भेद-प्रतीति दृश्यवस्तु के

---

१. म० भा० १।१।२, पृ० ८३
२. वाक्य० २।२४०
३. ,, २७

भेद के कारण होती है, ज्ञानभेद से नहीं। न ज्ञान में आकार का भेद है न वस्तु का। इसी प्रकार स्फोट भी अखण्ड है। वक्ता की बुद्धि में वह एक, निरवयव रहता है, परन्तु जब वह दूसरे को समझाने के लिए उसको कहना चाहता है, तब ध्वनि रूप वर्णों का सहारा लेता है, उन्हीं वर्णों के भेद से उसमें भी भेद प्रतीति होती है। पुनः बोद्धा की बुद्धि में पहुँचकर वह एक रूप हो जाता है।[1]

जैसे चित्रज्ञान अखंड है, वैसे ही बाह्य चित्र भी अखंड है। ठीक इसी प्रकार वाक्य स्फोट भी अखंड है। वाक्यों में पदों का दर्शन करने वाले पददर्शी कहे जाते हैं तथा कुछ वैयाकरणों, निरुक्तकारों की पदवाद मे आस्था है, इस विषय का विवेचन हो गया है। परन्तु जैसे अखंड पद में प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना बालबोधार्थ है, वास्तविक नहीं; उसी तरह वाक्य में पदों की कल्पना की जाती है, इसे 'अपोद्धार' कहते हैं, इसका अर्थ पृथक् करना है। स्फोट रूप वाक्य की अखंडता को वाक्यपदीयकार ने इस प्रकार कहा है —

'पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च (इव)।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥'[2]

जैसे ए, ओ वर्णों में अवयव प्रतीत होते हुए भी नहीं माने जाते हैं, तथैव पचति इत्यादि पदों में वर्णों की स्थिति नहीं है। अतः वर्ण-समूह को पद नहीं कहा जा सकता या वर्णों को पद का अवयव नहीं माना जा सकता। इस अखंडता रूप धर्म की एकता पद, वाक्य दोनों में है, अर्थात् 'गौः' यह एक पद है, इस कथन से जैसे पद एक माना जाता है, तथैव 'गामानय' यह एक वाक्य है इस सर्वसिद्ध कथन से वाक्य भी एक, अखड माना जायगा।

यहाँ यह शंका स्वाभाविक है कि वर्णों को माना ही क्यों जाय? वर्ण स्थल में भी ध्वनि होती है, उसी से स्फोट की अभिव्यक्ति हो जायगी, पुनः ध्वनि तथा स्फोट के मध्य में वर्ण मानने पर गौरव होगा। इसका यह उत्तर है कि ध्वनि ही व्यक्त होने पर वर्ण कही जाती है, दूरी होने पर उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं होती है, केवल उसका ध्वनि रूप सुनाई पड़ता

---

१ ,, २।८-९
२ वाक्य० १।७३

है। इस प्रकार 'इस वाक्य से यह अर्थबोध हुआ' इस अनुभव से उसका अखंड रूप वाचकत्व समर्थित हुआ। इसमें दो मत हैं - (१) वाक्यों के भेद से अनेक स्फोट होते हैं। (२) सर्वत्र एक ही स्फोट होता है उसी को मानने में लाघव है, व्यंजक अनन्त वाक्यों के भेद से अर्थ प्रतीति में भेद हो जाता है। जैसा कि शेष कृष्ण का कथन है ---

'यथा मणि कृपाणादौ रूपमेकमनेकधा
तथैव ध्वनिषु स्फोट एक एव विभिद्यते ॥'[1]

(जैसे एक ही रूप मणि, दर्पण, खड्ग आदि में प्रतिबिम्बित होकर उनके छोटे, बड़े, लम्बे, गोल आदि आकारों के भेद से भिन्न प्रतीत होता है, तथैव उच्चारण के कण्ठादि स्थान एवम् प्रयत्न के भेद से भिन्न ध्वनियों के रूप में अभिव्यक्त एक ही स्फोट घट, पट, गौः आदि अनेक रूपों का प्रतीत होता है।)

अखण्ड स्फोट विषयक शंका-समाधान

अखण्ड स्फोट को स्वीकार करने पर नैयायिकों एवं मीमांसकों ने कई आपत्तियाँ उपस्थापित की हैं, वे इस प्रकार हैं---स्फोट को यदि स्वरूपतः अर्थबोधक मानते हो तो उसके नित्य होने पर सदा अर्थ बोध होगा, जैसे नेत्र से घड़ा दिखाई पड़ता है। यदि प्रतीत होने पर, जैसे धूमज्ञान वह्निज्ञान का प्रत्यायक है, तथैव स्फोट भी वर्णों से अभिव्यक्त होने पर अर्थ का प्रत्यायक होगा। इस पक्ष में एक पद या एक वाक्य को ही स्फोट का अभि-व्यंजक माना जायगा। यदि वर्ण-समुदाय को ही पद मानते हो तो उन्हीं को वाचक मान लेना अधिक उपयुक्त है। यदि वर्णों के अतिरिक्त पद मानते हो तो उसकी प्रतीति ही नहीं होती, क्योंकि वर्णों का ही श्रावण प्रत्यक्ष होता है, तदतिरिक्त का नहीं।[2]

वैयाकरण स्फोट को वर्ण व्यंग्य मानते हैं, उस पद्धति में दो विकल्प सम्भव हैं---(१) वर्णावली की स्फोट व्यंजकता अर्थ के सम्बन्ध को ग्रहण कर होती है। (२) अर्थ के सम्बन्ध को बिना ग्रहण किये ही वर्णावली स्फोट व्यंजक होती है। प्रथम विकल्प में यह दोष है कि जब वर्णों से अर्थ का सम्बन्ध करने के बाद स्फोट की व्यंजना करनी है तो उन्हीं को क्यों न वाचक

---

१ स्फो० त० नि० कारिका ११

१ न्याय सुधा पृ० ८७ व माधव विलास ग्रन्थमाला संस्करण, (कुम्भकोणम

मान लिया जाय। यदि द्वितीय विकल्प मानते हो तो जहाँ पर कोई कविता सुनी गई, परन्तु अर्थबोध नहीं हुआ, वहाँ पर भी वर्णावली से अभिव्यक्त एक पद या एक वाक्य रूप स्फोट की प्रतीति होने लगेगी।[१]

पद, वाक्यगत एकत्व प्रतीति तो एकार्थ बोधक होने के कारण होती है। जैसा कि मीमासा भाष्य में कहा गया है - **'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्[२]।'** 'यह वही पद है' ऐसी प्रतीति तो इस तरह होती है, जैसे 'यह वही नाखून है' 'या' ये वे ही बाल है' यह प्रतीति पूर्व नख-केशों को काटने के बाद दुबारा उगने वाले नाखून या केशों के विषय में होती है। यदि कहते हो कि अतिरिक्त नख-बाल की प्रतीति अनुभव-विरुद्ध है, तो हमारे मत में भी 'गौ:' मे गकार, औकार, विसर्ग के अतिरिक्त स्फोट की प्रतीति अनुभव-विरुद्ध है।[३] इसी प्रकार पर्याय शब्दों में स्फोट एक माना जाय तो जिसे घट पद से अभिव्यक्त स्फोट द्वारा घड़ा इस अर्थ का ज्ञान है उसे कलश पदाभिव्यक्त स्फोट से भी ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि स्फोट दोनों जगह एक ही है। यदि अनेक स्फोट माने तो अनन्त पदों की अनन्त पदार्थों मे शक्ति-कल्पना की अपेक्षा निश्चित वर्णों में ही शक्ति कल्पना करने में लाघव है।[४]

(क) प्राचीन वैयाकरणों का उत्तर

उपर्युक्त सभी शकाओं का उत्तर कैयट, भट्टोजिदीक्षित प्रभृति प्राचीन वैयाकरणों ने इस प्रकार दिया है स्फोट वादी वैयाकरण अर्थ से सम्बन्ध को ग्रहण किये हुए तथा क्रम से उच्चरित; पूर्व पूर्ववर्णानुभवजनित संस्कार सहकृत अन्तिम वर्ण रूप वर्ण समुदाय द्वारा अभिव्यक्त अर्थ विशेष से सम्बन्धित स्फोट से ही अर्थ की प्रतीति मानते हैं, अतः स्वरूप से अर्थबोध नहीं होता, क्योंकि उसकी अभिव्यक्ति नहीं हुई न बिना अर्थ सम्बन्ध को समझे ही अर्थ-बोध होगा। नख, बालों का साम्य ठीक नहीं है, वहा प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि ये नख, बाल दुबारा उगे हुए है। एकार्थ-बोधक अनेक पर्यायो में हम (वैयाकरण) अनेक स्फोट

---

१. परिमल, पृ० ३३० (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई संस्करण १९१७)
२. मी० सू० २।१।४६
३. न्याय रक्षामणि, पृ० १६४ (कुम्बाकोणम् संस्करण)
४ परिमल, पृ० ३२८-३२९

मानते हैं, यह प्रामाणिक गौरव दोषावह नहीं कहा जा सकता। रह गई बात वर्णों की अर्थ बोधकता की स्वीकृति, उसका निराकरण पहले ही किया जा चुका है; जैसा कि शब्दकौस्तुभ में कहा गया है—'**वर्णनानाम् पदमिति प्रतीतेर्वर्णातिरिक्त एव स्फोटः**।[1] उपर्युक्त समाधान अनेक वर्णों को मानकर किया गया है।

(ख) नव्य वैयाकरणों द्वारा समाधान

नव्य-वैयाकरण-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक नागेश भट्ट का विचार है कि वर्ण एक ही है। क ख ग इत्यादि भेद तो वर्णों के उत्पादक स्थान-विशेष में अभिहत वायु-संयोग के कारण होते हैं। एक ही वायु जब कठ, तालु आदि अनेक स्थानों में अभिघात कर प्रयत्नपूर्वक बाहर आता है तब क, च आदि अनेक ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे बहुवर्णवादी वायु-संयोगनिष्ठ तार, मन्द्र ध्वनि को परम्परा से वर्णनिष्ठ मानकर उच्चस्वर वाला अ, गम्भीर स्वर युक्त अ इत्यादि व्यवहार करते हैं, जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने कहा है—'**तारत्वादि वायुनिष्ठं वर्णेष्वारोप्यते**'[2] तथैव हम एक वर्णवादी भी वायु संयोगनिष्ठ कत्व आदि को शब्द रूप एक वर्ण में आरोपित कर भेद-प्रतीति का निर्वाह कर लेंगे। 'यह वही गकार है' या यह वही पद है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा भी गत्व के आधार भूत वायु संयोग रूपी व्यंजक धर्म रूषित होने से भिन्न रूप प्रतीयमान होते हुए भी पारमार्थिक एक वर्ण को मानकर ही होती है। जैसे मणि, कृपाण तथा दर्पण इत्यादि उपाधि वश एक ही मुख का लम्बा, वर्तुल, चौड़ा इत्यादि अनेक रूप सम्बन्ध प्रतीत होता है, इसी प्रकार एक ही वर्ण में व्यंजक ध्वनि के कारण अनेकता (क, ख, ग रूप) का भ्रम होता है। इसी प्रकार पदार्थ की एकता से एक पद व्यवहार होता है। स्फोट की अखण्डता में यह परिपुष्ट प्रमाण है।

इस कारण यदि प्रतिपक्षी कहें कि अनेक विध वायु संयोग को ही क्यों न वाचक मान लिया जाय तो यह ठीक नहीं है। क, ख आदि वर्ण प्रत्यक्ष सिद्ध हैं तथा 'मैं सुनता हूँ' ऐसी अनुभूति होती है, अतः स्फोट आवश्यक है। वायु संयोग विभिन्न प्रकार के होते हैं, कोई कत्व, कोई खत्व कोई चत्व रूप से अभिव्यंजक होते हैं। अभिव्यक्ति क्षणिक होती है, परन्तु

१. वै० भू० सा० पृ० ५६८ में उद्धृत
२. भामती १-३-२८

त्वादि वैशिष्ट्य से युक्त पूर्व पूर्व संस्कार सहकृत अव्यवहितोत्तर सम्बन्ध से, घत्व से अभिव्यक्त स्फोट की परम्परा टत्व से अभिव्यक्त स्फोट मानी जाती है, तभी बोध होता है। इसीलिए जहाँ वक्ता दू· गि· · दे··· (दूध गिरा देखो) कहता है, वहाँ स्फोट-श्रवण-रूप-कारणता के अभाव में श्रोता को बोध नहीं होता। या श्रोता जब अर्ध-बधिर होता है, तो उसे एक दो वर्णों के सुनने के बाद वक्ता के अभिमत अर्थ से विलक्षण बोध होने लगता है।

मीमांसक लाघव के कारण सभी क वर्णों को एक क, सभी ग वर्णों को एक ग मानते हैं, इस प्रकार उनके अनुसार वर्ण संख्या ४१ होगी। तदपेक्षया लाघव वश एक ही वर्ण माना जाय। सभी ध्वनियाँ एक ही मान ली जायं, जहाँ व्यक्त शब्द हो वहाँ ध्वनि, वर्ण दोनों, एवं जहाँ अव्यक्त शब्द हो, वहाँ पर केवल ध्वनि मानना चाहिए। विलक्षण वायु संयोग रूप उपाधि वश वर्ण एवं ध्वनि के अनेक भेद मान लेने से काम चल जायगा, यही समीचीन है। एक ही श्रोत्रग्राह्य स्फोट रूप शब्दतत्त्व मानना चाहिए, उसी की विजातीय वायु संयोगों के द्वारा कत्वादि रूप से तथा दूसरे वायु संयोगों के द्वारा ध्वनि रूप से अभिव्यक्ति होती है, यह वैयाकरण-सम्मत सिद्धान्त है। जब व्यंग्य शब्द कत्वादि से आक्रान्त (अभिव्यक्त) होता है, तब उसमें वर्ण का, जब उससे अनाक्रान्त होता है, तब ध्वनि का व्यवहार होता है। इस प्रकार सभी दार्शनिकों द्वारा सम्मत भेद का भी निर्वाह सुकर हो जाता है।

जैसे अद्वैत सिद्धान्त में सुख एक ही माना जाता है, परन्तु धन, पुत्र प्रभृति विषयों के सम्बन्ध से जायमान वृत्तियों के वैचित्र्य से उसमे काल्पनिक भेद माना जाता है तथा धन सुख, पुत्र सुख, राज्य सुख आदि में विशेष्यांश सुख में अभेद ही इष्ट है, तथैव व्यंजक वायु संयोग गत वैजात्य सम्बन्ध से एक ही स्फोट में क, ख इत्यादि भेद प्रतीति तथा उसके सम्बन्ध का आरोप न करने से क स्फोट, ख स्फोट, घट स्फोट, पट स्फोट, दध्यानय स्फोट, गां बधान स्फोट में विशेष्यांश स्फोट में अभेद सम्मत है।[1]

पुनः यदि कुतर्ककारी कहें कि हम विलक्षण वायु संयोगों को ही

---

१ स्फो० चा०, पृ० ८० ८१

श्रोत्र ग्राह्य मान लेंगे पर अतिरिक्त स्फोट न मानेंगे, उसका उत्तर यह है कि एक गकार, एक पद, एक वाक्य इत्यादि प्रतीति के अनुरोध वश स्फोट मानना आवश्यक है, इसीलिए वाचस्पति मिश्र ने तत्त्व विन्दु में स्फोटवादी का मत उपस्थापित करते हुए स्फोट की अखण्डता इस प्रकार बताई है— 'वस्तुतः ककारादतिरिच्यमानमूर्तेर्गकारस्याभावात् ।[1]

वैयाकरणों द्वारा पदप्रक्रिया-मोह का त्याग तथा नित्य शब्द पर आस्था

स्फोट सिद्धान्त अपना कर शब्द-स्वरूप-ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए वैयाकरण साधकों को अपनी शब्दानुशासन रूपा सम्पूर्ण योग्यता शब्द तत्त्व-ज्ञानकाल में इस प्रकार त्यागनी पड़ी जैसे ईश्वरोन्मुख भक्त सांसारिक-विभूतियों को त्याग देता है। उन्होंने न केवल व्याकरण, अपितु सभी शास्त्रों में पद्धति को अविद्यापरक ही माना है। कौण्डभट्ट तथा नागेश भट्ट ने अखण्डस्फोट मानने पर शास्त्र की आवश्यकता अखण्ड स्फोट बोध के उपाय के रूप में बताई है।[2] जैसे अद्वैत वेदान्त दर्शन में आनन्द बल्ली में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय इन पाँच कोशों के कथनानन्तर मुख्य ब्रह्म तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, वहाँ पर इन पाँच रूपों की उक्ति शुद्ध ब्रह्म बोधनार्थ उपयोगिनी है तथैव व्याकरण शास्त्र भी प्रकृति-प्रत्यय-पद-वाक्य-अखण्ड वाक्य का निर्देश करके वास्तव स्फोट के व्युत्पादन में उपायभूत माना जाता है।

शास्त्र ज्ञान के विना भी 'गामानय' इत्यादि वाक्यों से बोध होने पर भी व्याकरण शास्त्र के द्वारा प्रकृति-प्रत्ययादि व्युत्पादनपूर्वक स्फोट का ज्ञान मोक्षार्थी साधक के लिए शारीरिक शुद्धि मात्र फलप्रद होता है, अर्थात् जैसे शरीर की व्याधियों की चिकित्सा आयुर्वेद शास्त्र ज्ञान द्वारा होती है, तथैव अपभ्रंशरूपी वाङ्मलों की चिकित्सा व्याकरण शास्त्र से की जाती है। अर्थात् प्रकृति प्रत्यय व्युत्पत्ति पूर्वक वाचक स्फोट रूप शब्द-तत्त्व ज्ञान के प्रति व्याकरण शास्त्र कारण है तथा लघु उपाय से सभी साधु शब्दों के ज्ञानार्थ शास्त्र का उपयोग सार्थक है। अथवा शास्त्र-प्रक्रिया केवल सत्यज्ञान का उपाय है। जैसे कोई ग्रामीण नागरिक को नीलगाय का स्वरूप समझाने के लिए रेखाओं द्वारा उसका चित्र बनाकर कहता है

---

१. तत्वबिन्दु, पृ० १६

२ वै० क० भू० कारिका ६८ तथा स्फो० वा०, पृ० ६२-६६

कि यह नीलगाय है, तथैव व्याकरण शास्त्र द्वारा प्रकृति-प्रत्यय-विभाग पूर्वक अनुशिष्ट शब्द मुख्य स्फोट शब्द का परिचायक होता है। पहिले प्रकृति-प्रत्यय-कल्पना-ज्ञान, पुनः उसको त्याग कर नित्य शब्द का ज्ञान साक्षात् ब्रह्म की प्राप्ति का द्वार है। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—

'उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ।[1]

प्रकारान्तर से व्यक्ति स्फोट के पाँच भेद

अन्य वैयाकरणों ने व्यक्ति स्फोट के उपर्युक्त पाँच विभाग इस प्रकार माने हैं—[2]

१—वर्ण स्फोट

एक अक्षर वाले कोश-सिद्ध-अर्थ का वाचक वर्ण ही होता है, उसके अवयव नहीं होते, यह वर्ण स्फोट का तात्पर्य है।

२—सखण्ड पद स्फोट

जहाँ पर भवति आदि में प्रकृति-प्रत्यय-विभाग के ज्ञान पूर्वक भू धातु तथा ति प्रत्यय के द्वारा बोध हो उसे सखंड पद स्फोट कहते हैं।

३—अखण्ड पद स्फोट

उपर्युक्त पद में प्रकृति प्रत्यय के बिना जाने हुये या वः, नः में प्रकृति-प्रत्यय समूह का आदेश होने से अखंड बोध होने पर अखंड पद स्फोट हो जाता है।

४—सखण्ड वाक्य स्फोट

हरेऽव, दध्यानय आदि में कारक, क्रिया के ज्ञान के द्वारा वाक्यार्थ-बोध होने पर सखंड वाक्य स्फोट कहलाता है।

५ अखण्ड वाक्य स्फोट

उपर्युक्त स्थलों में जब अवयव ज्ञान के बिना समुदाय-बोध होता है तो उसे अखंड वाक्य स्फोट की संज्ञा दी जाती है।

---

१. वा० प० २।२४०

२. स्फो० वा० ३५-३६

जाति स्फोट निरूपण

जाति को पदार्थ मानने का विचार पहले व्यक्त किया जा चुका है। अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (१।१।६८) जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् (१।२।५८) तथा सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ (१।२।६४) सूत्रों के भाष्य में क्रमशः **'सवर्णेऽण्ग्रहणमपारिभाष्यम्, जात्याख्यायाम् सामान्याभिधानादैकार्थ्यम्** तथा **आकृत्यभिधानाद्वैकं विभक्तौ वाजप्यायनः'** वार्तिकों द्वारा अष्टाध्यायी में जाति का वाचकत्व स्वीकार किया गया है। अनेक व्यक्ति रूप वर्ण-पद तथा वाक्य में शक्ति मानने की अपेक्षा जाति को वाचक मानने में शक्तावच्छेदक गोशब्दत्व रूप होगा वह एक है, अतः लाघव है।

यह प्रकृति है, यह प्रकृति है, यह प्रत्यय है, यह प्रत्यय है, यह घट पद है, यह घट पद है, घड़ा लाओ यह एक वाक्य है, घड़ा लाओ यह एक वाक्य है, ऐसी एकाकार प्रतीति वर्ण, पद तथा वाक्य में होती है, अतः घट पद-ज्ञान को कारण मानने पर, कारणतावच्छेदक की कोटि में घट शब्दत्व (घटपदत्व) रूप जाति का मानना आवश्यक हो जाता है। मीमांसक शब्द-स्थल में जाति नहीं मानते, उनका यह तर्क है कि क्रमिक वर्ण समुदाय में यौगपद्य न होने से वर्ण समुदाय रूप पद या वाक्य ही सम्भव नहीं, फिर तद्गत गोशब्दत्व कैसे होगा।

'अनारब्धे तु गोशब्दे गोशब्दत्वम् कथम् भवेत्।'[1]

वह ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्व पूर्व वर्ण जनित संस्कार संस्कृत अंतिम वर्ण रूप सकल वर्ण समुदाय को एकबुद्धिस्थ करके उसमें गोशब्दत्व सम्भव है। अतः जाति ही शक्त है। इसका अवच्छेदक गोशब्दत्वत्व मानना आवश्यक नहीं है, क्योंकि जातिगत शक्ति एक है, अतः अनेक में अनुगम की आकांक्षा नहीं उत्पन्न होती। विशेष-जाति के व्यंजक आनुपूर्वी-विशेष-विशिष्ट वर्ण होते हैं, अतः सर शब्दत्व के व्यंजक सकारोत्तरवर्त्यकारोत्तरवर्तिरकारोत्तरवर्त्यत्वरूप आनुपूर्वीविशेषविशिष्ट स् अ र् अ वर्ण हैं एवं रस शब्दत्व के व्यंजक रकारोत्तरवर्त्यकारोत्तरवर्तिसकारोत्तरवर्त्यत्वरूप-आनुपूर्वी-विशेष-विशिष्ट र् अ स् अ वर्ण है; अतः दोनों के बोध में अन्तर होता है।

---

1 श्लो० वा० स्फो० ६६

जाति को वाचक मानने में एक दोष यह आता है कि जाति तो प्रत्येक वर्ण में है, अतः प्रत्येक से अर्थबोध होने लगेगा, इसके निवारणार्थ जाति को पद तथा वाक्य के अवयवीभूत सभी वर्णों में समुदाय वृत्ति से माना जाता है। इसका क्रम यह है—अनेक ध्वनियों से वर्णों की अभिव्यक्ति होती है, उस वर्ण-समुदाय से जाति की। जैसा कि भर्तृहरि का कथन है—

> 'अनेक व्यक्त्यभिव्यंग्या जातिः स्फोट इति स्मृता
> कैश्चिद् व्यक्तय एवास्या: ध्वनित्वेन प्रकल्पिता: ॥'[1]

कुछ विद्वान् अनेक वर्ण पद वाक्य रूप ध्वनि व्यक्तियों से अभिव्यंग्य जाति को ही स्फोट (वाचक) मानते हैं। इन वर्ण पद वाक्यगत जातियों के व्यंजक उनके आश्रयभूत वर्ण-पद-वाक्य रूप व्यक्ति ही है।

वर्ण-जाति-स्फोट-विचार

वर्ण जाति स्फोट का नाम सर्वप्रथम स्फोट के रूप में 'एओङ्० ऐऔच्' सूत्रों के भाष्य[2] में आया है। वहाँ पर यह शंका की गई कि यदि वर्ण का अवयव स्वतन्त्र माना जाय तो अग्ने + इन्द्रः में ए में दो वर्ण हैं अ, इ; तब दो इकारों को मिलाकर दीर्घ हो जायगा, इसका यह समाधान दिया गया कि इन सन्ध्यक्षरों के अवयव अ, इ, ए आदि विवृततर हैं। अतः प्रयत्न भेद से इनके अवयवों के आश्रित दीर्घ आदि कार्य नहीं होंगे (अग्ने में इ का विवृततर प्रयत्न है तथा इन्द्रः के 'इ' का विवृत, अतः प्रयत्न भेद होने से दीर्घ सन्धि न होगी) तब यह दूसरी शंका उत्पन्न हो गई कि ऋ में र् तथा स्वर दो का मिश्रण है, अतः जहाँ पर र् का ल् आदेश होना है, पूर्वोक्त नियम से न होगा, क्योंकि वर्ण का अवयव अब स्वतन्त्र नहीं रहा। ऐसी स्थिति में कृप् धातु से क्त प्रत्यय करने पर र् का ल् न होगा तब क्लृप्तः, क्लृप्तवान् इन पदों की सिद्धि न होगी।

महाभाष्यकार ने उसका पाण्डित्यपूर्ण समाधान किया कि 'कृपो रोलः' में 'कृपः' षष्ठ्यन्त पद नहीं है, वरन् वहाँ कृप+उः ऐसा पदच्छेद है। कृप के ऋ के (ऋ का षष्ठी में उः रूप बनता है।) र् को ल् हो। पुनः उन्होंने इसे क्लिष्ट कल्पना समझ कर दूसरा समाधान दिया—

---

1. वाक्य० १।९४
2. म० भा० एओङ्०, पृ० ८४

'अथवा उभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते रश्रुतेर्लश्रुतिर्भवतीति'

और रोलः में र् तथा ल् (स्थानी, आदेश) दोनों में स्फोट (जाति वर्ण स्फोट) का निर्देश माना जायगा, जहाँ पर रत्व जाति का श्रवण हो वहाँ लत्व जाति का श्रवण हो, ऐसा अर्थ करने पर रत्व, लत्व जाति क्रमशः ऋ, ऌ में भी है, क्योंकि जाति अवयव, समुदाय दोनों में समान रूप से रहती है। इसी तात्पर्य को कैयट ने प्रदीप में 'स्फोटमात्रम्' का 'जातिस्फोट इत्यर्थः' कहकर व्यक्त किया है।[1]

पद जाति स्फोट विचार

पदगत जाति की वाचकता को 'सरूप सूत्र' तथा 'जात्याख्यायाम्' सूत्रों के भाष्य में माना गया है, क्योंकि प्रातिपदिक संज्ञा अर्थवत् पदों की होती है, तभी एकशेष एवम एक वचन में बहुवचन विधान की बात सामने आती है। अयम् गौः अयम् गौः इसमें अनेकानुगत सामान्य की प्रतीति से जाति की वाचकता व्यवहार सिद्ध है। नैयायिक,[2] वैशेषिक[3] तथा चरक[4] सभी पदगत जाति को स्वीकार करते हैं। जाति की वाचकता में दो हेतु, 'नित्यता तथा एकता है।' जो वैयाकरण बोधकारणतावच्छेदक में लाघव-वश जाति को वाचक मानते हैं, नागेश भट्ट ने उनके मत का इस प्रकार खण्डन किया है—

भाष्यकार ने मुख्य रूप से अनुगताकार प्रतीति को ही जाति की साधिका माना है। जाति को कारणतावच्छेदक इसलिये नहीं माना जा सकता, क्योंकि किसी रोग के नाश के प्रति कोई औषधि कारण है, अतः जो औषधि कारण है, जैसे चूर्ण तो चूर्णत्व कारणतावच्छेदक हुआ तथा रोग-नाशत्व कार्यतावच्छेदक परन्तु यहाँ जाति नहीं है। नियमानुसार यहाँ जाति होनी चाहिये। अतः नित्य एवं अनेक समवेत ही जाति का लक्षण है। ब्रह्म मे कोई धर्म न होने से जाति नहीं रह सकती।[5]

---

1. म० भा० एओङ्०, पृ० ८४ (प्रदीप)
2. न्या० द० सू० २।२।६७
3. वै० द० १।१।३
4. च० सं० सूत्र स्थान १।४४
5. मंजषा पृ० ४६१

'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' वार्तिक के व्याख्यान में आकृति के अन्तर्गत जाति को गिनाया गया है तथा इसे व्यवहार नित्य माना गया है। इन सब को ध्यान में रखकर नागेश भट्ट ने जाति को अविद्याकल्पित शब्दनिष्ठ धर्मविशेष माना है। द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने (१।४।२२) में द्वि, एक का अर्थ द्वित्व तथा एकत्व है अन्यथा बहुवचन होना चाहिए।

वाक्य-जाति-स्फोट-विचार

गाम् आनय इत्यादि वाक्य अनेक वक्ताओं के द्वारा उच्चरित होने पर भी **'यह वही वाक्य है'** ऐसी प्रतीति से वाक्यगत जाति मानी जाती है। यद्यपि मुनित्रय के ग्रन्थों में नाम लेकर इसे नहीं कहा गया, परन्तु जाति पदार्थ वादी के मत से तथा उपर्युक्त प्रकार से वाक्यगत एकत्व-प्रतीति के कारण वाक्य जाति स्फोट मानना आवश्यक है। उत्पत्ति-विनाश-शाली वर्ण तथा उनका समूह पद इन दोनों के अनन्त होने से इनमें शक्ति ज्ञान नहीं हो सकता अतः वाक्यगत जाति का वाचकत्व निर्बाध सिद्ध हो जाता है।

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि जैसे अनेक विलक्षण क्रियाओं के बाद भ्रमण क्रिया सम्पन्न होती है (भ्रमण में उठना, चलना, खड़ा होना, उतरना, चढ़ना आदि अनेक क्रियायें होती हैं) परन्तु भ्रमणगत भ्रमणत्व अन्तिम क्रिया के प्रत्यक्ष से अभिव्यक्त होता है। नश्वर क्रियाओं के समूह का सम्भव न होने पर भी उनके बुद्धिगत समुदाय से भ्रमणत्व जाति व्यग्य होती है तथैव बौद्ध वर्ण-पद-समुदाय रूप वाक्य में अन्तिम वर्ण के प्रत्यक्ष से व्यंग्य जाति को वाचक मानना चाहिए।

स्फोट द्वारा अर्थ बोध प्रकार

जैसा कि वैयाकरण-आचार्यों का निर्णीत सिद्धान्त है कि स्फोट ही वाचक होता है, उच्चरित ध्वनि रूप शब्द नहीं, अतः उनके मत से अर्थ-बोध प्रक्रिया का उल्लेख करना समीचीन होगा। परमार्थतः एक अखण्ड स्फोट मानते हुए भी इन आचार्यों ने अष्टविध बाह्य स्फोट की कल्पना की है, अतः क्रमशः प्रत्येक स्फोट के द्वारा अर्थ बोध प्रकार तथा उसका उदाहरण इस प्रकार है—

१— वर्ण स्फोट

प्रकृति, प्रत्यय रूप वर्ण पद से बोध्य, अन्तिम वर्ण से अभिव्यक्त

स्फोट से जहाँ बोध हो, वहाँ वर्ण स्फोट का व्यवहार होता है—जैसे रामः में विसर्ग से प्रातिपदिकत्व, एकवचनत्व, पुंलिगत्व तथा गच्छति में गम् प्रकृति से गमन क्रिया एवं ति प्रत्यय के अन्तिम वर्ण इसे कर्तृत्व, वर्तमानत्व, प्रथमपुरुषत्व एवं एकवचनत्व का बोध होता है।

२—सखण्ड पद स्फोट

जहाँ पर पृथक् पृथक् सुबन्त (रामः) तथा तिङन्त (गच्छति) के अन्तिम उच्चरित वर्णों 'विसर्ग तथा, इ से अभिव्यक्त स्फोट से अर्थ-प्रतीति हो वहाँ सखण्ड पद स्फोट का व्यवहार होता है।

३—सखण्ड वाक्य स्फोट

यदि रामः गच्छति वाक्य के अन्तर्गत सुबन्त (रामः) तिङन्त (गच्छति) पदों से जायमान बोध पूर्वक वाक्य के अन्तिम वर्ण (इ) से अभिव्यक्त स्फोट बोधक हो तो वहाँ सखण्ड वाक्यस्फोट का व्यवहार होता है।

४—अखण्ड पद स्फोट

जहाँ पर प्रकृति-प्रत्यय जन्य बोध नहीं रहता, ऐसे रामेण आदि प्रकृति-प्रत्यय मिलित पद तथा रूढ़ शब्द मणि, नुपुर आदि या जहाँ पर प्रकृति-प्रत्यय दोनों को मिलाकर समूचे पद का आदेश कर दिया गया है, ऐसे वः (युष्माकम्) तथा नः (अस्माकम्) में पद के अन्तिम वर्ण से अभिव्यक्त स्फोट द्वारा बोध हो, वहाँ पर अखण्ड पद स्फोट का व्यवहार होता है।

५—अखण्ड वाक्य स्फोट

जहाँ सुबन्त, तिङन्त पद सन्धि द्वारा इस प्रकार मिल गये हैं कि बिना ज्ञान के वे अलग नहीं किये जा सकते, जैसे कस्यास्ति, हरेऽव, दध्यानय इत्यादि वाक्य। वहाँ पर व्याकरण ज्ञान से रहित साधारण जनो को वाक्य के पूर्व-वर्ण-जन्य-संस्कार-सहित अन्तिम वर्ण से अभिव्यक्त स्फोट द्वारा बोध होता है, वह अखण्ड वाक्य-स्फोट है।

६—वर्ण जाति स्फोट

जहाँ पर वर्ण (प्रकृति-प्रत्यय) के अन्तिम वर्ण में रहने वाली जाति से अभिव्यक्त स्फोट द्वारा बोध हो (जैसे रामः के विसर्गत्व, गच्छति के इत्व से बोध हो।) वहाँ वर्ण जाति स्फोट कहा जाता है

७—पद जाति स्फोट

जब रामः गच्छति आदि पदों के बौद्ध वर्ण समुदाय के अन्तिम वर्ण से अभिव्यक्त स्फोट से बोध हो, जैसे कर्तृत्व विशिष्ट रामत्व या वर्तमान कालादि विशिष्ट गमनत्व के चरम वर्ण से रामः, गच्छति का बोध हो, वहाँ पद-जाति-स्फोट व्यवहार होता है।

८—वाक्य जाति स्फोट

जहाँ पर रामः गच्छति इस वाक्य में बुद्धिगत वर्ण समुदाय के अन्तिम वर्ण से अभिव्यक्त रामकर्तृकवर्तमानकालविशिष्ट गमनत्व रूप से बोध हो, वहाँ वाक्य जाति स्फोट होता है।[1]

वैयाकरण सिद्धान्त सम्मत स्फोट निरूपण

ऊपर सुविचारित अष्टविध स्फोट में वैयाकरण सम्मत स्फोट निर्णय कर लेना सहज नहीं है। महाभाष्य आदि आकर ग्रन्थों में एकान्ततः इस पर स्पष्ट निर्देश नहीं दिया गया। भर्तृहरि ने सर्वप्रथम वाक्य में अपनी आस्था प्रकट की है तथा द्वितीय काण्ड में प्रबल तथ्यों के आधार पर एक, अनवयव वाक्य की वाचकता सिद्ध कर पद के वाचकत्व का निराकरण किया है। कौण्ड भट्ट ने वाक्य स्फोट को व्याकरण दर्शन का अति निष्कृष्ट सिद्धान्त बताया है—'**वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थितिः।**'[2]

नागेश ने अपने ग्रन्थ वैयाकरण सिद्धान्त लघु मंजूषा में यद्यपि वाक्य स्फोट को मुख्य माना है—'**तत्र वाक्यस्फोटो मुख्यो लोके तस्यैवार्थबोधकत्वात्तेनैवार्थसमाप्तेश्च।**'[3] यद्यपि उनका सिद्धान्तभूत आन्तर स्फोट ही है। '**सचायं स्फोटः आन्तरप्रणवरूप एव।**'[4] आन्तर स्फोट को भर्तृहरि ने नादों से प्रकाशित अन्तः शब्दतत्व के रूप में[5] स्वीकार किया है।

बाह्य अष्टविध स्फोटों में भट्टोजिदीक्षित ने वाक्य स्फोट, उसमें भी वाक्य जाति स्फोट को ही पारमार्थिक माना है।

---

१. वै० भू० सा०, पृ० ४४८-४४९ (प्रभा टीका)

२. वै० भू० सार कारिका ६१

३. वै० सि० ल० मं०, पृ० १

४. ,, ,, पृ० ३६९

५. वाक्य० २।३०

'यद्यपीहाष्टौ पक्षा उक्ताः, तथापि वाक्य स्फोट पक्षे तात्पर्यं ग्रन्थकृताम् । तत्रापि जातिस्फोट इत्यवधेयम् ।'[1]

कौण्डभट्ट ने स्फोट निर्णय के अन्त में जाति को नित्य मानकर उसी में अपनी आस्था प्रकट की है—सत्यं यत्तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयो मताः ।[2] पर उन्होंने जाति को अविद्या कल्पित धर्म विशेष कहकर 'आत्मैवेदं सर्वम्' वाक्य की संगति की है। इससे प्रकट होता है कि जाति की नित्यता उन्होंने सर्वसम्मत नहीं मानी।

नागेश भट्ट ने अपने दर्शन ग्रन्थों में जाति-व्यक्ति का नाम लेकर किसी भी स्फोट को मुख्य नहीं कहा। स्फोट वाद के टीकाकार वी० कृष्णमाचार्य ने अखण्ड जाति स्फोट को परम सिद्धान्त कहा है—'तत्राप्यखण्ड जाति स्फोट एव परम सिद्धान्त इत्यवगन्तव्यम् ।'[3]

लघु मंजूषा के टीकाकार पं० सभापति उपाध्याय ने वाक्य व्यक्ति स्फोट को नागेश सम्मत कहा है—'एवं सिद्धान्तभूतं वाक्यव्यक्तिस्फोटं निरूप्य प्राचोक्तं जातिस्फोटमेकदेशिमतेनाह ......।'[4] जाति का पदार्थत्वप्रातिपादन एवं उसकी आवश्यकता बताई जा चुकी है। नागेश भट्ट जाति को व्यापक द्रव्य की उत्पत्ति के पूर्व एवम् तदनन्तर रहने वाला तथा अनुगताकार ज्ञान की जनिका मानते हैं, उनके मत में जाति तथा उपाधि में अन्तर नहीं है।[5] आगे उन्होंने अवयव संस्थानरूप आकृति[6] तथा जाति को व्यवहार-नित्य या प्रवाह-नित्य मान कर उसकी पारमार्थिक नित्यता का खण्डन कर दिया है।[7] तथा घटत्वादि जातियाँ भी अनन्त हैं, अतः तद्विशिष्ट स्फोट भी अनन्त होंगे, इस कारण कोई लाघव भी नहीं कहा जा सकता।

---

१. शब्दकौस्तुभ, पृ० ११
२. वै० भू० सार कारिका ७२
३. स्फो० वा० (सुबोधिनी), पृ० १
४. मंजूषा (रत्न प्रभा), पृ० ४८५
५. ,, ,, ,, ४७१
६. ,, ,, ,, ४७४
७. ,, ४८६

अतः यह विचार समीचीन होगा कि जैसे वर्ण एक है, पद एक है तथा वाक्य एक है, उसी तरह स्फोट एक है, उसमें स्वतः कोई उपाधि नहीं है। घटत्वावच्छिन्न होने से वही व्यक्ति-स्फोट कहा जाता है तथा घटत्वोपहित होने से जाति-स्फोट नाम से व्यवहृत होता है। घटत्व विशेषण होने पर घट का अर्थ बोध में भासित होगा तथा उपाधि मानने पर शाब्दबोध में उसका भान न होगा। यही माना जाय कि बाह्य स्फोटों में अखंड वाक्य विभाग भी वर्ण-पद तथा वाक्य की तरह दो वैयाकरणों (वाजप्यायन तथा व्याडि) के विचारों के समन्वयनार्थ ही किये गये हैं। अतः निर्गलितार्थ यह हुआ—
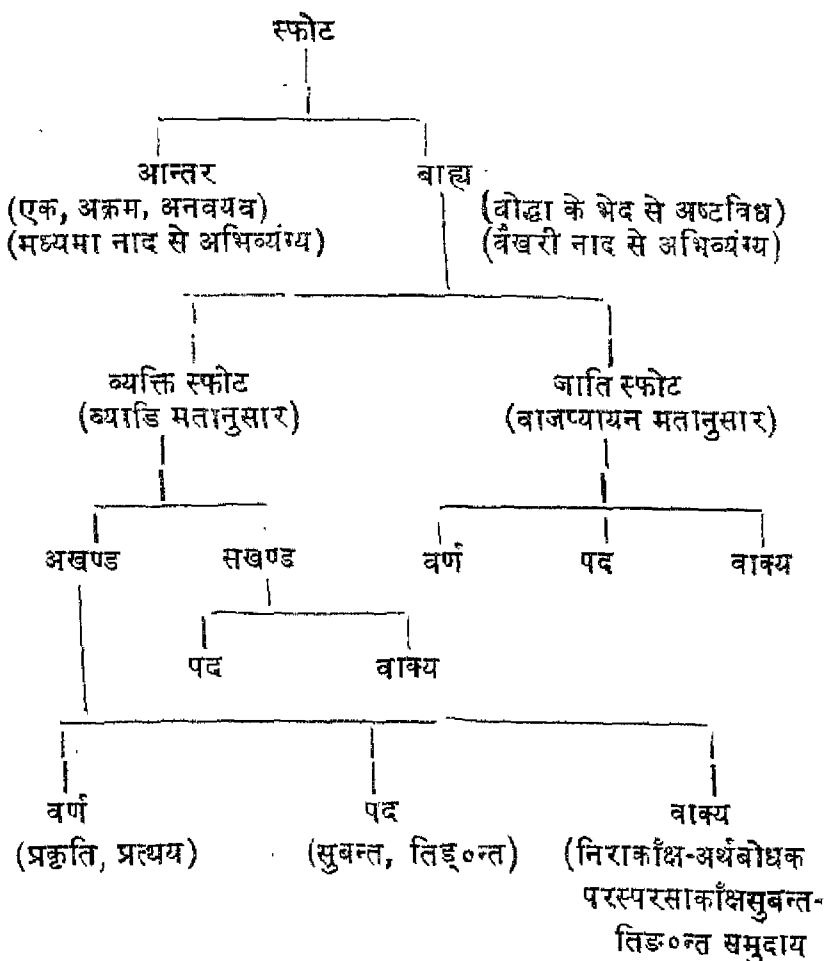
व्यक्ति स्फोट के उपर्युक्त पाँच भेद मतान्तर से इस प्रकार भी माने गये हैं[1]—

१ स्फोटवाद पृ० ६६
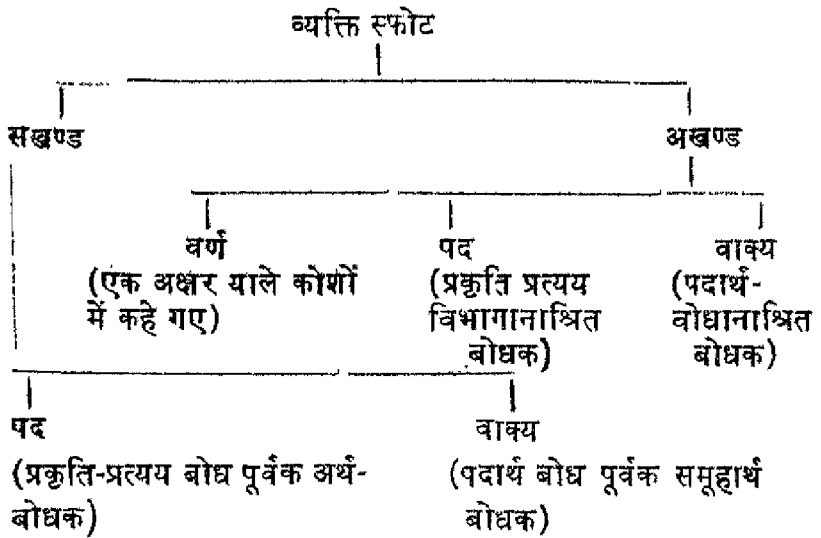
द्वादश परिच्छेद

आधुनिक भाषातत्त्वविदों के स्फोट विषयक विचार

पूर्वोल्लिखित विचारों पर विहंगम दृष्टि

(क) वर्णों की वाचकता में मुख्य दोष

स्फोटवाद में केवल एक ही दोष कहा जाता है कि इसमें **अर्थबोध** सीधे वर्णों से न मानकर स्फोट रूप एक माध्यम स्वीकार करना पड़ता है। इसके उत्तर में वैयाकरणों का कथन है कि बिना स्फोट रूप नित्य पदार्थ माने अर्थ बोध हो ही नहीं सकता, परन्तु अर्थ बोध होता है, अतः अर्थापत्ति प्रमाण से स्फोट की सिद्धि होती है। वर्णों की वाचकता में अनित्य पक्ष में ये दोष हैं :—

बुद्धि विषयता तो आज भी उनमें हो सकती है, भले ही वे घटनायें अतीत में हुई हों। जैसे प्रत्येक कार्य स्थूल रूप में आने के पूर्व बुद्धि में स्थित होता है, तथैव प्रत्येक शब्द वैखरी रूप में प्रकट होने से पूर्व बुद्धिगत होता है। वहाँ पर शब्द, अर्थ में सामानाधिकरण्य रहता है। जैसे स: घटं करोति' यहाँ पर घट तो अभी नहीं बना है, तब वर्तमान काल कैसे होगा ? इसका यही उत्तर है कि वह ऐसी वस्तु बना रहा है, जो बनकर घट कहलायेगी। जैसा कि महावैयाकरण भट्टोजि दीक्षित ने वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी के प्रारम्भ में लिखा है—'**वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदीयं विरच्यते**।'

यहाँ पर कौमुदी तो बनी नहीं तब 'इयम्' कैसे ? स्पष्ट ही उनका संकेत अपनी बुद्धि में स्थित कौमुदी की ओर है। इसी बौद्ध पदार्थ को लेकर उसका नामकरण भी 'वैयाकरण सिद्धान्त-कौमुदी' कर दिया गया। इस अवस्था में न आन्तर पदार्थ है न बाह्य, परन्तु बुद्धि में वह ज्ञान है जो इस शब्द तथा अर्थ रूप उपाधि को धारण कर स्फुटित होगा। यहीं स्फोट सिद्धान्त का अंकुर प्रादुर्भूत होता है।

इस बौद्ध शब्दार्थ को प्राय: सभी दार्शनिक मानते हैं। महर्षि गौतम ने '**बुद्धिसिद्धन्तु तदसत्**' (कार्य उत्पत्ति के पहले तथा नाश के अनन्तर न होने हुए भी बुद्धि में वर्तमान रहता है।[1]) कहकर इसे माना है। वाचस्पति मिश्र ने और स्पष्ट कहा है—'**चेतनो हि नामरूपे बुद्धावालिख्य घट इति नाम्ना कम्बुग्रीवादिमता रूपेण च बाह्यं घटं निष्पादयति**।[2] (चेतन परमात्मा शब्द तथा अर्थ 'नाम तथा रूप' को बुद्धि का विषय बनाकर घट नाम तथा कम्बुग्रीवादिमान् रूप से बाह्य घट का निर्माण करता है।[3]

ऐतरेय उपनिषद् में ब्रह्मादि देवता, पंच महाभूत, चतुर्विध प्राणि-समूह तथा जड़ जगत् को प्रज्ञान (वृत्तिविशिष्ट अन्तःकरण) का बाह्य नाम-रूप कहा गया है।[4] अन्तकरण की शब्द रूप वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य

---

१. म० भा० ३-१-२६ तथा वा० प० २-५७
२. न्या० द० सूत्र ४-१-५०
३. वे० सूत्र १-१-२ (भामती)
४. ऐतरेय उप० ५-२-३

को ही शब्द ज्ञान कहा जाता है तथा उस बाह्य शब्द से अभिव्यक्त बौद्ध तथा अर्थ रूप अन्तःकरण की वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य का नाम शाब्द-बोध है। इसको दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—एक विज्ञ ने दूसरे अनजान से कहा, ये आम के वृक्ष हैं। इस दशा में उसके अन्तः-करण में जो आम्र वृक्षों का शब्दरूप चैतन्य प्रतिबिम्बित था, बाहरी आमों में वही प्रतिबिम्बित हुआ, उसी से श्रोता के अन्तःकरण में वह चैतन्य प्रति-बिम्बित हुआ तभी उसने कहा कि मैं आम्र के वृक्षों को समझ रहा हूँ।[1] इसी बौद्धार्थ-स्वीकृति के कारण व्यवहार में अप्राप्य शशशृंग, वन्ध्या-पुत्र आदि को समर्थ मानकर समास तथा अर्थवान् मानकर प्रातिपदिक संज्ञा होती है।[2]

बौद्ध शब्द, बौद्ध अर्थ दोनों में विभाग नहीं होता, अत एव जहाँ 'गौः शब्द सुनकर गाय के आकार की अन्तःकरण वृत्ति होती है, वहाँ 'गौः' शब्द भी शाब्द बोध का विषय होता है। इसी प्रकार जहाँ गाय रूप पदार्थ देखकर 'गौः' शब्द रूप अन्तःकरण वृत्ति होती है, वहाँ भी शब्द का भास होता है। अतएव भर्तृहरि ने ज्ञानमात्र को शब्दानुबिद्ध माना है।[3] जहाँ अर्थ स्पष्ट नहीं होता, वहाँ भी, 'पद सुना परन्तु अर्थ मालूम नहीं हुआ', ऐसा व्यवहार, या 'इस पद का कोई अर्थ होगा,' ऐसा अनुमान होने से अर्थ की शब्दानुगति प्रतीत होती है।

जैसा कि स्फोटरूप शब्द की बाह्याभिव्यक्ति के प्रसंग में कहा जा चुका है, बिन्दु से चेतन मिश्र नाद की उत्पत्ति होती है, वह नाद जब बाणी की मध्यमावस्था में होता है, उस समय वह एक, अक्रम तथा बुद्धिवेद्य है, वहाँ उसकी अर्थ के साथ अभिन्नता रहती है, तथा जैसे चेतन, जड़ पदार्थों में तादात्म्य का आभास होने पर भी स्वभावतः चेतन प्रकाशक, जड़ प्रकाश्य माना जाता है तथैव स्वभाव से ही शब्द प्रकाशक एवम् अर्थ प्रकाश्य है। अतः '**येनोच्चारितेन** ...' इस भाष्य का निष्कृष्ट आशय यह है कि 'गौः' यह शब्द 'गौः' इस पदार्थ का प्रकाशक है। (गौः पदार्थ गौः शब्द से प्रका-

---

१. मंजूषा पृ० ३१६-१७
२. ,, ३१७
३. ,, ३२८, वा० प० १-१२४

(१) अनन्त वर्ण, उनके प्रागभाव तथा ध्वंस की कल्पना।

(२) पदों को बोधक बनाने के लिए उनके प्रयोजक संस्कार, स्मृति की कल्पना।

वर्णों के नित्यता पक्ष में मुख्य दोष ये हैं :—

(१) ६ स्वर तथा ३२ व्यंजनों में यदि सबको नित्य माना जाय तो वर्ण की एकता और विभुता नहीं हो सकती।

(२) सभी को नित्य मानने पर एक से ही अर्थबोध न हो जाय इस लिए उनमें व्यंजक ध्वनि का क्रम मानना पड़ेगा तथा अनुभव-सिद्ध पद, वाक्य की कल्पना भी करनी पड़ेगी।

इस प्रकार दोनों ही स्थितियों में स्फोट की अपेक्षा वर्णों के वाचक मानने में ही अधिक गौरव होता है।[1]

(ख) शब्द तथा स्फोट की परिभाषा

वैयाकरणों के मत में शब्द की यह परिभाषा है—कत्वादि विशिष्ट वर्णातिरिक्त, पूर्व पूर्व वर्णों के अनुभवों के सहचरित अन्तिम वर्ण के अनुभव से व्यंग्य अर्थ प्रत्यायक को शब्द कहते हैं। तथा

अर्थ-विषयतानिरूपक शक्तिमान् शब्द, शब्द निरूपित विषयताश्रय अर्थ दोनों ही को स्फोट कहा जाता है।[2] शब्द तथा स्फोट की एक लघु किन्तु सरल परिभाषा अन्यत्र इस प्रकार की गई है—**ध्वन्यभिव्यंग्यत्वे सत्यर्थविषयक-बोधजनकत्वम्**।[3] (ध्वनियों से अभिव्यक्त अर्थ बोधक शब्द है)

तथा

वर्णानां वाचकत्वानुपपत्तौ यद् बलादर्थ-प्रतीतिः स स्फोटः।[4] (वर्ण वाचक नहीं हो सकते अतः जिसके बल पर अर्थ का बोध होता है वह स्फोट है।)

---

१. वै० भू० सा० (प्रभा), पृ० ४४७

२. वै० भू० सा० (प्रभा), पृ० ४४७

३. व्याकरण दर्शन (पं० कालीप्रसाद मिश्र का लेख)

४ शब्दकल्पद्रुम (पंचम काण्ड)

(ग) बौद्ध शब्द एवं अर्थ के ऐक्य में स्फोट सिद्धान्त का अंकुर

शब्द तथा अर्थ दोनों ही हमें बाह्य रूप में सुनाई तथा दिखाई पड़ते है। हम गौः शब्द सुनते हैं तथा गाय को देखते हैं। इस 'गौः' शब्द का 'गाय' अर्थ है। यह निर्णय पहले हम अपनी बुद्धि में कर लेते हैं। यह निर्णय सुनने, गुनने एवं पुनः पुनः ध्यान करने से होता है। तदनन्तर गाय पदार्थ को कहने के लिए ग् औ तथा विसर्ग तीन वर्णों को इसी क्रम से कह देने पर श्रोता इस वर्णावली से यह पदार्थ समझेगा, इसे बुद्धि में भली भाँति बैठाकर तब उनका उच्चारण करते हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि शब्द तथा अर्थ का एक रूप और है जो वक्ता तथा श्रोता की बुद्धि में अवस्थित है, वही क्रमशः वाचक एवं वाच्य होता है।[1] उसका बाह्य रूप तो अभि-व्यक्ति का निमित्त तथा बाह्य इन्द्रिय का विषय है। इसीलिए शब्द को बुद्धि-निर्ग्राह्य कहा गया है।[2] स्फोट की एकता का कारण भी उसका बुद्धिस्थ होना ही है। आज ध्वनि-विस्तारक यन्त्रों द्वारा एक ही उच्चरित शब्द (कविता, वार्ता या भाषण) अनेक स्थलों पर सुनाई पड़ता है। उसमें के ल ध्वनि की गति ही तेज या मन्द होती है। उसमें वाचकता तथा एकता में कोई अन्तर नहीं आता। वाचक शब्द नित्य होता है, इसीलिए जहाँ अनेक व्यक्ति एक ही पद का उच्चारण करते हैं, वहाँ सर्वत्र वही शब्द सब के उच्चारण का विषय होता है।[3] बिना एक बुद्धिस्थ हुए शब्दो मे नित्यता नहीं आ सकती। शब्द की तरह अर्थ भी बुद्धिस्थ ही मानना चाहिए, तभी घटोऽस्ति, घटो नास्ति, ये प्रयोग होते हैं अन्यथा घट से ही सत्ता का ज्ञान हो जाता और अस्ति का प्रयोग एवं सत्ता से विरोध के कारण नास्ति का प्रयोग असंगत हो जाता। बुद्धिस्थ मानने पर बुद्धि में स्थित घट की बाह्य सत्ता के बोधार्थ 'अस्ति' तदभाव-बोध के लिए 'नास्ति' का प्रयोग समीचीन होता है।

बौद्ध पदार्थ की सत्ता मानकर ही भाष्यकार ने कंसं घातयति, बलिं बध्नाति प्रयोगों में वर्तमान काल का सार्थक प्रयोग किया है। अन्यथा चित्रों, लेखों तथा नाटकों में कैसे प्रत्यक्ष कंसवध और बलिबन्धन होते?

---

1. म० भा० (१।४।१०८) तथा मंजूषा, पृ० १६०
2. „ (१.१।१)
3. म० भा० (१।२।६४

बुद्धि विषयता तो आज भी उनमें हो सकती है, भले ही वे घटनायें अतीत में हुई हों। जैसे प्रत्येक कार्य स्थूल रूप में आने के पूर्व बुद्धि में स्थित होता है, तथैव प्रत्येक शब्द वैखरी रूप में प्रकट होने से पूर्व बुद्धिगत होता है। वहाँ पर शब्द, अर्थ में सामानाधिकरण्य रहता है। जैसे स: घटं करोति' यहाँ पर घट तो अभी नहीं बना है, तब वर्तमान काल कैसे होगा ? इसका यही उत्तर है कि वह ऐसी वस्तु बना रहा है, जो बनकर घट कहलायेगी। जैसा कि महावैयाकरण भट्टोजि दीक्षित ने वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी के प्रारम्भ में लिखा है—'**वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदीयं विरच्यते।**'

यहाँ पर कौमुदी तो बनी नहीं तब 'इयम्' कैसे ? स्पष्ट ही उनका संकेत अपनी बुद्धि में स्थित कौमुदी की ओर है। इसी बौद्ध पदार्थ को लेकर उसका नामकरण भी 'वैयाकरण सिद्धान्त-कौमुदी' कर दिया गया। इस अवस्था में न आन्तर पदार्थ है न बाह्य, परन्तु बुद्धि में वह ज्ञान है जो इस शब्द तथा अर्थ रूप उपाधि को धारण कर स्फुटित होगा। यहीं स्फोट सिद्धान्त का अंकुर प्रादुर्भूत होता है।

इस बौद्ध शब्दार्थ को प्राय: सभी दार्शनिक मानते हैं। महर्षि गौतम ने '**बुद्धिसिद्धन्तु तदसत्**' (कार्य उत्पत्ति के पहले तथा नाश के अनन्तर न होने हुए भी बुद्धि में वर्तमान रहता है।[1]) कहकर इसे माना है। वाचस्पति मिश्र ने और स्पष्ट कहा है—'**चेतनो हि नामरूपे बुद्धावालिख्य घट इति नाम्ना कम्बुग्रीवादिमता रूपेण च बाह्यं घटं निष्पादयति।**[2] (चेतन परमात्मा शब्द तथा अर्थ 'नाम तथा रूप' को बुद्धि का विषय बनाकर घट नाम तथा कम्बुग्रीवादिमान् रूप से बाह्य घट का निर्माण करता है।[3]

ऐतरेय उपनिषद् में ब्रह्मादि देवता, पंच महाभूत, चतुर्विध प्राणि-समूह तथा जड़ जगत् को प्रज्ञान (वृत्तिविशिष्ट अन्तःकरण) का बाह्य नाम-रूप कहा गया है।[4] अन्तकरण की शब्द रूप वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य

---

१. म० भा० ३-१-२६ तथा वा० प० २-५७
२. न्या० द० सूत्र ४-१-५०
३ वे० सूत्र १-१-२ (भामती)
४ ऐतरेय उप० १ २ १

को ही शब्द ज्ञान कहा जाता है तथा उस बाह्य शब्द से अभिव्यक्त बौद्ध तथा अर्थ रूप अन्तःकरण की वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य का नाम शाब्द-बोध है। इसको दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—एक विज्ञ ने दूसरे अनजान से कहा, ये आम के वृक्ष हैं। इस दशा में उसके अन्तःकरण में जो आम्र वृक्षों का शब्दरूप चैतन्य प्रतिबिम्बित था, बाहरी आमों में वही प्रतिबिम्बित हुआ, उसी से श्रोता के अन्तःकरण में वह चैतन्य प्रतिबिम्बित हुआ तभी उसने कहा कि मैं आम्र के वृक्षों को समझ रहा हूँ।[1] इसी बौद्धार्थ-स्वीकृति के कारण व्यवहार में अप्राप्य शशशृंग, वन्ध्यापुत्र आदि को समर्थ मानकर समास तथा अर्थवान् मानकर प्रातिपदिक संज्ञा होती है।[2]

बौद्ध शब्द, बौद्ध अर्थ दोनों में विभाग नहीं होता, अत एव जहाँ 'गौः' शब्द सुनकर गाय के आकार की अन्तःकरण वृत्ति होती है, वहाँ 'गौः' शब्द भी शाब्द बोध का विषय होता है। इसी प्रकार जहाँ गाय रूप पदार्थ देखकर 'गौः' शब्द रूप अन्तःकरण वृत्ति होती है, वहाँ भी शब्द का भास होता है। अतएव भर्तृहरि ने ज्ञानमात्र को शब्दानुविद्ध माना है।[3] जहाँ अर्थ स्पष्ट नहीं होता, वहाँ भी, 'पद सुना परन्तु अर्थ मालूम नहीं हुआ', ऐसा व्यवहार, या 'इस पद का कोई अर्थ होगा,' ऐसा अनुमान होने से अर्थ की शब्दानुगति प्रतीत होती है।

जैसा कि स्फोटरूप शब्द की बाह्याभिव्यक्ति के प्रसंग में कहा जा चुका है, बिन्दु से चेतन मिश्र नाद की उत्पत्ति होती है, वह नाद जब वाणी की मध्यमावस्था में होता है, उस समय वह एक, अक्रम तथा बुद्धिवेद्य है, वहाँ उसकी अर्थ के साथ अभिन्नता रहती है, तथा जैसे चेतन, जड़ पदार्थों में तादात्म्य का आभास होने पर भी स्वभावतः चेतन प्रकाशक, जड़ प्रकाश्य माना जाता है तथैव स्वभाव से ही शब्द प्रकाशक एवम् अर्थ प्रकाश्य है। अतः 'येनोच्चारितेन ...' इस भाष्य का निष्कृष्ट आशय यह है कि 'गौः' यह शब्द 'गौः' इस पदार्थ का प्रकाशक है। (गौः पदार्थ गौः शब्द से प्रका-

---

१. मंजूषा पृ० ३१६-१७
२. „ ३१७
३. „ ३२८, वा० प० १-१२४

शित होता है।) इसी के साथ श्रोत्रोपलब्धिः ''' इस भाष्य की एकार्थता मानने से बुद्धिस्थ शब्द, अर्थ रूप आन्तर स्फोट सिद्ध होता है।[1]

निरुक्त भाष्य में बौद्ध शब्द, अर्थ का बोधक-बोध्य रूप इस प्रकार बतलाया गया है—

शरीर में अभिधानाभिधेय रूप (शब्दार्थस्वरूप) बुद्धि हृदय के अन्तर्गत आकाश में प्रतिष्ठित है। वक्ता की अभिधान (वाचक) रूप बुद्धि श्रोता को बोध कराने की भावना से प्रयत्न द्वारा अभिव्यक्त होकर वर्ण-भाव को प्राप्त होकर बाह्य आकाश देशस्थ शब्द स्वरूप धारण कर श्रवणेन्द्रिय के द्वार से श्रोता के हृदयान्तर्गत आकाश में प्रतिष्ठित शब्दार्थरूप बुद्धि को व्याप्त करती है। पुरुषों के प्रयत्न से उत्पन्न वायु संयोग से जायमान ध्वनियाँ नष्ट हो जाती हैं, परन्तु शब्द नष्ट नहीं होता, वह प्राकृत ध्वनि से अनुरंजित होकर श्रोता की अर्थ (वाच्य) रूप बुद्धि से ऐक्य स्थापित कर उसे अर्थ प्रतीति करा देता है। बौद्ध शब्द (वाचक) का योग बौद्ध अर्थ से ही रहता है। बाह्य शब्द, केवल अभिव्यक्ति का निमित्त होता है वाचक नहीं।[2] अतः शब्द को व्यापक (विभु) कहा गया है।

'व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य। निरुक्त नैघ० (१।१।२)

(घ) बौद्ध शब्दार्थ ही वास्तविक है, बाह्य शब्दार्थ काल्पनिक

जैसा कि महाभाष्य एवं वाक्यपदीय ग्रन्थों के मनन से विदित होता है कि ध्वनि रूप वाह्य शब्द तथा स्थूल रूप बाह्य अर्थ, ये दोनों ही काल्पनिक हैं तथा प्रपंचरूप हैं। बुद्धि में दोनों एक रूप हैं। 'गाय' शब्द तथा 'गाय' पदार्थ का ज्ञान बुद्धि में एक रूप में रहता है। कोई भारतीय) उसे ग्, औ तथा विसर्ग या ग्, आ तथा य रूप में जानता है। दूसरा (अंग्रेज) उसे ही क्, आ तथा ऊ (काऊ) रूप में जानता है। अतः जब दोनों श्रोता के सम्मुख उसे प्रकट करते हैं, तो दो रूप हो जाते हैं, परन्तु इन दोनों की बुद्धि में शब्द, अर्थ के प्रकाशनार्थ अलग करने के पूर्व क्षण में कोई अन्तर नहीं है। गाय, काऊ रूप अन्तर भी समाज की देन है। एक ने गाय सुनकर अपनी बुद्धि में उसे पदार्थ से समन्वित किया, दूसरे ने काऊ सुनकर। यह

१. मंजूषा, पृ० ३६३
२ निरुक्त भाष्य १ १ २

अन्तर भी ध्वनिगत है, बुद्धिगत नहीं। संस्कृत भाषा का बाह्य रूप भी स्फोट सिद्धान्त के बौद्ध शब्दार्थ की स्वीकृति से प्रभावित है। अतएव इस भाषा में अंग्रेजी के समान वाक्य की संघटना के परिवर्तन से अर्थ भेद नही होता। (व्याकरण शास्त्र द्वारा संस्कृत कर वाक्य प्रयोग किये जाते हैं, अर्थबोध के लिये आकाँक्षादि वशात् उनका सम्बन्ध हो जाता है चाहे रामः अस्ति कहा जाय या अस्ति रामः।) यह सम्बन्ध-स्थापना भी बुद्धिगत ही होती है।)

बौद्ध शब्दार्थ स्वीकार कर लेने पर ही वन्ध्या-सुत, शशशृंग आदि पदों का अर्थ होता है अन्यथा बाह्य सत्ता न होने से ये प्रयोग न होते। यहाँ तक कि जो विलक्षण दृश्य स्वप्न में दिखाई पड़ते हैं, वे भी शब्दानुगत ही होते हैं। इस अवस्था में वैखरी वाणी हो ही नहीं सकती। जाग्रत स्वप्न तथा सुषुप्ति के ऊपर तुरीयावस्था में भी शब्द रहता है, भले ही वह अत्यन्त निःस्पन्द हो। श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन, सब में शब्द-व्यापार रहता है। यहाँ शब्द उत्तरोत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम होता हुआ आत्मस्वरूप होकर योगियों को ही प्रत्यक्ष होता है।

(ङ) स्फोट का अन्तर्भाव द्रव्य में या गुण, किसमें है ?

यह प्रश्न बहुधा व्याकरण के विद्वानों के समक्ष आया है। भाष्यग्रन्थ के पर्यालोडन से यह दोनों ही सिद्ध होता है। भाष्यकार ने शब्द की परिभाषा में 'श्रोत्रोपलब्धिः, आकाशदेशः' कहा है। आकाश द्रव्य है अतः उसमें स्थित शब्द गुण होगा, तथा 'स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्द गुणः' कहकर उन्होंने शब्द को द्रव्य भी स्वीकार किया है। मंजूषाकार ने तारत्व, मन्द्रत्वादि गुणों का आश्रय होने तथा आकाशरूप द्रव्य के आश्रित होने से शब्द को द्रव्य, गुण दोनों माना है— **तारत्वादयो गुणाः शब्दनिष्ठास्तदाश्रयत्वाच्छब्दस्य द्रव्यत्वम्, आकाशरूपद्रव्याश्रितत्वाद् गुणत्वं च।**[1]

शब्द को वायु या अणु का परिमाण मानने वाले जैनों के मत में तो वह निश्चय ही द्रव्य ठहरता है। जैसा कि मानमेयोदयकार ने कहा है— **शब्दो द्रव्यं सत्त्वे सत्यनाश्रितत्वात् कालवत्।**[2]

१. मंजूषा, पृ० १८६

२. मानमेयोदय द्रव्य निरूपण

उपर्युक्त विचार कार्य शब्द (ध्वनिरूप) के विषय में किया गया जान पड़ता है। स्फोट रूप शब्द प्राकृत ध्वनि से अनुषक्त होकर ही व्यवहार-योग्य होता है। अतः उसी पर विचार भी किया जा सकता है। स्फोट-रूप शब्द तो न द्रव्य है न गुण, बल्कि भाव रूप है।

'स्फोटपदाभिधेयपदार्थस्तु न द्रव्यादिरूपः, गुणक्रियाशून्यत्वात्, अपि तु भावात्मैव केवलं वक्तुं कथंचित् शक्यते।'[1]

(च) शब्द के भेद काल्पनिक हैं

जैसा कि कहा गया है, शास्त्रों में कर्मकाण्ड-प्रक्रिया भेद से अविद्या का विस्तार किया जाता है। शब्द में व्युत्पत्ति, अव्युत्पत्ति पक्ष, वर्ण-पद-वाक्य वाद, जाति व्यक्ति-विचार, सभी उसके ज्ञान के उपाय हैं। द्रव्य-क्रिया-कारक सभी उस शब्द ज्योति के आवरक ही हैं। अतएव कभी उणादि को व्युत्पन्न प्रातिपदिक मानकर सूत्र बनाए गए, बाद में पाणिनि ने उन्हें अव्युत्पन्न मानकर एक ही सूत्र से उनकी सिद्धि कर दी। स्थानी के विचार में कभी 'सि' तो बाद में 'सु' मूल प्रत्यय मामा गया। अतएव आदेशों को ही वाचक माना गया है स्थानी को नहीं। संस्कृत के बाद प्राकृत-व्याकरणकारों ने अपनी रीति से पद-सिद्धि की। जो 'आर्या' का अर्थ रहा वहीं 'अय्या' का परन्तु ध्वनि रूप भेद हो गया। इससे यह सिद्ध होता है कि विश्व में **स्फोट रूप शब्द एक है, तथा व्यापक है**। उसकी प्रवाह-नित्यता में किसी भी भाषा शास्त्री को आपत्ति न होगी।

चाहे शब्द को नित्य मानें या अनित्य ध्वनि रूप, उसका प्रारम्भ तथा अन्त में एक रूप ही होता है। शब्द का वह रूप अतीन्द्रिय है। इसी लिए वेद का आदि रूप संहितात्मक ही कहा जाता है। उपदेश की स्थिति में पद-विभाग तथा बोध की स्थिति में केवल विज्ञों के लिए प्रकृति-प्रत्यय-विभाग किये जाते हैं। इसीलिये अर्थ एक होने पर भी, व्याकरण पढ़ने का फल संस्कृत, असंस्कृत (साधु तथा असाधु) शब्दों का ज्ञान करना, बताया गया है। शब्द में पदार्थ को बताने, पदार्थ बनने की शक्ति है। बिना घड़े के भी घड़ा शब्द से उसका चित्र सामने लाया जा सकता है।

आधुनिक विद्वानों के स्फोट विषयक विचार

अनेक आधुनिक विद्वानों ने भाषा शास्त्र एवं अर्थ विज्ञान विषयक

१ शब्दकौस्तुभ परपशा०, पृ० १४

ग्रन्थों तथा लेखों में स्फोट पर प्रसंगतः अपने विचार प्रकट किये हैं, उनमें प्रायः सभी के विचार महाभाष्य, वाक्यपदीय वैयाकरण-भूषणसार एवं वैयाकरण- सिद्धान्त-मंजूषा पर आधारित हैं। अनेक विद्वानों ने तन्त्रशास्त्रों के अनुसार स्फोट पर अपने विचार व्यक्त किये हैं, उनमें से निम्नलिखित ग्रन्थ तथा लेख अध्ययनार्थ सुलभ हो सके हैं—

(क) स्फोट दर्शन	(श्री रंगनाथ पाठक)
(ख) पाणिनीय व्याकरणे प्रमाण-समीक्षा	(श्री रामप्रसाद त्रिपाठी)
(ग) भर्तृहरि	(श्री के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर)
(घ) दि फिलासॅफी आवॅ वर्ड एण्ड मीनिंग	(डा० गौरीनाथ शास्त्री)
(ङ) अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन	(डा० कपिलदेव द्विवेदी)
(च) व्याकरण दर्शन भूमिका	(श्री रामाज्ञा पाण्डेय)
(छ) स्फोट निर्णय	(श्री डा० एस० डी० जोशी)
(ज) प्रतिभा दर्शन 'स्फोटवाद'	(श्री हरिशंकर जोशी)

इनमें नाम से प्रथम ग्रन्थ ही स्फोट विचार परक है, शेष छः ग्रन्थों में द्वितीय, चतुर्थ तथा पंचम शोध-प्रबन्ध एवम् तृतीय, षष्ठ, सप्तम एवम् अष्टम समीक्षात्मक निबन्ध हैं। प्रायः संस्कृत-व्याकरण-दर्शन पर जितने भी ग्रन्थ लिखे गये हैं, सभी में स्फोट पर विचार किया गया है।

(क) स्फोट दर्शन

इस ग्रन्थ में स्फोट का विवेचन संस्कृत शब्दों में यत्र-तत्र स्फोट-विचार के उल्लेख के आधार पर किया गया है। इसलिये इसकी शैली में उन ग्रन्थों का प्रभाव तथा अनुकरण स्पष्ट होता है तथा विचार-तारतम्य बीच में अन्य प्रसंग आ जाने से टूटता हुआ आगे जुड़ता है। आपने इस विषय पर अनेक दार्शनिकों के विचारों का उल्लेख कर हिन्दी भाषा-भाषियों के हितार्थ स्तुत्य प्रयत्न किया है।

(ख) पाणिनीय व्याकरणे प्रमाण समीक्षा

इस शोध-प्रबन्ध में भाष्य, वाक्यपदीय, मंजूषा तथा भूषण ग्रन्थों के आधार पर स्फोट का निर्वचन किया गया है। आपने नवीन शैली में प्रति-

पक्षियों के द्वारा उठाई गई आपत्तियों का निराकरण करते हुए स्फोट के प्रामाण्य का समर्थन किया है तथा परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी ध्वनियों में प्रथम दो को योगि मात्र गम्य तथा अन्तिम दो को क्रमशः बुद्धि एवं श्रोत्रग्राह्य बताकर मध्यमा को ही स्फोट की व्यंजिका कहा है एवं कौण्डभट्ट के वायु संयोग की अभिव्यंजकता का खण्डन कर दिया है। स्फोट के अष्टविध भेदों को आपने मुनित्रय के विचारों द्वारा समर्थित किया है।

(ग) श्री सुब्रह्मण्य अय्यर महोदय ने स्व-सम्पादित 'भर्तृहरि' ग्रन्थ में 'डाक्ट्रिन आफ स्फोट' नामक एक अध्याय लिखा है तथा आपका एक लेख गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट शोध पत्रिका में भी प्रकाशित हुआ।[1] प्रथम लेख में आपने वाक्यपदीय के आधार पर स्फोट निरूपण ३४ पृष्ठों (पृष्ठ १४७–१८०) में किया है। आपने भर्तृहरि द्वारा निरूपित पाँच बातों को इस प्रकार लिखकर उनके मतों का उल्लेख किया है—

१. ब्रह्म—शब्द तत्त्व जिससे सम्पूर्ण जगत् का उद्भव होता है।

२. वृत्तिविशिष्ट अन्तःकरण जो ब्रह्म स्वरूप शब्द तत्त्व का एक अंश है तथा जिसमें शब्द तथा अर्थ अविभक्त स्थिति में एकरूप रहते हैं।

३. अखण्ड शब्द तथा अखण्ड अर्थ वक्ता की बुद्धि में ही अलग होकर क्रमशः प्रकाशक एवम् प्रकाश्य (कारण और कार्य) के रूप में स्थित रहते हैं।

४. वक्ता के ध्वनियन्त्रों द्वारा उच्चारित ध्वनियों द्वारा प्राणवायु के आधार पर अखंड शब्द की अभिव्यक्ति होती है।

५. श्रोता वक्ता द्वारा उच्चारित ध्वनियों को क्रम से सुनता है तथा उनसे एक अखंड शब्द एवम् उसके अखंड अर्थ का बोध करता है।

इनमें भर्तृहरि का सिद्धान्त प्रथम ही है, उन्होंने प्रारम्भ में ही शब्द तत्त्व को ही अनादिनिधन ब्रह्म मान लिया है, वही ध्वनियों द्वारा प्रकाशित होता है तब उसको स्फोट कहते हैं। वह प्रकाशरूप, अखण्ड है। उसका अर्थ भी अखण्ड है। ये शब्द, अर्थ एक ही स्फोट के दो पक्ष हैं, जो बुद्धि में ही अलग होते हैं।

---

१. भर्तृहरि 'दि डाक्ट्रिन आफ स्फोट' पृ० १७९
फरवरी १९४७, पृ० १२१ १४७

श्री अय्यर महोदय का दूसरा लेख वाद-विवाद शैली में है, उसमें आपने मण्डन मिश्र कृत स्फोट सिद्धि को आधार माना है, जैसा कि उनका कथन है—'मैंने मण्डन मिश्र कृत स्फोट सिद्धि पर आधारित **'दि डाक्ट्रिन आफ स्फोट'** में वाद-विवाद शैली अपनाई है।[1] २७ पृष्ठों का यह लेख यद्यपि आकार में लघु है, फिर भी इसमें प्रायः सभी विचारार्थ विषयों का संग्रह किया गया है। मुख्य रूप से कुमारिल भट्ट के तर्कों का खण्डन कर स्फोट का मण्डन ही इस लेख का प्रतिपाद्य है। आपने बड़े रोचक ढंग से प्रश्न किया है, कि क्या कारण है कि, वाक्यवादी मीमांसक पदों की सत्यता के लिये जोर देते हैं तथा पद-वादी वैयाकरण वाक्य की सत्यता मानते है।[2] आपने अपने लेख को इस मूलभूत प्रश्न के उत्तर के रूप में प्रारम्भ किया है कि 'गौः' पद में वैयाकरण वाचक को तथा मीमांसक गकार, ओकार तथा विसर्ग को शब्द मानते हैं अतः दोनों में किसका उत्तर ठीक है और क्यों? निष्कर्ष रूप में आपने कहा है—'**यह नाम रूपात्मक बाह्य जगत् सूक्ष्म, सनातन, अखण्ड मूलतत्त्व की अभिव्यक्ति मात्र है, उसे वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं तथा वैयाकरण शब्द (स्फोट)। इन दोनों के ऐक्य से शब्द ब्रह्म नाम से भी पुकारा जाता है। यह स्फोट सिद्धान्त का आध्यात्मिक पक्ष है।**[3]

(घ) दि फिलास्फी आफ वर्ड एण्ड मीनिंग के लेखक श्री गौरीनाथ शास्त्री ने ग्रन्थ के पंचम अध्याय (पृष्ठ ८२–१०१) में वर्ण, पद तथा वाक्य-पर विचार किया है। आपके ग्रंथ का विशिष्ट आधार वाक्यपदीय ही है। भर्तृहरि के सिद्धान्त के सन्दर्भ में आपने शब्दार्थ-दर्शन पर विचार किया है। आपने स्फोट की परिभाषा इस प्रकार की है—वैयाकरणों की भाषा में **अखंड इकाई के रूप में स्वीकृत वाक्य ही स्फोट है।**[4] इसके आभ्यन्तर व बाह्य दो भेद हैं। बाह्य के आठ भेद हैं। यह ग्रन्थ वाक्यपदीय तथा पुण्य-राज एवं हेलाराज की टीका पर पूर्णतया आधारित है। इसमें समर्थित सभी विचारों का उल्लेख किया जा चुका है।

---

१. भर्तृहरि 'दि डाक्ट्रिन आफ स्फोट' पृ० १८०
२. डाक्ट्रिन आफ स्फोट, पृ० १२३
३. ,, ,, पृ० १४७
४. दि फिलासफी आफ वर्ड एण्ड मीनिंग, पृ० ८४

(ङ) इसी प्रकार डा० कपिलदेव द्विवेदी ने अपने अर्थ-वि..ान तथा व्याकरण दर्शन' नामक शोध-ग्रन्थ में संक्षेप में स्फोट विचार किया है जो अनुवाद मात्र कहा जायगा।

(च) स्फोट के षोडश भेदों की कल्पना

श्री रामाज्ञा पाण्डेय ने वैयाकरण कल्पित अष्टविध स्फोटों को परिवर्धित कर षोडशविध किया है। उनकी कल्पना का प्रारूप यह है—स्फोट के दो भेद—व्यक्ति, जाति नामक है। व्यक्ति स्फोट के सखण्ड, अखण्ड दो भेद तथा प्रत्येक के प्रकृति, प्रत्यय, वर्ण, पद तथा वाक्य भेद से पाँच भेद, इस प्रकार १ भेद व्यक्ति स्फोट के हुये। जाति स्फोट अखण्ड होता है, अतः उसके पाँच ही भेद हुये। परन्तु ऋ, ऌ में भाष्यकार ने रत्व, लत्व जाति मानकर र् के स्थान में ल् विधान किया है। अतः वर्ण के भी सखंड अखंड दो भेद होते हैं। इस प्रकार एक भेद और होने से छः भेद हुये।[1] इन्हें इस प्रकार रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—
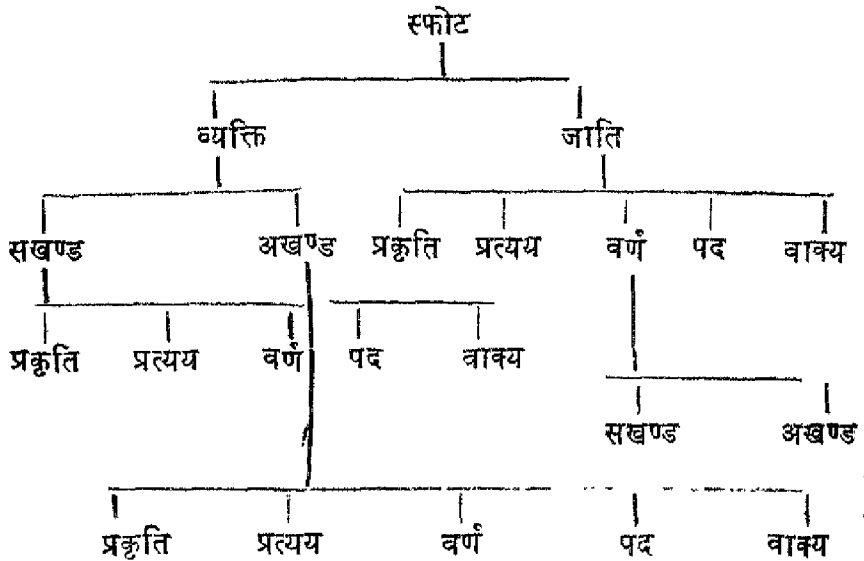
आपने वर्णातिरिक्त-प्रकृति-प्रत्यय दो विभाग अलग किये हैं, वर्ण व्यक्ति के भी सखंड, अखंड भाग माने हैं, तथा वर्ण जाति के भी 'ऐ औच्' सूत्र के भाष्य को प्रमाण देकर दो विभाग किये हैं। इस प्रकार आपके द्वारा स्फोट

---

१ व्याकरण दर्शन-भूमिका पृ० ४७-५०

के ३ × २ + २ = ८ + प्राचीन पद्धति के अनुसार ८ भेद = १६ भेद किये गये है। इसकी समीक्षा में यह कथन है कि यदि ध्यान दिया जाय तो पूर्व-वैयाकरण-सम्प्रदाय कृत आठ विभागों में ही इनका अन्तर्भाव हो जायगा। वर्ण-स्फोट के अन्तर्गत प्रकृति-प्रत्यय तथा एकाक्षर वर्ण दोनों ही आ जाते जैसा कि स्वयं नागेश ने व्यक्ति स्फोट के मतान्तर से ५ भेद माने हैं, उनमें एक वर्ण स्फोट नामक भेद है, जिसके अन्तर्गत एकाक्षर वे पद हैं, जिनका कोशों में उल्लेख किया गया है। प्रथम मत में वर्ण का अर्थ प्रकृति-प्रत्यय ही माना गया है।[1] वर्ण-व्यक्ति या वर्ण-जाति के खंड नहीं माने गये। इसी आधार पर पद में वर्ण तथा वाक्य में पद-प्रतीत होते हुए भी वे नहीं माने जाते, जैसा कि कहा गया है—

'पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा इव। (नच),[2]

वर्ण जाति के तो खण्ड माने ही नहीं जा सकते, अन्यथा **'जातिः संघा-तवर्तिनी'** यह मान्यता संगत नहीं होगी। 'ऐओच्' सूत्र के भाष्य से वर्ण रूप जाति की सखण्डता नहीं ध्वनित होती, वरन् कैयट ने वैसा तात्पर्य अपनी बुद्धि से लगाया है। वहाँ 'रश्रुतेर्लश्रुतिर्भवति' इस भाष्य का यह तात्पर्य है कि जहाँ र् का अवभास (श्रवण) स्फोट में हो रहा है वहाँ ल् का अवभास (श्रवण) हो। स्पष्ट ही ऋ में र् तथा ऌ में ल् का श्रावण प्रत्यक्ष होता है।[3] अतः श्रीयुत पाण्डेय जी का परिवर्धन अधिक स्थूल भले कहा जाय, विशिष्ट नहीं है।

(छ) डा० एस० डी० जोशी ने कौण्डभट्ट कृत वैयाकरण भूषण सार के स्फोट निर्णय अध्याय का अंग्रेजी में भाषान्तर सहित उसका व्याख्या लिखी है, जो आकार में मूलग्रन्थ की चौगुनी है। इस व्याख्या में आपने नवीन शैली अपनाई है, जैसे आपने वाक्यपदीय का अवगाहन कर निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किये हैं[4]—

(१) भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथमकांड में ही ६ बार स्फोट प[द]
का प्रयोग किया है।

---

१. स्फो० वा० पृ० १
२. वै० भू० सा० कारिका ६८
३. मंजूषा, पृ० १६५
४. स्फोट निर्णय (एस० डी० जोशी), पृ० २६-४६

(२) भर्तृहरि ने स्पष्ट रूप से स्फोट, ध्वनि के सम्बन्ध में अपना निश्चित मत नहीं दिया।

(३) वैयाकरण पद, वाक्य में एकत्व प्रतीति से उन्हें एक इकाई ही मानते हैं। **वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।)**

(४) शब्द की एकत्व प्रतीति विशुद्ध धारणा रूप ही है। (**बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते।** पश्चाद्‌वर्ती व्याकरणों ने उनकी इस मान्यता को स्फोट के साथ मिला दिया है। (भर्तृहरिसम्मत शब्द का स्फोट के रूप में व्याख्यान किया है।)

उपर्युक्त विचारों में तृतीय तथा चतुर्थ विचार के बारे में मतभेद हो सकता है, क्योंकि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड में पदवाद का खण्डन कर अखण्ड वाक्यवाद का समर्थन किया है। उनका पदों से वाक्य का ऐक्य कथन केवल इस रूप में है कि जैसे वर्णों में प्रतीत होने हुए भी अवयव नहीं माने जाते तथा पदों में वर्ण नहीं माने जाते। इसी प्रकार वाक्य से पदों की पृथक् सत्ता नहीं है। 'वाक्य से पदों का भेद नहीं है' इसका अर्थ है कि वाक्य के अतिरिक्त पद प्रतीत होते हुए भी मिथ्या हैं। वाक्यपदीय के अध्ययन से पता चलता है कि शब्द-ब्रह्म, शब्द तथा स्फोट एक ही नित्य तत्त्व के तीन नाम हैं। इसी कारण वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड का नाम ही ब्रह्म काण्ड है। यह बात कही जा सकती है कि भर्तृहरि ने शब्द को मुख्यतः ब्रह्म प्रतिपादित किया है, स्फोट नाम तो वाक्यपदीय की उनचासवीं कारिका में आया है तथा पूर्वापर प्रसंग से उसका शब्द का पर्याय होना सिद्ध होता है। बाद के वैयाकरणों (मण्डन, भरत, कौण्ड भट्ट, नागेश) ने स्फोट नाम को प्रधानता दी। यद्यपि वैयाकरण स्फोटवादी के नाम से कुमारिल भट्ट, जयन्त भट्ट तथा आलंकारिक भामह के समय में प्रसिद्ध हो चुके थे, क्योंकि इन सब ने वैयाकरणों को स्फोट वादी कहकर उनके सिद्धान्त का खण्डन किया है।

(ज) प्रतिभादर्शन (भाषातत्त्वशास्त्र) में उल्लिलिख स्फोट विषयक विचार

श्री हरिशंकर जोशी द्वारा लिखित इस ग्रन्थ में 'प्रतिभा दर्शन की आत्मा स्फोट और अर्थ वाद' शीर्षक एक सौ आठ पृष्ठों (पृष्ठ ३०१-४०८) का एक निबन्ध है। इसमें आपने स्फोट विषयक स्वतन्त्र विचार व्यक्त

किए हैं। स्फोट की स्थापना में आपका कथन है—'भारतीय भाषा तत्त्व शास्त्रियों के उन्मेष की पराकाष्ठा का अमर स्मारक सिद्धान्त स्फोट वाद है।[1]'

आपने महर्षि औदुम्बरायण को स्फोट का प्रवर्तक आचार्य मानकर निरुक्तकार यास्क, महाभाष्यकार पतंजलि तथा अन्य वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित प्रभृति विद्वानों की बुद्धि की निन्दा इन शब्दों में की है—

(१) पूर्व मध्य कालीन वैयाकरणों और निरुक्तकारों की चलती गाड़ी ने इस स्फोटवाद को आद्योपान्त कुचलने का यथाशक्ति प्रयास किया ......वे स्फोट को ठीक रीति से समझ भी न सके।[२]

(२) वास्तव में निरुक्तकारों और वैयाकरणों का एक साम्प्रदायिक हठ है, उनको नित्यप्रति की निरुक्ति और व्युत्पत्ति में सदा पद व वर्ण का पल्ला पकड़े रहना पड़ता है,......स्फोट जैसा गम्भीर विषय इनके समझ में नहीं आया प्रतीत होता है।[३]

(३) पाणिनि, पतंजलि प्रभृति सब यास्क के पद व वर्ण स्फोट को मानने वाले हैं, वाक्य स्फोट से इन्हें छूत है।[४]

(४) ... सब से अहितकर कार्य नागेशभट्ट और भट्टोजिदीक्षित क्रम से स्फोटवाद और शब्द कौस्तुभ नामक अपने ग्रन्थों में स्फोट के कम भी नहीं आठ भेद गिना कर, कर बैठे हैं। .... फलतः नागेश और भट्टोजिदीक्षित के आठ प्रकार के भेदों को काटकर फेंक देना चाहिए।[५]

आपने इसी प्रकार कई स्थलों पर वैयाकरणों के ऊपर अपने वाग्बाणों से घोर प्रहार किया है। साथ ही आपने स्फोटवाद को सांख्य-योग दर्शन की देन माना है।[६] श्री जोशी जी के सम्मान्य दार्शनिक औदुम्बरायण के बाद केवल भर्तृहरि हैं, जिनकी इन्होंने इन शब्दों में

१. प्रतिभा दर्शन, पृ० ३०१
२. प्रतिभादर्शन, पृ० ३०१
३. ,, पृ० ३०७
४. ,, पृ० ३२०
५. ,, पृ० ३३१; ३३२
६. ,, पृ० ४०७

प्रशंसा की है—'धन्य (वाद) हो भर्तृहरि जी को कि उन्होंने स्फोट के विषय में कई अन्य अनुपलब्ध विषयों और कोटियों पर सर्वांगीण सम्पूर्ण प्रकाश डालकर केवल वाक्य स्फोट मत का ही उद्धार नहीं कर दिया है, वरन् 'स्फोट' सामान्य का वैज्ञानिक भव्य महल भी खड़ा कर दिया है।[1]

श्री जोशी जी के विचार में वाक्य स्फोट मुख्य है तथा स्फोट सिद्धांत व्याकरण द्वारा सुज्ञेय नहीं है, बल्कि इस सिद्धान्त की आधारशिला सांख्य-योग दर्शन की श्रावण प्रत्यक्ष विषयक गम्भीर गवेषणा है।[2] आपके विचार में स्फोट की परिभाषा यह है—'प्रत्येक वाक्य या शब्द की अन्तिम ध्वनि उसकी सम्पूर्ण ध्वनियों के चित्र को एकाएक उपस्थित करती है। उसी उपस्थित होने वाले ध्वनि-चित्र को स्फोट कहते हैं। ध्वनि-चित्र माने ध्वनि-प्रकाश है, अतः स्फोट भी प्रकाश है ···· चित्र एक प्रकार प्रकाश ही है, अतः चित्रता प्रकाशता या स्फुटता है या विचित्रता युक्त स्फुटता है या विशिष्ट चित्रता युक्त स्फुटता है।[3] आपने स्फोट का प्रारम्भ स्फोटण से मान कर क्रमशः उसका क्षेत्र पद, शब्द और वाक्य कहा है।[4]

जोशी जी की भाषा की गति स्वच्छन्द है। आपने स्फोट निरूपण में लगभग ५० पृष्ठों में प्राचीन आचार्यों के विचारों का खंडन-मंडन कर अपने विचार रखे, शेष पृष्ठ तो वाक्प्रपंच मात्र कहे जा सकते हैं। स्फोट की चित्ररूपता तो पाणिनीय-वैयाकरण-सम्प्रदाय को मान्य है, इसका उल्लेख किया जा चुका है। आपने स्फोट को सांख्य-योग-दर्शन की देन बताया है, परन्तु सांख्य दर्शन में तो स्पष्ट शब्दों में (**प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः**) स्फोट का निषेध कर शब्द की अनित्यता मानी गई है। हाँ (पातंजल) योग दर्शन में स्फोटात्मक शब्द में आस्था प्रकट की गई है। अतः सांख्य-योग-दर्शन की देन की उक्ति जोशी जी की स्वकल्पित ही है।

जोशी जी ने वैयाकरणों पर क्यों इतने तीक्ष्ण वाक्प्रहार किए, जब कि वैयाकरण-सम्प्रदाय में शास्त्र प्रक्रिया, प्रकृति-प्रत्ययादि कल्पना को केवल बालोपयोगिनी कहा गया है। जोशी जी स्फोट को ध्वनि-जनित

---

१. प्रतिभा दर्शन, पृ० ३३४-३३५
२. ,, पृ० ३०१
३. ,, पृ० ३२१-३२२
४. ,, पृ० ३१५

चित्र मात्र मानकर कैसे उसकी नित्यता, आत्मस्वरूपता सिद्ध करेंगे। एक ओर वे स्फोट को फोटो या भाः मानते हैं।[1] दूसरी ओर उसे आत्मस्वरूप, काल रहित, अखंड मूर्तिमान सा कहते हैं। इसके आगे आप स्फोट की अभिव्यक्ति वैकृत ध्वनि से मानकर उसे (स्फोट को) प्राकृत ध्वनि या अव्यक्त ध्वनि का रूप मानते हैं तथा आगे उसे ही प्राकृत ध्वनि-वृत्ति-हीन अखड ध्वनि कह बैठते हैं।[2]

प्रतिभा दर्शन की भाषा में भी प्रचलित नियम नहीं अपनाये गये है। मुद्रणकृत दोष तो अपरिहार्य है, परन्तु बार-बार **स्फोटण** कहना उचित नहीं जँचता, जबकि प्रातिशाख्य में **स्फोटन** लिखा है। आपके विचारों के सम्बन्ध में मेरा यही निवेदन है कि वैयाकरणों के सिद्धान्त की इस प्रकार हँसी करना तथा आचार्यों के प्रति कटूक्तियाँ कहना हल्कापन ही समझा जायगा। स्फोट समर्थन के प्रकरणों में वैयाकरण-सम्प्रदाय के अन्तरैक्य, वाक्य स्फोट के मुख्यत्व तथा अष्टविध स्फोट की मान्यता के विषय में पर्याप्त कहा जा चुका है।

(ञ) **'व्याकरण-दर्शन शब्द-सामान्य-दर्शनम्'**[3] नामक लेख में श्री रघुनाथ शर्मा ने स्फोट के सभी तत्त्वों पर अपने संक्षिप्त किन्तु प्रौढ़ विचार प्रकट किये हैं। आपने इस लेख में व्याकरण की सर्ववेदपारिषदत्व-सिद्धि शब्द, अर्थ तथा दोनों के सम्बन्ध के अनेक पक्षों का विवेचन करते हुये अन्त में यह निर्धारित किया है कि विश्व की उत्पादिका शक्ति सूक्ष्म (परारूप) वाक्तत्त्व में आश्रित है। श्रौत दार्शनिक भाव के साथ शब्द के व्यावहारिक पक्ष की संगति करता हुआ यह लेख अत्यन्त उपादेय है।

स्फोट सिद्धान्त पर एक अन्य लेख अध्ययनार्थ प्राप्त हुआ है। इसका शीर्षक **'डाट्रिन आफ स्फोट'** है।[4] इसके लेखक श्री बी० ए० रामस्वामी शास्त्री हैं। अभी तक उपलब्ध स्फोट विषयक आधुनिक लेखों में यह प्रथम कहा जा सकता है। इसमें ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों से लेकर भर्तृहरि तक

१. प्रतिभा दर्शन पृ० ३२१-३२२
२. ,, पृ० ३५१-३५२
३. सरस्वती सुषमा (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) सं० २००६ तृतीय अंक।
४. अन्नामलाई वि० वि० शोध पत्रिका (वाल्यूम १ नं० २, अक्टूबर १६३२)

स्फोट विषयक विचारों को एक नियमित श्रृंखला के रूप में संजोकर व्यक्त किया गया है। आपने भर्तृहरि को शब्दब्रह्माद्वैतवादी तथा शब्द को अन्तिम-सत्य (ultimate reality) कहा है। अपने लेख के समर्थन में आपने अन्त में श्रुति-उपनिषत्, महाभाष्य, वाक्यपदीय तथा अन्य ग्रन्थों के मन्त्रों, वाक्यों तथा श्लोकों को इस रूप में उद्धृत किया है कि लेख का आधा भाग उनका तथा आधा इन्हीं उद्धरणों से भरा हुआ है। स्फोट विषयक शास्त्रीय सामग्री से सुसज्जित यह लेख महत्त्वपूर्ण है।

पंडितराज श्री काली प्रसाद मिश्र का विद्वद्गोष्ठी में पठित व्याकरण-दर्शन-विषयक लेख, श्री सभापति शर्मोपाध्याय का स्फोट-समीक्षा नामक लेख सागर विश्वविद्यालय की शोध पत्रिका 'सागरिका' का **'शाब्ददृष्ट्या सृष्टितत्त्व-विमर्शः'**[1] नामक लेख डा० रामप्रसाद त्रिपाठी का **'व्याकरण-दर्शने सृष्टि-प्रक्रिया विमर्शः'**[2] नामक लेख तथा श्री कालिका प्रसाद शुक्ल का **'व्याकरण-स्वरूपम्'**[3] लेख, सभी में स्फोट तत्त्व पर संक्षिप्त रूप में विचार किया गया है। इन लेखों की विषय-सामग्री वैयाकरण सिद्धान्त ग्रन्थों की ही है। हाँ शैली तथा विषय-व्यवस्था में वैशिष्ट्य दिखाई पड़ता है।

(आ) अन्य भारतीय तथा पाश्चात्त्य विद्वानों के स्फोट विषयक विचार

भाषा विज्ञान की आधुनिक पुस्तकों को पढ़ते समय स्फोट के सम्बन्ध में ऐसे वाक्य मिले, जिनसे पता चलता है कि इन विद्वानों ने भी स्फोट तथा उसकी विशेषताओं पर विचार किया है। इसमें से कुछ ऐसे विचार जो सब में सामान्य रूप से हैं या किसी एक लेखक के ग्रंथ में ही हैं, उन्हें उद्धृत करना उचित प्रतीत होता है। डा० ए० बी० कीथ ने लिखा है—वे (वैयाकरण) एक रहस्यमय तत्त्व स्फोट को स्वीकार करते हैं, जो शब्द के नित्य स्वरूप की एक प्रकार की स्थापना है और कार्य शब्द जिसकी अभिव्यक्तियाँ हैं।[4]

---

१. सागरिका १, २ (२०१९ विक्रमी)
२. सरस्वती सुषमा (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वारणसी) सं० २००५ तृतीय अंक।
३. सरस्वती सुषमा, सं० २०२४ प्रथम अंक।
४. संस्कृत साहित्य का इतिहास (भाषान्तरकार डा० मंगलदेव शास्त्री), पृ० ४५८ ५९

इसी प्रकार एस० के० डे महोदय ने **स्फोटवाद को रहस्यमय विचार माना है।**[1] म० म० कृष्ण वासुदेव अभ्यंकर का कथन है—'स्फोट **एक मूल-भूत शब्द है, जो ध्वनि से भिन्न है। तथा वक्ता के अभिप्राय को श्रोता तक पहुँचाता है।**'[2]

श्री तारापुर वाला महाशय लिखते हैं—'विचार और भाषा एक ही मूलतत्त्व के दो व्यावहारिक पक्ष हैं। जैसे भाषा ज्ञान का अन्तिम रूप है, तथैव ज्ञान की भाषा भी मूलसृष्टि ही है।'[3] (इस कथन में वैयाकरण सम्मत बौद्ध शब्द, अर्थ की मान्यता प्रतीत होती है।) आगे आपने कहा है—'यह स्पष्ट है कि केवल उच्चारित वर्ण भाषा नहीं है।'[4] (यह कथन वर्णातिरिक्त शब्द की मान्यता का समर्थक है।)

श्री पी० डी० गुणे का कथन है—'**वस्तुतः बोले जाने वाले शब्द हमारे विचारों के परिधान मात्र है।**[5] (इससे भी ध्वनि स्फोट रूप शब्द की व्यंजक ही सिद्ध होती है।)

इसी प्रकार भाषा विज्ञानी ए० एच० गार्डिनर वाक्यवाद के समर्थक के रूप में स्फोटवादी के निकटतम होने से, स्फोट सिद्धान्त के प्रतिपादक सिद्ध होते हैं। उनके एतद्विषयक कथन ये हैं—

'**वाक्य उस शब्द या शब्द समूह को कहते हैं, जिससे किसी अभिधेय को पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है।**'[6] वाक्य वह उक्ति है जो (श्रोता को) तब तक बोध कराता रहता है, जब तक वक्ता विश्रान्ति के पूर्व चाहता है।[7]

---

१. आलंकारिक शास्त्र के इतिहास का अध्ययन, भाग २, पृ० १२०
२. ए डिक्शनरी आफ संस्कृत ग्रामर
३. एलीमेण्ट्स आफ दि साइन्स आफ लेंग्वेज, पृ० ५
४. ,, ,, ,, पृ० ६
५. तुलनात्मक भाषा विज्ञान, पृ० ६
६. A sentence is a word or set of words revealing on intelligible purposc. (Speech and language. P. 88)
७. A sentence is an utterance which makes just as long a communication as the speaker has intended to make before giving himself a rest. (p. 208)

गार्डिनर ने शब्द के दो रूप (अन्तः, बाह्य) स्वीकार किये हैं। प्रथम को मूल शब्द तथा दूसरे को उसका पद रूप आकार माना है। शब्द के ये दोनों रूप भिन्न होते हुये भी अभिन्न रहते हैं।[1] शब्द के बाह्य, प्रकार के ही संज्ञा, क्रिया आदि भेद होते हैं।[2] इसी प्रकार अन्य पाश्चात्त्य भाषा-विज्ञानी विद्वानों तथा भारतीय आचार्यों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करने से वैयाकरण-सम्प्रदाय-सम्मत स्फोटतत्त्व की प्रमुख विशेषताओ मे ऐक्य मिलेगा। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जायगा कि विश्व के भाषा शास्त्री इस सम्प्रदाय का अनुसरण करते हैं। यही कारण है कि एक ही अर्थ विश्व के अनेक ध्वनि रूप शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त होता हुआ भी मूलतः एक है तथा एक ही शब्द अनेक अर्थों को व्यक्त करता हुआ भी अपनी अखण्डता के लिये है। (गौः पदार्थ विश्व की सहस्राधिक भाषाओं के माध्यम से कहा जाता हुआ एक है तथा गौः शब्द वाणी, भूमि, गाय प्रभृति अनेक अर्थों में वर्तमान होते हुये भी एक ही है।)

विश्व की बोलियों की समानार्थ बोधकता में स्फोट सिद्धान्त का प्रभाव

वर्ण समुदाय को वाचक स्वीकार करने में अनन्त वर्ण-समुदायों को वाचक मानने का गौरव कई स्थलों पर प्रकट किया जा चुका है। इसमें एक बड़ी आपत्ति यह है कि जब स्थानीय बोलियों में केवल एक दो वर्णों की अधिकता से अर्थ भेद होने लगेगा, तब अनावश्यक वर्ण समुदाय के विस्तार को भी वाचक मानना पड़ेगा। जैसे एक ही गमन अर्थ को जाई थे, जाई ला, जाइली, जाइत बाटे, जाई णा इत्यादि अनेकानेक वर्ण समुदाय से व्यक्त किया जाता है। छोटा सा बालक जो अपने माता-पिता के स्थानान्तरण के कारण उत्तर प्रदेश के पूर्वी, पश्चिमी सभी जनपदों में रह चुका है, इन सभी के अर्थ को एक ही समझता है। इसी प्रकार हिन्दी का सम्बन्धवाची 'का' मराठी में 'च्या' बन जाता है तथा 'खिड़कीच्या बाहेर'

1. But true enough it is. that differences of inner word from as I shall call the semantic aspect, are often accompanied by outer word form, and that the term word—form owes it's origin to the later, (P. 131)

2. I ma'nta'n that the so called 'Parts of speech are d'st'nc t ons of word form P 134

का अर्थ खिड़की के बाहर होता है। 'का' अर्थ को जानने वाला 'च्या' का भी अर्थ समझ लेता है। यहाँ विशेष बात यह है कि विद्वान् भले ऐसा अर्थ-विश्लेषण करे, जिज्ञासु बालक समूचा ही अर्थ समझता है। आज अनेक प्राकृत, उनके अपभ्रंश तथा उनके भी परिवर्तित रूप दिखाई पड़ते हैं और संस्कृत के समृद्धि-काल में भी अपभ्रंशों की संख्या संस्कृत शब्दों की संख्या की कई गुना थी। महाभाष्यकार ने एक गौः के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अपभ्रंश गिनाये हैं।[1] परन्तु सब में वाचकता एक रूप ही है। विद्वानों ने प्रयत्न कर ऐसे शब्दों की खोज की है, जिनके देश, प्रयोक्ता के भेद से अत्यन्त साधारण भेद हो गये हैं, जैसे त्रि, थ्री मातृ, मदर मथुरा, मट्रा मेरठ, मीरट (अंग्रेज यही उच्चारण करते थे) यह भी देखिये एम० पी० के अर्थ मेम्बर आवॅ पार्लियामेण्ट, महादेव प्रसाद तथा डी० एम० का अर्थ 'डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट', 'देवमूर्ति होता है। यह अनेक, विचित्र अर्थाभिव्यक्ति की कुशलता वाचक शब्द में ही है ध्वनि में नहीं।

उपसंहार

इस प्रकार जैसे ऋक्, यजुः तथा साम नाम से त्रिविध होने पर भी वेद एक ही है तथैव देश भेद से अनेक नाम वाली (गुजराती, महाराष्ट्री, मागधी आदि) वाणी एकार्थाभिधानरूप निबन्धन के कारण एक ही है। शकल-सकल, श्वजन-स्वजन, मरण-रमण में भेद हैं, क्योंकि एक ही संस्कृत भाषा में ये भेद समुदाय के विज्ञजनों द्वारा मान्य हो चुके थे, वही मान्यता अब भी चली आ रही है, परन्तु 'पाद, पाँव, पैर, पइयाँ' में भेद नहीं है, क्योंकि समुदाय के ही कुछ वक्ताओं ने उच्चारण-प्रक्रिया में थोड़ा-थोड़ा भेद लाते हुये एक ही शब्द के ये अपभ्रंश कर डाले हैं, उनकी वाचकता में कोई अन्तर नहीं आया। अतः शब्दगत एकत्व सत्य है, ध्वनि रूप अभिव्यक्ति-निमित्तक नानात्व काल्पनिक होने से परिवर्तनशील एवम् असत्य है।

ज्ञान रूप में स्थित शब्द स्वरूप के अभिन्न तत्त्व को जानकर वर्णानुपूर्वीक्रमविशिष्ट साधु शब्द प्रयोग के ज्ञानपूर्वक वर्णानुपूर्वी रूप क्रम का परिहार कर निःश्रेयस की प्राप्ति ही व्याकरणाध्ययन का प्रयोजन है। यह प्रयोजन स्फोट-रूप शब्दतत्त्व के ज्ञान से सिद्ध होता है। शब्द के इसी स्वरूप का ज्ञान करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, वही विश्व के समस्त प्राणियों

---

१. म० भा० पस्प० पृ० ५५